

शोध, समीक्षण, सृजन एवं संचार का

ISSN 2350-1065 MUKTANCHAL

वर्ष : 3, अंक : 7, जनवरी - मार्च 2016

मुक्ताचल

मूल्य : 50 रुपये



विद्यार्थी मंच

उम्र पार से...

महादेवी वर्मा
(26 मार्च 1907 - 11 सितम्बर 1987)



आँसुओं के देश में।
जो कहा रुक-रुक पवन ने,
जो सुना झुक-झुक गगन ने,
साँझ जो लिखती अधूरा
प्राण रंग पाता न पूरा,
आँक डाला वह दृगों ने एक सजल निमेष में।

अतल सागर में जली जो,
मुक्त झंझा पर चली जो,
जो गरजती मेघ-स्वर में,
जो कसकती तड़ित-उर में,
प्यास वह पानी हुई इस पुलक के उन्मेष में।

दिश नहीं प्राचीर जिसको,
पथ नहीं जंजीर जिसको,
द्वार हर क्षण को बनाता,
सिहर आता बिखर जाता,
स्वप्न वह हठकर बसा इस साँस के परदेश में।

मरण का उत्सव अजर है,
गीत जीवन का अमर है,
मुखर कण का संग मेला,
पर चला पंथी अकेला,
मिल गया गंतव्य, पग को कंटकों के वेध में।
(दीपशिखा, 1940)

शोध, समीक्षण, सृजन एवं संचार का

मुक्तांचल

त्रैमासिक

वर्ष-3, अंक- 7, जनवरी-मार्च 2016

संपादक : डॉ. मीरा सिन्हा
सह-संपादक : डॉ. अर्चना पाण्डेय
प्रकाशक : आनंद कुमार सिन्हा
प्रबंध संपादक : आनंद प्रसाद नोनिया
कला संपादक : शुभागता श्रीवास्तव
आकल्पक : सोनू प्रजापति

व्यवस्थापन :

सुलेखा कुमारी, सोनम सिंह, नगीना लाल दास,
प्रियंका सिंह, मृत्युंजय पाण्डेय, जीवन सिंह

विशेष सहयोग :

डॉ. इतु सिंह, डॉ. सुनीता साव, डॉ. दीपान्विता माजि,
(कोलकाता) डॉ. मनीषा झा (दार्जिलिंग), डॉ. पुनीत कुमार
राय (छत्तीसगढ़), लक्ष्मण प्रसाद गुप्ता (वाराणसी), डॉ.
रविकांत (लखनऊ), मनोज कुमार साव (उत्तराखंड),
राजीव रंजन (दिल्ली), राजीव रंजन (अरुणाचल)

मुक्तांचल A/c- 50200014076551
HDFC BANK, BURRABAZAR,
KOLKATA- 700007
IFSC CODE- HDFC0000219

पत्रिका में व्यक्त विचारों से संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं
'मुक्तांचल' से संबंधित सारे विवादों के लिए न्याय-क्षेत्र
कलकत्ता उच्च न्यायालय होगा।

संपादकीय कार्यालय :

आधुनिक अपार्टमेंट, 6/2/1 आशुतोष मुखर्जी लेन
सलकिया, हावड़ा-711 106, पश्चिम बंगाल
संपर्क - 0332675 7195/1686
ई-मेल - muktanchalquarterly2014@gmail.com

संपर्क :

संपादक : 098314 97320,
Email : sinhameera48@gmail.com
सह- संपादक : 098308 39032
Email : pandeyarchanaphd@gmail.com
प्रबंध संपादक : 09748322234
Email : anand87prasad@gmail.com

मुद्रक : शिक्षण, 50, सीताराम घोष स्ट्रीट,
कोलकाता-700 009

वर्षी-लेखन पर विशेष

मूल्य

एक अंक- ₹ 50/-

सदस्यता शुल्क

वार्षिक- ₹ 200/-, आजीवन- ₹ 2000/-

संस्थाओं के लिए

वार्षिक- ₹ 250/-, आजीवन- ₹ 2500/-

डाकखर्च (प्रत्येक अंक के लिए) अतिरिक्त ₹ 30 देय होगा।

'केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा से सहयोग प्राप्त'

अवस्थिति

शोध	संस्तुति	
	आलेख	
समीक्षण	07-एस. एम. यहिया इब्राहिम :	इस्मत चुगताई : उर्दू फिक्शन का बागी तेवर
	12 पूनम सिंह :	स्वातंत्र्योत्तर हिंदी साहित्य में कामकाजी स्त्री का संघर्ष
	18 सुनीता गुप्ता :	हिंदी सिनेमा में नयी स्त्री
	26 डॉ. इतु सिंह :	कल्पना और भाषा के नए मुहावरे गढ़ती समकालीन स्त्री कवि
	30 डॉ. दीपान्विता माजि :	आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के उपन्यास : स्त्रीवादी पाठ
	अनुशीलन	
	34 डॉ. अमीर चंद वैश्य :	हिंदी में आधी दुनिया का सच
	39 डॉ. वेद प्रकाश अमिताभ :	सुधा अरोड़ा की कहानियाँ: अपने हिस्से का आसमान माँगती स्त्रियाँ
	42 मीनाक्षी :	स्त्री साहित्य की अवधारणा
	45 डॉ. सारदा बैनर्जी :	स्त्री-मुक्ति के सवाल और यशपाल
सृजन	विमर्श	
	50-प्रो. जगदीश्वर चतुर्वेदी :	नामवर सिंह और रसशास्त्र का विखंडन
	62 विमल वर्मा :	संस्कारों का संश्लेष: गीतांजलि श्री की कहानी 'बेलपत्र'
	67 पूनम सिन्हा :	उत्तर आधुनिक समय में स्त्री
	71 डॉ. आरती :	स्त्रीवाद निःसंदेह एक राजनीतिक मुद्दा है
	अन्तःपाठ	
संचार	75 डॉ. मीना कुमारी :	सफलता और सार्थकता के द्वंद्व में समरसीभूत अभिनव बाणभट्ट की 'सुचरिता'
	80 अरूण अभिषेक :	तत्-त्वम्-असि- "तत्त्वमसि"
	गवेषणा	
	84 प्रो. शशि मुदीराज :	साहित्येतिहास-लेखन में स्त्री की भूमिका
	कविता	
र	92 सविता मिश्र :	पंपा, मूँगफली वाले, कामकाजी औरतें, बूढ़े-2,
	94 मनीषा झा :	जाल, चाहना, दरअसल

शोध	96 मंजुला उपाध्याय मंजुल :	नसरीन, मासूम किलकारियाँ, नसरीन: सिर्फ एक सच, मेरी लाढ़ो
	98 सोनम सिंह :	सीता, स्त्री-1, स्त्री-2
	सरगम के सुर साधे	
स्मीक्षण	100 डॉ. शांति सुमन :	धूप रंगे दिन
	कहानी	
	104 कमल कुमार :	मदर मेरी
	108 रंजना श्रीवास्तव :	बॉम्बे कैफे हाउस
	114 डॉ. शुभ्रा उपाध्याय :	संशय
सृजन	भाषान्तर	
	118 आर. शांता सुंदरी :	समागम (तेलुगु कहानी) मूल कथाकार: ओल्गा
	पुस्तकायन	
	124 शिवशरण दुबे :	पीड़ा जनित दलित चेतना का मुखरित दस्तावेज: 'अल्लाखोह मची'
	127 गीता दूबे :	आजाद भारत का प्रामाणिक और जीवंत दस्तावेज: एक जिंदगी काफी नहीं
संचार	गतिविधियाँ	
	130 साहित्यिक गतिविधियाँ	
	132 अभिमत	
	मुक्तांचल प्राप्ति स्थान	

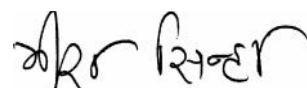


संस्तुति

मनमानापन बाज़ार युग का सबसे बड़ा मलंग है। मन का मतंग ऐसा हावी होता है कि सारे अंकुश निरस्त हो जाते हैं। समास के पदों का विलोपन हो जाता है। 'राजनीति' से 'नीति' बिछल कर विलग हो जाती है। राज अपनी धुरी पर कायम रहने का हर संभव प्रयास करता है। नीति की हर पल हत्या होती रहती है। राजनीति के समास का एक पद जिसे 'नीति' कहते हैं, विलुप्त रहता है। नीति के बगैर राज अन्धता की तरफ बढ़ता हुआ वर्चस्ववाद और मनमानेपन का शिकार हो जाता है और तब स्थितियाँ जनतंत्र के विरोध में खड़ी हो जाती हैं। सोचने और बोलने की आजादी पर सौ-सौ पहरे लग जाते हैं। कोई भी 'मत' या 'वाद' मतान्तर या विवाद की अपेक्षा नहीं रखता। राज पर काबिज व्यवस्था बलपूर्वक उसे मनवाती है। सत्ता हासिल करने के पश्चात् कोई भी व्यवस्था 'देश' का पर्याय बन जाती है और मतान्तर रखने वालों को बड़ी आसानी से 'देश द्रोह' एवं समाज विरोध की हथकड़ी पहना देती है। इस हकीकत के बरक्स सबसे अधिक प्रभावित होता है हमारा अकादमिक जगत—जहाँ लोग सोचने-समझने, आलोचना-प्रत्यालोचना करने, देश और समाज के लिए सही नागरिक तैयार करने की प्रक्रिया को चलाने के लिए एकजुट होते हैं—सबसे अधिक प्रभावित होता है। कोई भी 'नीति' नहीं सिर्फ 'राज' चाहे जैसे भी हो जुटा लिया जाये और आरोप एवं प्रत्यारोप के गुबार में जनतंत्र को घेर दिया जाये। संचार की भाषा हमले की भाषा बन चुकी है; जो भड़काती है, तिक्त करती है और जहर फैलाने में कोई कसर नहीं छोड़ती। दूरदर्शन के विभिन्न चैनलों में उत्तेजना की चरम स्थिति उपस्थित हो जाती है। दैनिक अखबार का मुख्य पृष्ठ विज्ञापन से सजा होता है। 'हेड लाईंस' दूढ़ने के लिए पूरे अखबार को बेतरतीब करना होता है। साहित्य लेखन में पुरस्कारों एवं सम्मानों की भरमार रहती है। लेखक का लेखन कम, उसकी प्रशस्तियाँ अधिक बोलती हैं। व्यवस्था 'उत्कोच' देती है और आप पटरी से उतरकर प्लेटफार्म पर खड़े हो जाते हैं। जब तक हमारा लेखन सम्मान और प्रशस्ति बटोरने का जरिया बना रहेगा तब तक हम लेखकीय दायित्व का निर्वाह निरपेक्षता पूर्वक नहीं कर पायेंगे, हजारों वर्षों से चली आ रही संरक्षणवादी साहित्य धारा पलती, बढ़ती और पुष्ट होती रही है। 'विद्यार्थी मंच' एवं 'मुक्तांचल' संरक्षण ग्रस्त साहित्य को दोयम दर्जे का गिनते हुए सोचने, समझने, रचने और विचार-विश्लेषण करने की स्वतंत्रता का हामी है। कोई भी सत्ता, कोई भी नीति विहीन राज का संरक्षण हमेशा साहित्य को पंगु बनाता रहा है। बोलने और लिखने की आजादी, मानवता के पक्ष में खड़े होने की आजादी हमेशा जिंदा रह सके—ऐसी कोशिश; हम सब का कर्तव्य है।

'मुक्तांचल'—7 अपने तीसरे वसंत में पहुँच गया है। इस बार के अंक में 'स्त्री लेखन' एक शक्ति के अर्थ में केन्द्रित होकर आया है। स्त्री के वजूद को हमेशा संरक्षित करने का दर्प लोग उठाते रहे हैं। उसकी समस्त शक्ति मानों समर्थ के संरक्षण का ही परिणाम है। यह अघोषित संकेत सर्वत्र व्याप्त है। पुराण में भी लक्ष्मण रेखा से बाहर पैर रखने के दुष्परिणाम को सीता पर घटित होते हुए दिखाया गया है। परंतु इतिहास में समस्त संरक्षणों की अवहेलना करती हुई मीरा श्रमजीवी कवि रैदास की शिष्या बनती है—

“ननद कहे मीरा भई बावरी, सास कहे कुल नासी रे, विष का प्याला राणा ने भेजा पी गई मीरा हाँसी रे”—
राजकीय वर्चस्व की अंध-परंपरा को तोड़ने वाली स्त्री कवि मीरा आज भी स्त्रीवादी साहित्य की शक्ति हैं।



संपादक

इस्मत चुगताई : उर्दू फिक्शन का आग्री लेखक

एस. एम. यहिया इब्राहिम

अध्यक्ष, अंग्रेजी विभाग

करीम सिटी कॉलेज, जमशेदपुर

इस्मत प्रेमचंद के बाद उर्दू अफसाने की उस पीढ़ी से जुड़ी हैं जिसमें बेदी, कृष्णचंद और मंटो शामिल हैं। इस्मत का जन्म 21 अगस्त 1915 में यू.पी. के कस्बा बँदायू के एक मध्यवर्गीय परिवार में हुआ। इस्मत के पैतृक घराने का सिरा चंगेज खाँ से और माता की ओर से मशहूर सूफी संत हजरत सलीम चिश्ती और इस्लामी इतिहास के तीसरे खलीफा हजरत उस्मान गनी से मिलता है। इस्मत के मिर्जाज और लेखन में व्याप्त चंगेजीयत उनके व्यक्तित्व पर भी हमेशा छाया रही। कुर्रतुल ऐन हैदर ने इस्मत के देहांत के बाद जब उन पर एक लेख लिखा तो उन्हें लेडी चंगेज खाँ के नाम से याद किया।

दस बहन-भाइयों में नवीं इस्मत चुगताई को माता-पिता का वह ध्यान और लाड प्यार नहीं मिला जो मिलना चाहिए था। उनका पालन पोषण पूरी तरह घर के नौकरों पर निर्भर रहा। खुद उन्हीं के शब्दों में :

“मुझे स्वयं उस परिवेश से कोई शिकायत नहीं जहाँ मेरी तराश-खराश हुई। कचर पचर बच्चों की भीड़ में एक पैदल सिपाही की तरह शिक्षण-प्रशिक्षण हुआ। न लाड हुए न नखरे, न कभी गण्डे तावीज बँधे, न नज़र उतारी गई। न खुद को किसी की जिंदगी का अहम हिस्सा महसूस किया।”

“मैं जिस माहौल में पली वह अपेक्षाकृत आजाद था। लड़के लड़कियों में पाबंदियाँ लागू नहीं थीं। बड़ी बहनों की और मेरी उम्र में काफी फर्क था इसलिए मेरा प्रशिक्षण ज्यादातर भाइयों के साथ हुआ था। फिर मेरी अम्माँ कुछ ज्यादा दखल नहीं देती थी। इसलिए मुझे आजादी से सोचने की आदत पड़ गई।”

एक दूसरे लेख में वह कुछ यूँ लिखती हैं-

“बहनें चूँकि बड़ी निकल गयीं इसलिए भाइयों की लाइन में जगह मिली खेलकूद का जमाना उन्हीं के साथ गिल्ली डण्डा, फुटबॉल और हॉकी खेल कर गुजारा। पढ़ाई भी उनके साथ हुई। सच पूछिये तो असल मुजरिम मेरे भाई ही थे जिनके साथ ने मुझे उन्हीं की तरह आजादी से सोचने पर मजबूर कर दिया। वह शर्म व हया जो आम तौर पर मध्यम वर्ग की लड़कियों में जरूरी समझी जाती हैं, पनप न सकी। छोटी सी उम्र दुपट्टा ओढ़ना, झुक कर सलाम करना, शादी के ब्याह के जिक्र पर शर्मने की आदत, भाइयों ने कभी पढ़ने ही न दी। सिवाय अजीम भाई के, घर में सब ही चाक व चौबंद थे। परिवार हद दर्जा बातुनी और बामजाक, आपस में चीखते, चिल्लाते, नये नये जुमले तराशे जाते, एक दूसरे की धज्जियाँ उड़ाई जाती। बच्चे बच्चे की जुबान पर सान रख जाती।”

ऊपर के इस उदाहरण से साफ हो जाता है कि इस्मत का शिक्षण प्रशिक्षण और पालन पोषण एक अपेक्षाकृत आजाद माहौल में हुआ जिससे कि उनकी प्रकृति में बचपन से ही बेबाकी, खुदसरी और एक बागीयाना रवैया पनपता रहा जो आगे चल कर उनकी कहानियों का आधार बना।

इस्मत की चेतना और भावनाएँ बचपन से ही बहुत जागृत थीं और उनकी इस खूबी में उनके घर के माहौल का, उनके बड़े भाई अजीम बेग चुगताई (जो स्वयं उर्दू के अच्छे कहानीकार थे) का रोल तो था ही मगर उसके साथ उनके आस-पास के सामाजिक हालात और घटनाएँ भी जिम्मेदार थीं। सामाजिक

असमानता, अन्याय और औरतों पर हो रहे अत्याचारों ने उन पर गहरी छाप छोड़ी थी। इस्मत ने ये सारे प्रभाव आत्मसात किए। व्यक्तिगत अनुभूतियों और अनुभवों ने उनके स्वभाव में मौजूद इन तत्त्वों को एक बागीयाना और जिद्दी तेवर में बदल दिया। इन सबके साथ ही जहाँ-जहाँ से उन्होंने पढ़ाई की उन तमाम शैक्षणिक संस्थानों के शैक्षणिक परिवेश और अच्छे-बुरे माहौल ने भी उनके व्यक्तित्व निर्माण और लेखन में एक अहम भूमिका निभाई।

इस्मत का परिवार काफी शिक्षित और शिक्षा के मायने में काफी प्रगतिशील था फिर भी यह सारी रौशनख्याली मर्दों की शिक्षा तक सीमित थी। इस्मत के पिता और बड़े भाई आजाद ख्याल जरूर थे मगर औरतों और लड़कियों की शिक्षा से संबंधित सामाजिक बंदिशों को लेकर मजबूर महसूस करते थे। किसी तरह हिम्मत करके इस्मत की दो बड़ी बहनों को लखनऊ के करामात हुसैन बोर्डिंग में दाखिल कराया गया, इस्मत को भी साथ भेजा गया मगर खानदान वालों के लान मान से तंग आकर इस्मत को वापस बुला लिया गया। इस्मत अपने एक लेख में इस वाक्ये को यूँ लिखती हैं-

“यह उस जमाने की बात है जब मेरी बड़ी आपा की शादी हो गयी थी। लेकिन मंझली और संझली अभी छोटी थीं और जाने क्या हुआ कि अब्बा मियाँ ने उन दोनों का करामात हुसैन बोर्डिंग में दाखिला करा दिया। चूँकि मंझली बहिन मुझसे हिली मिली थीं, मुझे भी भेजा गया... फिर न जाने क्या हुआ कि हमें वापस बुला लिया गया। मैंने बड़े होकर पूछा तो कोई तसल्लीबख्श जवाब न पाया। बस बड़ी बदनामी हो रही थी। सारा खानदान बहिष्कार पर तुल गया कि तुम लड़कियों को क्रिस्तान बना रहे हो। इनकी शादियाँ न हो सकेंगी। सबको सारी उम्र पालना। अम्माँ ने रो-रो कर बुरा हाल कर लिया। अब्बा ने हथियार डाल दिये। उनके तमाम मिलने वालों की यही राय थी कि लड़कियों को तालीम दिलाना उन्हें धंधा कराने से भी ज्यादा ज़लील हरकत है।”

इन्हीं सब बंदिशों की वजह से इस्मत की प्रारंभिक शिक्षा परंपरागत घरेलू अंदाज में हुई लेकिन मौलवी साहब से उनकी ज्यादा दिनों तक नहीं बनी और उनकी जिद को

देखते हुए उनका दाखिला आगरा के धनकोट स्कूल की चौथी क्लास में कराया गया। चूँकि पढ़ने में तेज थीं इसलिए डबल प्रमोशन पाकर छठी क्लास में आ गयीं। परिवार का तबादला अलीगढ़ होने के बाद इस्मत ने अलीगढ़ से मिडिल पास किया। एक बार फिर उनकी शिक्षा रूढ़िवादिता की शिकार हुई और खानदान वालों के विरोध के कारण न केवल उन्हें घर बैठना पड़ा बल्कि उनकी शादी की चर्चा भी होने लगी। मिजाज की जिद्दी और बागी इस्मत ने न केवल अपनी शादी की बात रुकवाई बल्कि घर से भाग जाने और क्रिस्तान हो जाने की धमकी देकर घरवालों को दुबारा अपनी पढ़ाई शुरू करवाने के लिए राजी कर लिया। इस बार उन्होंने अलीगढ़ में नौवीं में दाखिला लिया और हॉस्टल में रहीं। मैट्रिक पास करने के बाद अलीगढ़ से ही उन्होंने 1934 में एफ.ए. पास किया। हॉस्टल की लाइफ में वह बहुत सक्रिय रहीं और सारी गतिविधियों में आगे रहीं। एफ.ए. के बाद अलीगढ़ में उस समय औरतों की उच्च शिक्षा की कोई व्यवस्था नहीं थी तो उन्होंने लखनऊ के मशहूर इजाबेला थोबर्न कॉलेज में बी.ए. में दाखिला लिया। यहाँ का शैक्षणिक माहौल और बोर्डिंग की जिंदगी अलीगढ़ से बिल्कुल भिन्न थी जिसने उनकी सोच और उनके विचारों को एक नई दिशा और परिपक्वता प्रदान की। लखनऊ से बी.ए. करने के बाद वह वापस अलीगढ़ आई और यहाँ से उन्होंने बी.टी. का कोर्स पूर्ण किया। तमाम दुश्वारियों और अड़चनों से गुजरकर इस्मत ने उस ज़माने में जो कारनामा किया था और जिस मंजिल तक पहुँची थीं वह उस समय के मुस्लिम समाज में असंभव था।

शिक्षा प्राप्त करने के बाद अब इस्मत के सामने नौकरी का मामला था। वह अपनी शिक्षा का बेहतरीन इस्तेमाल करना चाहती थीं। साथ ही वह अशिक्षा और आर्थिक निर्भरता के कारण औरतों पर हो रहे अत्याचारों से पूरी तरह वाकिफ थीं। उन्होंने उस समय की एक नवाबी रियासत के एक गर्ल्स स्कूल की हेडमिस्ट्रेस के रूप में अपनी नौकरी की शुरुआत की फिर उन्होंने गर्ल्स स्कूल बरेली में हेड मिस्ट्रेस की कुर्सी संभाली और यहाँ से जोधपुर राजमहल गर्ल्स स्कूल की हेड मिस्ट्रेस बनीं और

फिर जल्दी ही 1941 में स्कूल इन्स्पेक्टर म्युनिसिपल उर्दू गर्ल्स स्कूल बनकर मुंबई चली गई जहाँ अपने जीवन के अंत तक 24 अक्टूबर 1991 तक रहीं।

अलीगढ़ से बी.टी. करते हुए इस्मत की मुलाकात शाहिद लतीफ से हुई जो उस जमाने में अलीगढ़ से एम.ए. कर रहे थे। शाहिद से इस्मत की दोस्ती दिल्ली और बंबई में मजबूत हुई। और बंबई में 2 मई 1942 को उन दोनों ने शादी कर ली। शाहिद लतीफ एक अच्छे फिल्मकार थे और उनकी वजह से इस्मत भी फिल्मों से जुड़ीं। उन्होंने बहुत सी फिल्मों की कहानियाँ लिखीं, डायलाग लिखे, अदाकारी की और अपनी बहुत ही तहरीरों के जरिए फिल्मी दुनिया के कच्चे चिट्ठे को भी बेनकाब करने की कोशिश की।

इस्मत बचपन से ही बहुत संवेदनशील प्रवृत्ति की थीं। और उन्होंने घर से ही असमानता और नाइंसाफी के खिलाफ आवाज उठानी शुरू कर दी थी। अपने हक के लिए माता-पिता से लेकर स्कूल कॉलेज के अधिकारियों से लड़ भिड़ जाने के इस्मत के किस्सों के बीच उनके लेखन की बागीयाना तेवर तक आने से पहले यह जरूरी है कि समाज, समुदाय और देश के प्रति उनके जो विचार रहे उन पर भी एक नजर डाल ली जाए। अपने एक लेख में वह लिखती हैं-

“आगरा की उन मुर्दा गलियों में पहली बार मुझे अपनी लड़की होने का सदमा हुआ। औरत खुदा ने क्यों पैदा की। मरी, पिटी, मजबूर, गुलाम की हस्ती की क्या जरूरत। धोबन रोज रात को पिटती थी, मेहतरानी के आए दिन जूते पड़ा करते थे। पास पड़ोस की तमाम ही औरतें आए दिन अपने शौहरों के जूते खाया करती थीं और मैं खुदा से गिड़गिड़ा कर दुआ मांगती की ए अल्लाह पाक मुझे लड़का बना दे।”

इस्मत की सोच पर सामाजिक हालात के साथ-साथ राजनैतिक हालात भी हावी हुए। इस्मत ने दो तरह का हिंदुस्तान देखा था। जब इस्मत ने आँख खोली उस वक्त हिंदुस्तान के राजनैतिक पटल पर जबरदस्त परिवर्तन हो रहा था। एक पूरी सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था खत्म हो रही थी और एक नयी सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था उसकी जगह ले रही थी। उन्होंने आजादी और

बटवारे के आंदोलन देखे, आजादी और बंटवारा देखा, बटवारे के तात्कालिक परिणाम के तौर के रूप में सांप्रदायिक दंगे देखे, सांझा संस्कृति की बर्बादी देखी, भाईचारे के वातावरण का नाश देखा, हजारों सालों की सभ्यता और संस्कृति और सामाजिक व्यवस्था को दम तोड़ते और एक नई व्यवस्था को अस्तित्व में आते हुए देखा।

“हमने जब आँख खोली तो हिंदुस्तान गुलामी की बेड़ियाँ तोड़ रहा था। जिंदगी के हर क्षेत्र में गुलामी और पराधीनता की विचारधारा दम तोड़ रही थी। उस उभरते हुए हिंदुस्तान से हमने हिम्मत, बहादुरी और बलिदान देने का मर्म सीखा। हमने दो दौर देखे। आजादी से पहले अपनी व्यक्तिगत इच्छाओं और स्वार्थों की आजादी की खातिर, मुल्क और कौम की खातिर कुर्बान कर देना और फिर आजादी के बाद.... लूट, खसोट, धांधली और चोरबाजारी देखी।”

इस्मत का साहित्यिक सामर्थ्य भी उनके परिवार की देन है, उन्होंने कहानियाँ लिखने की शुरुआत अपने घर के साहित्यिक माहौल के कारण ही कीं। बड़े भाई अजीम बेग चुगताई के वरदहस्त और प्रोत्साहन ने इस्मत के साहित्यिक शौक को परवान चढ़ाया। चौदह-पंद्रह वर्ष की उम्र से कहानियाँ लिखनी शुरू कर वह जीवन के अंतिम दिनों तक साहित्य सृजन में लगी रहीं। इस बीच उन्होंने आठ उपन्यास, तीन लघु उपन्यास, सात कथा संग्रह, बारह ड्रामे, ग्यारह खाके, दो रिपोर्टाज, एक आत्मकथा, अठारह लेख, पाँच फिल्म स्क्रिप्ट लिखे। लिहाफ गेंदा, दो हाथ, कुँवारी, चौथी का जोड़ा उनकी मशहूर कहानियाँ हैं जबकि टेढ़ी लकीर, जिद्दी, दिल की दुनिया, मासूमा, एक कतरा खून, बान्दी, अजीब आदमी, उनके मशहूर उपन्यास।

इस्मत से पहले उर्दू की एक मात्र कहानीकार रशीद जहाँ थीं जिन्होंने फेमिनिज्म को उर्दू फिक्शन में परिचित कराया। रशीद जहाँ के बाद इस्मत उर्दू की वह पहली लेखक हैं जिन्होंने फेमिनिज्म को न सिर्फ बेहतर तरीके से समझा बल्कि पारंपरिक इश्क मुहब्बत की कहानियों और मिलन-जुदाई के किस्सों से परहेज किया। रशीद जहाँ के अलावा इस्मत हिजाब इस्माईल, मजनूँ गोरखपुरी, नियाज़ फतहपुरी और बर्नाड शॉ से भी प्रभावित हुईं मगर लेखन

की राह और अपने विषयों का चयन उन्होंने खुद किया और अपनी एक प्रभावशाली शैली विकसित की।

इस्मत के अंदाज़ में साफगोई और बेबाकी अहम पहलू हैं इस्मत ने यह महसूस किया कि उस समय का समाज Ghettos में सांसे ले रहा है सो उन्होंने उन Ghettos में सिसकती बिलकती जिंदगियों की कहानियाँ लिखीं। इस्मत की सोच और उनके साहित्यिक रुझान में प्रगतिशील आंदोलन का भी बहुत बड़ा हाथ रहा। रशीद जहाँ और 'अंगारे' के दूसरे लेखकों से प्रभावित होने के साथ ही वह रशीद जहाँ के कहने पर प्रगतिशील आंदोलन से जुड़ गई।

इस्मत की अधिकतर कहानियों पर उनके प्रकाशन के वाद विवाद हुए, आपत्तियाँ दर्ज हुईं, पत्रिकाओं की प्रतियाँ जलाई गईं, मुकदमे चले यहाँ तक कि उन्हें अश्लील करार दे दिया गया। मगर इन सबसे उनकी कलम रुकी नहीं और न ही उनकी दिशा बदली बल्कि वह अपने साहित्यिक सफर पर विश्वसनीयता के साथ चलती रहीं। इस्मत की जिन कहानियों पर ज्यादा हंगामे हुए उनमें उन्होंने सेक्स को अपना विषय बनाया था। इस सिलसिले में वह अपनी आत्मकथा में लिखती हैं—

“मेरी शुरुआती कहानियाँ घर की चारदीवारी में बैठकर लिखी गयी हैं। आम तौर से समझा जाता है कि मर्द ही बड़ी गंदी बातें करते हैं। नहीं, औरतें भी करती हैं। औरतों के पास ज्यादा वक्त होता है। दोपहर को मुहल्ले भर की औरतें जमा होकर बैठ जाती थीं और हम लड़कियों से कहा जाता था ‘चलो भागो तुम लोग’। मैं छुपकर पलंग के नीचे घुस के उनकी बातें सुन लिया करती। सेक्स का विषय घुटे हुए माहौल और परदे में रहने वाली बीबियों के लिए आम बात है। वह इस पर बहुत बातचीत करती हैं। मेरी अफसाना निगारी इस घुटे हुए माहौल का चित्रण है, फोटोग्राफी है।”

परंपराओं से विद्रोह और प्रतिवाद साहित्य इस्मत के लेखन की पहचान है। वह समाज में फैली असमानता, भ्रष्टाचार, कुलीनता, Ghetoisation, औरतों और उसके कमजोर वर्गों पर लागू की जाने वाली पृथक्तावादी प्रक्रिया को बड़े जोर शोर से अपने फिक्शन में उठाती हैं। अपनी आत्मकथा में वह यूँ लिखती हैं—

“मुझे रोती, बिसूरती, हराम के बच्चे जनती, मातम करती हुई औरत से हमेशा से नफरत थी। ख्वाहमख्वाह की वफा और वह तमाम खूबियाँ जो पूरब की औरत का जेवर समझी जाती थी, मुझे लानत महसूस होती हैं। भावनात्मकता से मुझे हमेशा कोपित होती है।”

इस्मत की आँखों ने बचपन से ही घर से लेकर बाहर तक, आंगन से समाज तक औरत का सिसकता बिलकता रूप देखा था। औरत की स्थिति, घर और समाज में उसका स्थान, घरेलू औरत के जीवन की सच्चाई, उसकी जिंसी घुटन इस्मत के फिक्शन का हिस्सा बनी। ‘लिहाफ’ में इस्मत ने जिस औरत को सामने लाया है, वह शौहर की सताई है और उसकी समलैंगिक भूख से वह औरत नहीं बल्कि उसका शौहर नंगा हुआ है। ‘लिहाफ’ की बेगम खान और ‘चारपाई’ की शाकरा का दर्द, ग़म और भूख एक जैसी है। जागीरदारी व्यवस्था में मर्द के हाथों पिसती ये औरतें समाज के मुँह पर तमाचा भी हैं और इस्मत के कहानियों का बागियाना तेवर भी। ‘गेंदा’ की नासमझ बच्ची अपने भाई और धोबन के नाजायज़ संबंध तो समझ नहीं पाती लेकिन जब गेंदा का तमाचा खाने के बाद भी भाई उसे सीने से लगाकर प्यार करता है तो वह अचानक वक्त से पहले बड़ी हो जाती है और अपने अंदर असाधारण परिवर्तन और बेचैनी महसूस करती है। यह बेचैनी कहानी में उस वक्त विद्रोह की आवाज बन जाती है जब धोबन बिन ब्याही माँ बनती है और समाज की सारी नफरत उसके हिस्से में आती है। इस्मत की एक कहानी है ‘बिच्छू फूफी’। बिच्छू फूफी का चरित्र यह बर्दाश्त नहीं कर पाता कि उसका पति एक मेहतरानी के साथ गुलछरें उड़ाए, तो फूफी सारी चूड़ियाँ तोड़ डालती है रंगीन दोपट्टा उतार देती है और अपने शौहर को मरहूम और मरने वाला कहकर बुलाती है। मेहतरानी को छूने के बाद उसे अपना शरीर छूने नहीं देती और मुहब्बत भरा दिल होने के बावजूद मुँह भर कर मर्द समाज को गालियाँ देती है। ‘चौथी का जोड़ा’ बेशुमार सपने और खुशियाँ समेटे हुए होता है, उसका एक एक टांका चमकदार भविष्य को दर्शाता है और पहनने वाली के जीवन में रूमान पिरोता हैं मगर गरीबी का फुफकारता नाग इन खुशियों को डस लेता है। जवानियाँ

पर्दे के पीछे सिसक-सिसक कर दम तोड़ देती है। सैकड़ों बार माँ ने जिस दरी पर रखकर चौथी का जोड़ा टांका और वापस सौंप दिया उसी दरी पर जब माँ ने बेटी का कुबरा का कफन फैलाया तो उसे पता था कि इस बार टांका लगने के बाद यह जोड़ा वापस बक्से में सैता नहीं जायेगा। ‘दो हाथ’ के भंगी रामअवतार को जब यह बात पता चलता है कि उसके घर पर मौजूद न रहने के बावजूद उसकी पत्नी एक ऐसे बच्चे की माँ बन गई है जिसका बाप वह नहीं है तो वह उन दो मासूम हाथों को भगवान का दिया मान कर न सिर्फ स्वीकार करता है बल्कि उसके लिए कपड़े और तोहफे भी लेकर जाता है उसकी अकड़ के अंदर टूटा हुआ, बिखरा हुआ, गरीबी का मुर्दा जमीर ज्यादा ताकतवर है।

“मगर लौण्डा तेरा नहीं राम अवतार.... उस हरामी रतीराम का है!” अब्बा ने आजिज आकर समझाया।

“तो क्या हुआ सरकार... मेरा भाई होता है रतीराम, कोई गैर नहीं अपना ही खून है।”

“निरा उल्लू का पट्टा है।” अब्बा भन्ना उठे। “सरकार! लौण्डा है बड़ा हो जावेगा, अपना काम समेटेगा।” राम अवतार ने गिड़गिड़ा कर समझाया “वह दो हाथ लगायेगा, सो अपना बुढ़ापा पार हो जायेगा।”

और न जाने क्यों राम अवतार के साथ अब्बा का सिर भी झुक गया। जैसे उनके जेहन में लाखों करोड़ों हाथ छन गए।

यह हाथ हरामी है न हलाली, यह तो बस जीते जागते हाथ हैं जो दुनिया के चेहरे से गलाजत धो रहे हैं। उसके बुढ़ापे का बोझ ढो रहे हैं। यह नन्हे मुन्ने मिट्टी के लथड़े स्याह हाथ धरती की मांग में सिंदूर सजा रहे हैं बोझ ढो रहे हैं।”

उर्दू साहित्य के एक आलोचक और लेखक प्रो. शीन अख्तर के विचार रख कर आगे बढ़ाना चाहूँगा। प्रो. अख्तर इस्मत चुगताई की कला को बड़ी ईमानदारी से आंकते हुए लिखते हैं-

“इस्मत का फन आपरेशन टेबुल की तरह है। इस पर मरीज इसलिए नंगा नहीं किया जाता कि उनके जिस्म की सुंदरता देख कर सांप फनफनाने लगे बल्कि गंदे और जहरीले मवाद को निकालकर उसे एक नयी जिंदगी दी जा सके। इस्मत का कलम ऐसे नाजुक और अहम विषय पर

लिखते वक्त नहीं फिसलता इसलिए कि वह सेक्स की अहमियत और प्राथमिकता को एक चिकित्सक की नजर से देखती हैं और हिंदुस्तानी औरत की दासता, जुल्म सहने की विवशता और अत्यंत बेचारगी की गहरी सामाजिक समझ रखती हैं। उन्होंने नई पीढ़ी के लिए इस मुश्किल काम को बहुत आसान कर दिया है। इसलिए अब महिला लेखिकाएं जितनी भी बेबाकी से इस विषय पर लिखेंगी पाठक के माथे पर लकीरें नहीं उभरेंगी। इस्मत ने शिव की तरह सारा जहर खुद पी लिया ताकि आने वाली नस्ल को इसकी कड़वाहट का एहसास न हो।”

इस्मत के फिक्शन में रूढ़िवादिता और गलत रीति-रिवाज पर तीखा प्रहार मिलता है। उन्हें व्यंग्यात्मक अभिव्यक्ति की कला आती है। वह मजहब के उन ठेकेदारों से लड़ती दिखाई देती हैं जो दीन धर्म का सहारा लेकर कमजोरों को दबाते, मासूमों को बहकाते और शोषण तथा अत्याचार का एक सिलसिला चलाते हैं। उनके उपन्यास और कहानियों के चरित्र एक ऐसी समाजिक व्यवस्था चाहते हैं जिसमें हर इंसान को इंसाफ और समानता का अधिकार मिल सके।

इस्मत अपने एक लेख ‘तरक्की पसंद अदब और मैं’ में लिखती हैं-

“जब दुनिया के पहले इंसान ने नाइंसाफी, अधिकार हनन, बेईमानी, शोषण, असमानता, जुल्म और गुलामी की लानत से घबरा कर आह भरी थी, तरक्की पसन्द आंदोलन की नींव पड़ गई थी और जब तक धरती पर तरक्की की उम्मीदें मौजूद हैं, तरक्की पसंदी जिंदा रहेगी। जब तक बड़ी मछली छोटी मछली को निगलती रहेगी, तरक्की पसंदी जिंदा रहेगी।”

इस्मत आज भी प्रासांगिक हैं और इस्मत तब भी प्रासांगिक रहेगी जब तक देश और दुनिया में गुजरात और फिलिस्तीन जैसी स्थितियाँ दुहराई जाती रहेंगी, जब तक दिल्ली का निर्भया कांड और दादरी का अखलाक कांड होता रहेगा इस्मत जिंदा रहेंगी। जब तक बड़ी-बड़ी कंपनियाँ स्थानीय संसाधनों का दोहन और इंसानों का शोषण करती रहेंगे। इस्मत हमारे साथ रहेंगी जब तक प्रगतिशील भावनाएं और विचार जिंदा रहेंगे।

स्वातंत्र्योत्तर हिंदी साहित्य में कामकाजी स्त्री का संघर्ष पूनम सिंह

सामाजिक दृष्टि से स्त्रीमुक्ति की सबसे उल्लेखनीय उपलब्धि है— स्त्री का चौके-चूल्हे, घर आंगन की दुनिया से बाहर निकलकर आर्थिक आत्मनिर्भरता प्राप्त करना। आज जिस अपरिमित आकाश में स्त्रियाँ विचरण कर रही हैं वह समय किसी युग देशकाल में उनके हिस्से में नहीं आया था। आज एक स्त्री माँ, बहन, पुत्री, पत्नी की चौखट से बाहर निकल कर समय और समाज के भीतर भी अपनी एक स्वतंत्र पहचान बना रही है।

स्वतंत्र व्यक्तित्व अर्जित करने की यह चाह सदियों से पूरी दुनिया की आधी आबादी के भीतर रही है लेकिन तब उसके सामने कोई रास्ता नहीं था और न कोई वैसा अवसर उसे प्राप्त हुआ था। विश्व युद्धों के दौरान उसे यह मौका मिला। युद्ध के दौरान फौज को पुरुषों की जरूरत थी इसलिए दफ्तरों का काम संभालने के लिए महिलाएँ घर से बाहर निकलीं। यह सबसे पहले यूरोप और अमेरिका में हुआ। आत्मनिर्भरता ने स्त्रियों को अपने अधिकारों और अपनी अस्मिता के प्रति जागरूक किया। उसी चेतना से स्त्री मुक्ति आंदोलन की शुरुआत भी हुई और उस लहर ने भारत की प्रगतिशील स्त्री चेतना को भी उर्जस्वित किया।

भारत में स्वतंत्रता के बाद स्त्री शिक्षा का उत्तरोत्तर विकास हुआ। उसके फलस्वरूप रोजगार के क्षेत्र में स्त्रियों के लिए नये द्वार खुले। यहीं से स्त्री की परंपरागत भूमिका में एक नया अध्याय जुड़ा।

शिक्षा का संबल लेकर आज की स्त्री ने आत्मनिर्भरता प्रदान की। सामाजिक, राजनीतिक, शैक्षिक, वैज्ञानिक, विधि, व्यापार, चिकित्सा, सेना, खेल, संगीत, कला, साहित्य, फिल्म, मॉडलिंग अर्थात् जीवन के हर क्षेत्र में उसने अपनी क्षमता और योग्यता को प्रमाणित किया। स्वतंत्रता पूर्व बहुत कम स्त्रियाँ आर्थिक रूप से इतनी आत्मनिर्भर थीं। आज इसकी संख्या बहुत अधिक है। निःसंदेह ये उपलब्धियाँ स्त्री शिक्षा, स्त्री स्वातंत्र्य और स्त्री सशक्तिकरण का एक अभूतपूर्व विस्तार है।

लेकिन आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर होने के बावजूद स्त्रियों के जीवन में स्त्री होने की नियति का दुःख बरकरार रहा। नयी व्यवस्था में भी वह लिंगजनित भेदभाव की शिकार है। घर हो या बाहर स्त्री होने के एहसास से एक स्त्री कभी मुक्त नहीं हुई।

स्वातंत्र्योत्तर हिंदी साहित्य में स्त्री स्वातंत्र्य एवं संघर्ष चेतना के विविध आयाम हैं। आज हिंदी साहित्य में महिला कथाकारों की ढेर सारी आत्मकथाएँ आयी हैं जिनमें उनका भोगा हुआ

यथार्थ अपनी प्रामाणिकता के साथ मौजूद है। स्त्री लेखन की पहली प्रामाणिक आत्मकथा है चन्द्रकिरण सौनरेक्सा की 'पिंजरे की मैना'। इसमें एक कामकाजी औरत की सहनशीलता और घर को बचाये रखने की तमाम जद्दोजहद का विवरण है। बेबी हालदार, बेबी कामले जैसी कामकाजी महिलाओं ने घर और बाहर की दिनचर्या के बीच पिसती हुई औरत की यातनाओं और संघर्षों का जैसा मार्मिक सच रचा है वह स्त्री जीवन का दारुण अध्याय है।

रमणिका गुप्ता का 'हादसे', तसलीमा की 'लज्जा' जैसी कृतियाँ भयंकर युगीन संक्रमण की स्थिति से गुजरकर स्त्री के व्यक्तित्व अर्जित करने वाली स्त्रियों की साहसिक जीवन गाथा है। प्रभा खेतान की 'अन्या से अनन्या तक' की कथा अपनी शर्तों पर जीने की कीमत चुकाने वाली एक कर्मठ उद्योगपति महिला की दारुण कथा है।

कृष्णा अग्निहोत्री की आत्मकथा में भी बाहर काम करने वाली स्त्री को 'देह धरे को दण्ड' की यातना से गुजरते देखा जा सकता है।

आत्मकथाओं से इतर महिला लेखिकाओं की कहानियों में भी कामकाजी महिला का अंतर्द्वन्द्व और संघर्ष बखूबी उजागर हुआ है।

मन्नू भंडारी का 'आपका बंटी' एक महत्वपूर्ण उपन्यास है जिसमें यह दर्शाया गया है कि एक शिक्षित आत्मनिर्भर स्त्री का दाम्पत्य जीवन जब खण्डित होता है तो उससे उसका पत्नीत्व ही नहीं मातृत्व भी क्षत-विक्षत हो जाता है। 'आपका बंटी' एक शिक्षित नौकरी पेशा स्त्री की योग्यताओं, क्षमताओं और संभावनाओं को पति द्वारा नकारने तथा दाम्पत्य की टकराहट में एक बच्चे के निर्दोष बचपन को बहुत साइलेंट ढंग से क्रश करने की कथा है। मन्नू भंडारी की ही दो अन्य कहानियाँ 'नई नौकरी' और 'बंद दरवाजों का साथ' भी शिक्षित आर्थिक रूप से स्वतंत्र लेकिन परिस्थिति के आगे विवश आज की आधुनिक स्त्री की स्थिति को उजागर करने वाली सशक्त कहानियाँ हैं।

हिंदी की विशिष्ट कथाकार उषा प्रियंवदा की 'पचपन खंभे लाल दीवारें' आधुनिक शिक्षित नौकरी पेशा स्त्री की सामाजिक आर्थिक विवशता से जन्मी मानसिक यंत्रणा की एक मार्मिक कथा है।

प्रभा खेतान, कृष्णा सोबती, मन्नू भंडारी, नासिरा शर्मा, सुधा अरोड़ा, उषा प्रियंवदा, मैत्रेयी पुष्पा, अर्चना वर्मा आदि लेखिकाओं की एक लंबी जमात है जिनका स्वत्व पुरुष वर्चस्व तले बार बार रौंदा जाकर भी हरी दूब की तरह हरी गंध बिखेरता रहा है।

समकालीन कथा लेखिकाओं में नीला प्रसाद, जयश्री राय, अल्पना मिश्र, गीता श्री, रजनी गुप्त, इंदिरा दांगी, रोहिणी अग्रवाल, वंदना राग, कविता, मनीषा, विभा रानी, पूनम सिंह, स्वाति तिवारी, नीलाक्षी सिंह, ज्योति कुमारी तक एक लंबी शृंखला है जिनकी कई कहानियों में कामकाजी स्त्री पुरुष के सह अस्तित्व का प्रश्न अनसुलझा ही रहता है।

इन कहानियों में आज का मनोविज्ञान यह प्रमाणित कर रहा है कि निषेधात्मक संबंध से जुड़े दाम्पत्य में स्त्री-पुरुष एक दूसरे की क्षमता को क्षीण कर देते हैं। खासकर पढ़ी लिखी नौकरी पेशा स्त्री के दाम्पत्य में स्वतंत्रता और समानता को लेकर हमेशा एक टकराव की स्थिति बनी रहती है। स्त्री को उसकी चेतना और वस्तु स्थिति में समझने का अवकाश पुरुषों के पास कभी नहीं रहता।

'शृंखला की कड़ियाँ' में महादेवी वर्मा लिखती हैं- "सहयात्री वे कहे जाते हैं जो साथ चलते हैं। कोई अपने बोझ को सहयात्री कहकर अपना उपहास नहीं उड़ा सकता। भारतीय पुरुष ने स्त्री को या तो सुख के साधन के रूप में पाया या भार के रूप में। फलतः वह उसे सहयोगी का आदर न दे सका।"

स्त्री का संपूर्ण जीवन पुरुष से प्रेम और सम्मान पाने की चाहत में बीत जाता है। यह चाहत, यह आकांक्षा केवल कहानी के स्त्री पात्रों में ही नहीं कविताओं में भी देखी जा सकती है।

स्नेहमयी चौधरी की इन पंक्तियों में कामकाजी स्त्री होने का दर्द कुछ इस तरह व्यक्त होता है- "उसके पास सब कुछ तो है/ एक बड़ा सा बरामदा/ साफ सुथरी छत/ जिस पर जाड़े में प्यारी धूप आती है/ जीवन यापन के लिए नौकरी भी है/ घर की सुरक्षित दीवारें और लोहे का दरवाजा भी है/ जिससे कोई उसे असहाय नहीं समझ सकता...."

लेकिन लौह कपाट के भीतर सुरक्षित स्त्री कितनी असहाय और अकेली है- नौकरी पेशा होने के बावजूद

समानता के अधिकार और सम्मान से किस तरह वंचित है इसे परिवार या समाज कभी नहीं समझ सकता।

स्त्री घर में हो या बाहर- स्त्री होने का दंश उसे हर जगह हर क्षण भोगना पड़ता है।

पहले स्त्री के घर के ओर ही देखें।

जो स्त्री घर में रहती है- कामकाजी नहीं 'हाउसवाइफ' कहलाती है और चौबीस घंटे में अठारह घंटे से कम अपना श्रमदान नहीं करती पर उसकी कोई कीमत नहीं आँकी जाती। उसके श्रम का आकलन परिवार या समाज किसी के द्वारा नहीं किया जाता। अपनी दिनचर्या को अपनी नियति मानकर वे ताउम्र किसी पुरुष का सरनेम ओढ़कर समर्पण की सुगंधि बन कर आँगन महकाती रहती हैं। यह निःशब्द आत्मदान कितना कठिन है- इसे एक औरत ही समझ सकती है। चर्चित कवयित्री अनामिका के चौके में कभी आप जाइए तो आप देखेंगे उसे-

“वह रोटी बेलती है जैसे पृथ्वी/ अपने ही वजूद के आँच के आगे/ खुद को सानती/ खुद को गूँथती हुई बार-बार...” स्त्री जीवन का यह समग्र भावचित्र है जिसे सत्ताधारी पुरुष ने कभी राग भरी आँखों से नहीं देखा। जब भी देखा भूख और रोटी के बीच एक आस्वाद की तरह। तभी तो समकालीन कवयित्री निर्मला पुतुल घर में श्रमदान करती स्त्री की पीड़ा को कुछ इस रूप में महसूसती है- “तन के भूगोल से परे/ एक स्त्री के मन की गाँठें खोलकर कभी पढ़ा है?/ अगर नहीं तो फिर क्या जानते हो तुम/ रसोई और बिस्तर के गणित से परे/ एक स्त्री के बारे में?”

स्त्री जीवन में 'घर' हमेशा उसकी पहली प्राथमिकता है। यह घर एक कामकाजी स्त्री की अदम्य जिजीविषा की परीक्षास्थली है, जहाँ वह संवेदना के कई स्तरों पर मुठभेड़ करती है परंतु अपनी कठिन दिनचर्या के बीच भी अपनी आंतरिक उर्जा का क्षय नहीं होने देती।

रंजना जायसवाल की पंक्तियों पर गौर करें- “सोकर उठते ही मेरा घर चीखता है/ मुझे साफ करो/ उठाती हूँ झाड़ू पोछा/ फिनाइल की शीशी/ तभी चीखता है बेटा/ मुझे तैयार करो/ दौड़ती हूँ युनिफार्म बैग और टिफिन लिये/ उसी समय चीखते हैं पति/ मेरे कपड़े प्रेस नहीं हैं/ दाढ़ी बनाने का सामान कहाँ है/ मैं दौड़ती हूँ कपड़े दाढ़ी बनाने

का सामान लिए/ सबको विदा कर खुद होती हूँ तैयार: भागती हुई पहुँचती हूँ दफ्तर/ चीखता है बॉस/ मिसेज क.../ आज फिर लेट?/ पूरे दिन करती हूँ काम/ पर जेहन में घूमता है घर।”

घर के भीतर स्त्री के जीवन के यथार्थ का ऐसा ही चित्र संवेदनशील कवयित्री अनिता वर्मा भी उकेरती हैं- “मैं रोज सुबह उठकर उन्हें/ चाय की प्याली पकड़ाती हूँ/ करती हूँ प्रार्थना भगवान से/ न हों गुस्सा आज ये किसी बात पे/ सब कुछ ठीक ठाक रहे/ शाम को जब मैं लौटूँ काम से...”

बदलते समय के परिदृश्य में आज मध्यवर्गीय परिवार की बहू बेटियों को नौकरी की इजाजत तो मिल गई है लेकिन पारिवारिक मूल्यों में रूढ़िगत सोच अभी भी बरकरार है। कामकाजी पत्नी वाले परिवार में पति और पत्नी की पारिवारिक और सामाजिक भूमिका में अभी भी वांछित परिवर्तन नहीं हो पाया है। ऐसे में नौकरीपेशा स्त्री को हमेशा एक संतुलन साध कर चलना पड़ता है। कामकाजी स्त्री को दाम्पत्य का कर्तव्य बोध भले उबाऊ और नीरस लगता हो पर मातृत्व उसे कभी बोझ नहीं लगता और न ही अपने विकास के मार्ग में वह उसे अवरोधक मानती है।

एक कामकाजी स्त्री जब अपने बच्चे को आया के हवाले करके काम पर जाती है तो उसका मन वहीं अटका रह जाता है। इस आंतरिक द्वन्द्व का एक चित्र सविता भार्गव की पंक्तियों में चित्रित है- “हर रोज सुबह सुबह मेरी नौकरी/ ट्रेन की तरह आती है और खींच ले जाती है मुझे उससे दूर.../ दूर तक पीछा करती हैं उसकी उदास आँखें/ हवाओं के पार हिलता है उसका नन्हा हाथ/ विदा के लिए.../ अपने घरों को सही सलामत लौटें दुनिया की तमाम माएं/ ट्रेन की खड़-खड़ के साथ चलती है मेरी प्रार्थना।”

ऐसी प्रार्थना हर माँ हर दिन करती है। यह मातृत्व का एक ऐसा रूप है जो एक स्वतंत्र और आत्मनिर्भर स्त्री के अंतरतम अस्तित्व में स्वयं को स्थापित किए रहता है और उसे कभी घर से मुक्त नहीं होने देता।

अनामिका की एक कविता है- ‘एक औरत का पहला राजकीय प्रवास’।

यह कविता स्त्री सशक्तिकरण के दौर की एक महत्वपूर्ण कविता है जिसमें एक पढ़ी लिखी ऊँचे ओहदे पर कार्यरत स्त्री पहली बार विदेश दौर पर जाती है पर विदेश प्रवास में भी उसका घर उसका पीछा नहीं छोड़ता। पंक्तियाँ गौरतलब हैं—

“वह होटल के कमरे में दाखिल हुई/ अपने अकेलेपन से उसने बड़ी गर्मजोशी के साथ हाथ मिलाया/ लेकिन जैसे ही दरवाजा बंद हुआ/ और वह डनलप पर लेटी/ चटाई चुभी घर की/ अंदर कहीं रीढ़ के भीतर...”

फिर वह तीन बार अंतर्राष्ट्रीय फोन लगाती है— पहला बेटे को, दूसरा ऑफिस में खिन्न बैठे अटशंट सोचते अपने पति को और तीसरा उसकी अनुपस्थिति में उसका घर संभालती अपनी माँ को। यह एक कामकाजी स्त्री की विविध रिश्तों के बीच संतुलन साधने की सबसे कठिन त्रासदी है।

नौकरीपेशा स्त्री के भीतर समय सजग एक चेतना का विकास हो जाता है जिसके कारण सहयोग को लेकर उसकी अपेक्षाएं पति और परिवार से बढ़ जाती हैं। वह पुरुष का मालिकाना अधिकार बर्दाश्त नहीं करना चाहती बल्कि एक सच्चे साथी के रूप में उससे बराबरी के सहयोग की अपेक्षा रखती है और यहीं से कशमकश की स्थिति जन्म लेती है। वांछित सहयोग की अपेक्षा में घर और बाहर का द्वन्द्व उसके भीतर एक उथल-पुथल की स्थिति पैदा करता है। यह मानसिक बेचैनी कवयित्री गगन गिल के भीतर कुछ इस तरह घटित होता है—

“एक सड़क घर ले जाती है/ दूसरी दफ्तर/ सुबह घर वापस आने का मन करता है/ शाम दफ्तर लौट जाने का/ वैसे एक निर्णय विवशता की तरह चिपका है/ क्योंकि शाम दफ्तर बंद हो जाता है/ सुबह घर/ फ्रस्टेशन को मुट्ठी में कसकर पकड़े हुए भी/ विपरीत दिशाओं की ओर/ वह भागती रहती है।”

यह उल्टी दिनचर्या की चाहत एक कामकाजी स्त्री के भीतर की भीषण मानसिक यंत्रणा और छटपटाहट को दर्शाता है।

स्त्री अस्मिता की पैरोकार फ्रांसीसी लेखिका सीमोन द बोबुआर की उक्ति है— “स्त्री पैदा नहीं होती बना दी जाती है।” उसके इस कथन में बहुत बड़ी सच्चाई है। एक स्त्री

का निर्माण स्त्री होने की परिवेशगत मानसिकता से होता है जिसे राजेश जोशी की कविता भी प्रमाणित करती है।

राजेश जोशी बड़े कवि हैं। स्त्री के प्रति बहुत अधिक संवेदनशील भी। उनकी संवेदना में भी कामकाजी पत्नी की स्त्री होने की नियति इन शब्दों में साकार हुई है— “शताब्दियों पहले/ परोसी गई थाली में/ शताब्दियों बाद भी/ गर्म रहेगी रोटियाँ/ जिन्हें ऑफिस से थककर/ लौटने के बाद बनाया था पत्नी ने।”

शताब्दियों बाद भी रोटियों का गर्म रहना दर्शाता है कि काम से लौटती घरमुहों स्त्री का पहला कदम दहलीज के बाद चौके में ही पड़ता है। कई सदियाँ बीत गईं लेकिन स्त्री की दिनचर्या में शामिल चौका चूल्हा उससे कभी नहीं छूटा इसलिए कामकाजी पत्नी होने के बावजूद थाली में गर्म रोटियाँ परोसना उसके स्त्री होने के अनुकूलित संस्कार में शामिल है।

वरिष्ठ कवि ऋतुराज की एक कविता है ‘दो कामगार’ जिसकी पंक्तियाँ हैं— “एक बहुत बड़े शहर में रहता है वह/ अपनी बेटों के साथ/ दोनों एक ही नंबर की बस के लिए/ निकलते हैं घर से/ अपने अपने टिफिन लेकर/ ‘पापा खाने से पहले गोली जरूर ले लेना’/ /सड़क पार करते वक्त दोनों तरफ अच्छी तरह देख लेना, तुम बहुत जल्दबाज हो’ ‘सब्जी आप मत लाना, मैं लेती आऊंगी’ ‘चाभी मत गिरा देना’

दफ्तर से लंच के बाद फोन करना’

इतनी सारी हिदायतों के बाद/ भीड़ में खो जाते हैं दो कामगार

कामकाजी पिता पुत्री के इस संवाद में जीवन संघर्ष का एक उल्लासपूर्ण चित्र है। रिश्तों के प्रति नैसर्गिक जिम्मेदारी का एहसास भी— साथ ही जेंडर रहित समानता की एक स्वस्थ दृष्टि भी, जो दो कामगारों के जीवन संघर्ष को अर्थवान बनाता है।

मध्यवर्ग में आज कामकाजी महिलाओं का प्रतिशत न केवल महानगरों में बल्कि छोटे शहरों और कस्बों में भी बढ़ा है। नौकरीपेशा लड़कियाँ आज समय के साथ अपने को जोड़कर जीवन की प्रतिस्पर्द्धा में शामिल हैं। ऐसे में समय उन्हें न तो पीछे मुड़कर देखने देता है और न एक

क्षण ठहरने देता है। ऑफिस और दफ्तरों में काम करती लड़कियाँ मशीन का एक पुर्जा बन जाती हैं और उनके भीतर राग-अनुराग सब रीतने लगता है। रघुवीर सहाय की एक कविता है 'बैंक में लड़कियाँ' जो कामकाजी स्त्री के मनोविज्ञान का एक मार्मिक भाष्य रचती है-

'बैंक में लड़कियाँ/ बड़ी होती जाती हैं/ और इतनी भीड़ से घिरी हुई एकाकी/ वह अपने तीस बरस/ औरत और व्यक्ति के बचाने के तीस बरस/ लिये हुए यहाँ आती हैं वक्त से/ ध्यान से सुनती हैं नौजवान ग्राहक को/ खो नहीं जाती है स्वप्न में?...''

यहाँ नौकरीपेशा लड़की के भीतर एक खास तरह की आत्मग्रस्तता या नौकरी की विवशता है जो उसे रंगीन सपनों से विमुख कर देती है। यह परिवार और समाज के विलक्षण वैराग्य से जुड़ी नौकरीपेशा लड़कियों के मन की एक जटिल और कठिन मनःस्थिति है जो उसके भीतर के बहुस्तरीय द्वन्द्वात्मक संघर्ष को दर्शाती है।

कामकाजी स्त्रियों की एक कठिन यात्रा है- लोकल ट्रेन से काम पर जाना। महानगरों में स्त्रियाँ हर दिन यह दुःसाहसिक यात्रा करती हैं।

अरूण कमल की एक कविता है 'डेली पैसेंजर' इस कविता में एक कामगार स्त्री की देह से सटकर बैठे कवि की अनुभूति में स्त्री की थकान कुछ इस तरह उतरती है-

"सहसा मेरे कंधे से/ लग गया/ उस युवती का माथा/ लगता है बहुत थकी/ वह कामगार और काम से वापस घर लौट रही थी/ एक डेली पैसेंजर।"

स्त्री सशक्तिकरण के इस दौर में आज स्त्रियाँ परिवार के बाहर आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक जीवन में भी सक्रिय रूप से भाग ले रही हैं। लेकिन एक स्त्री अपनी आत्मनिर्भरता और समर्थ योग्यता के बावजूद हर जगह पुरुष वर्चस्ववादी मानसिकता से त्रस्त है।

मल्टीनेशनल कंपनियों में कार्यरत स्त्रियों को अपनी नौकरी को बरकरार रखने या ऊपर उठने के क्रम में कितनों के आगे बिछना पड़ता है और किस तरह अपनी नौकरी सुरक्षित रखने के लिए दैनिक कीमत चुकानी पड़ती है- यह तो दफ्तर के भीतर का सच है लेकिन दफ्तर से बाहर देर रात कॉरपोरेट सेक्टर में काम करने वाली लड़कियाँ

जब घर लौटती हैं तो उनके साथ अमानुषिक कृत्य होते हैं जिसकी खबरें हम साधारण खबरों की तरह सुनते और चैनलों पर देखते हैं। सामूहिक बलात्कार की ऐसी वारदातों से गुजरने के कारण स्त्री के भीतर बलात्कार का ऐसा भय बैठ जाता है जो उसे कभी-

"झाड़ियों के अंधेरे किनारों/ खाली गाड़ी की पिछली सीटों/ और खाली मकानों की खड़खड़ाती चाबियों की तरफ देखने नहीं देता।"

ऐसे अनुभव पुरुष की संवेदना के हिस्से कभी नहीं बन सकते।

समकालीन कविता को एक खुदार व्यक्तित्व प्रदान करने वाले कवि विष्णु खरे की 'लड़की' कविता में एक नौकरी पेशा लड़की का चित्र है कि- *"दफ्तर की अश्लीलताओं को उतार कर टाँगती है अरगनी पर/ कल के लिए/ और रात गये लालटेन की कसैली रोशनी में/ खोजती है पुरानी किताबों के बीच एक पीला खत।"*

यह स्त्री विरोधी क्रूर तंत्र के विरुद्ध एंटीक्लाइमेक्स डिफेंस का एक अद्भुत चित्र है। जीवन के तिव्र अनुभवों के विरुद्ध पुरानी किताबों के बीच प्रेमपाती की खोज की यह संवेदना सत्ता प्रतिष्ठानों से आहत स्त्री के लिए आत्मशक्ति को सहेजने जैसा है।

राजनीति की मंजिल महिलाओं के लिए ज्यादा दुरूह है। आज जो महिलाएँ राजनीति में सक्रिय हैं, उनमें अधिकांशतः राजनैतिक विरासत को संभाल रही हैं परंतु आम महिला का राजनीति में आना और टिकना मुश्किल कार्य है।

इतिहास में रजिया सुल्तान, लक्ष्मीबाई, बेगम हजरत, रानी चैनम्मा जैसी स्त्रियों ने अपनी सामर्थ्य और क्षमता का लोहा मनवाया था पर उनके जीवन में भी अन्तः संघर्ष की असंख्य रातें थीं। आज राजनीति के गलियारे में स्त्रियों का दैनिक और मानसिक शोषण जितना देखा जा रहा है- किसी देशकाल में नहीं देखा गया। रुखसाना, नैना साहनी, मधुमिता, भंवरी देवी, श्वेता निशा, रूपम पाठक से लेकर न जाने कितनी अनाम स्त्रियाँ इस गलियारे में लूटी खसोटी और जान से मार डाली गई हैं। साहित्य के स्त्री विमर्श में ये सारे जीवंत दृष्टांत हमारी स्त्री होने की गवाही देते हैं।

आज पंचायती राज में जो स्त्रियाँ मुखिया सरपंच के पद पर निर्वाचित होकर आती हैं उनकी वास्तविक स्थिति का चित्रण निरंजन श्रोत्रिय की एक कविता में बखूबी देखा जा सकता है—

“रामदेई मूलतः सरपंच नहीं थी/ वह स्त्री थी मूलतः जो सरपंच बनी/ बात कोई खास नहीं/ बस एक मादा के मुखिया बन जाने का शर्मिला अजूबा/ सो जब भी जाओ सरपंच के घर/ वहाँ मिलती रामदेई/ कभी आटा सान रही/ कभी कण्डे पाथ रही/ कभी हुक्का भर रही/ कभी सेंक रही अपनी पीठ के घाव/ वह घर की देहरी लांघ नहीं सकती थी/ और पंचायत घुस नहीं सकती थी घर के भीतर/ सो पांच साल तक गाँव में/ सब चलता रहा बहुत ही स्मूथली/ बलात्कार/ दहन/ प्रताड़ना।”

यहाँ एक स्त्री जो मुखिया पद पर है— उसका स्त्री होना उसके अधिकारों के आगे आता है। रामजी की खड़ाऊ की तरह वह अपने पद को कुर्सी पर प्रतिष्ठित कर रामदेई बनी रहती है। यह एक अलग तरह की स्त्री प्रताड़ना है।

हिंदी कविता में कामकाजी स्त्रियों की एक बड़ी दुनिया है जिसमें उच्चवर्ग से लेकर मध्य और निम्नवर्ग तक की स्त्रियों का जीवन संघर्ष चित्रित है।

श्रमिक वर्ग की कामगार स्त्रियों की पीड़ा कुछ और है। ताकत के तंत्र के सामने से हर दिन शोषण, अत्याचार और स्त्री कामगार होने का अमानुषिक व्यवहार सहना पड़ता है। चर्चित कवि लीलाधर मंडलोई की कविता ‘कस्तूरी’ में दिहाड़ी पे काम करने वाली एक स्त्री की बड़ी ही मार्मिक कथा है। वह स्त्री, स्त्री होने की नियति से सर्वथा भिन्न एक खुद्दार औरत, जो कहती थी— “मैं एक औरत नहीं मानुष हूँ/ दिहाड़ी में वह अपने काम के भुगतान को लेके/ झगड़ती

पाई जाती थी/ उसे चाहिए थी मर्दों के बराबर तनख्वाह/ कि किया उसने भी बराबर काम/ वह थोड़ा लिख पढ़ सकती थी/ इसलिए पैसों के कम मिलने पे करती थी/ खुलेआम विरोध/ उसे मर्द जाति की गुलामी नामंजूर थी”

ऐसी दुःसाहसी स्त्रियों का अंत अप्रत्याशित नहीं होता इसलिए वही हुआ जो होना तय था— “एक सुबह पता चला कुछ लोग/ जबरन जा घुसे रात गये उसकी खोली में/ कि जब वह थकी हारी गहरी नींद में थी/ क्या हुआ बाद उसके सही सही मालूम नहीं/ सिवाय इसके कि पाई गई वह मृत”

यह कविता पूरी तरह अभिधा में है जो स्त्री सशक्तिकरण के इस दौर में पितृसत्तात्मक व्यवस्था के वीभत्स और कठोर सच को नंगा करती है।

स्वातंत्र्योत्तर हिंदी साहित्य में कामकाजी महिलाओं का संघर्ष ‘हरी अनंत करी कथा अनंता’ की तरह भिन्न-भिन्न रूपों में विद्यमान है। आत्मकथा, कहानी, कविता हर विधा में उसके जीवन संघर्ष के जीवंत दृश्य भरे पड़े हैं। पितृसत्तात्मक तंत्र के लिए आर्थिक सबलता के बावजूद स्त्री पहले जैविक मादा है फिर कुछ और। इस लैंगिक भिन्नता और दोयम दर्जे की नागरिकता के कारण ही औपनिवेशिक परिवेश के भीतर एक स्त्री, स्त्री होने के तिवक्त अहसास से पग-पग पर आहत है परंतु प्रतिकूल परिस्थितियों में वह अपने जीवन के गैर मामूली विद्रूप क्षणों और घटनाओं को एक चुनौती की तरह स्वीकार करके अपना रास्ता प्रशस्त करती हुई आगे बढ़ रही है। कामकाजी स्त्री का संघर्ष अपनी-अपनी सरहदों में लड़ी जाने वाली एक अंतहीन लड़ाई है जिसे रचना की भूमि पर पाठ की परिधि में बांधकर हम विराम नहीं दे सकते।

संपर्क:

चतुर्भुज ठाकुर मार्ग, गन्नीपुर, पो.— रमना, मुजफ्फरपुर, बिहार,
पिन- 842002, मो. 9431281949, ईमेल- poonamkalam@gmail.com

हिंदी सिनेमा में नयी स्त्री

सुनीता गुप्ता

आज के तकनीकी युग में सिनेमा एक ऐसा कला माध्यम है जिसकी उपस्थिति को नकारा जाना संभव नहीं है। अपनी संरचना में पूर्णतया तकनीक पर आधारित यह वह माध्यम है जो कला की सुरुचिपूर्णता और लोकप्रिय कला की जनप्रियता को एक साथ स्पर्श करता है। जब गौतम घोष लिखते हैं कि “सिनेमा इस शताब्दी की एक नयी भाषा है” तो इसका सीधा अर्थ यही है कि सिनेमा भी अभिव्यक्ति का एक माध्यम है और आज के समय में समाज के साथ सिनेमा के संबंधों को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। सिनेमा को यदि आज के युग की भाषा कहा जाता है तो स्पष्ट है कि भाषा चाहे अटपटी हो या अस्पष्ट या आलंकारिक— यह कुछ कहती तो जरूर है।

सिनेमा स्त्री चेतना को समझने का एक अच्छा माध्यम हो सकता है। प्रथम तो इसलिए कि समाज का आधा हिस्सा होने के कारण उसकी उपस्थिति वहां स्वाभाविक है। लेकिन उससे भी बढ़कर इसलिए भी कि अधिकाधिक दर्शकों तक पहुंचना उसका लक्ष्य है उनको खींचने के लिए चारे के रूप में स्त्री का इस्तेमाल होता है। सिनेमा कभी तो अपने कथ्य के अनिवार्य घटक के तौर पर स्त्री का इस्तेमाल करता है और कभी ग्लैमर के तौर पर; पर दोनों ही स्तर पर स्त्री वहां उपस्थित होती है तो दर्शकों को लुभाने के लिए ही। स्त्री की यह उपस्थिति चाहे अनचाहे बहुत कुछ कह ले जाती है। सिनेमा में वर्णित यथार्थ हो या आदर्श, दोनों ही अपने वास्तविक रूप में इस संशोधन के साथ प्रस्तुत किये जाते हैं कि वे आकर्षक लग सकें। अपने समय के प्रचलित मुहावरे पर आधारित सिनेमा सच को जिस तरह ग्लैमराइज्ड करके प्रस्तुत करता है, वह आगे चलकर अपने समय के मुहावरे गढ़ने में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। इस रूप में स्त्री व सिनेमा का संबंध पारस्परिकता का है। सिनेमा समाज की मानसिकता से परिचालित होता है और पुनः सिनेमा में चित्रित वे ही छवियां समाज की मानसिकता को प्रभावित करती हैं। सिनेमा द्वारा निर्मित स्त्री छवि समाज के लिए आज रोल मॉडल के समान है। सिनेमा का जो लोकप्रिय रूप है, वहां स्त्री; पुरुष वर्ग को रिझाने के तमाम तामझाम और लटकियों के साथ उपस्थित है, ठीक उसी तरह जैसे रीतिकाल के साहित्य में वर्णित नायिकाएं। कहना न होगा कि यह आधुनिक स्त्री का डिमोशन ही है। मुक्ति का व्यक्तिवादी संस्करण रचतीं इन स्त्रियों के माध्यम से ये फिल्में मुक्ति का छद्म गढ़ती हैं जिसका परिणाम यह होता है कि छद्म मुक्ति पर आधारित इन स्त्रियों की अस्मिता कब कुछ अवसरवादी लोगों द्वारा क्रय कर ली जाती है— इन्हें पता भी नहीं चलता। सवाल यह है कि क्या इसे समाज में प्रचलित मानदंडों से अलग करके देखा जा सकता है? फिल्म निर्माताओं का प्रयास ज्यादातर यही रहता है कि फिल्म में वे वो ही चीजें डाली जायें जो दर्शकों द्वारा पसंद की जायें। इस ट्रेंड से हटकर जब भी फिल्म बनाने के प्रयास हुए हैं, फिल्म बॉक्स ऑफिस पर पिट जाती है। तात्पर्य यह है कि फिल्में अपने दर्शकों की मनोवृत्ति से ही संचालित होती हैं। ऐसे में सिनेमा की अपसंस्कृति को समाज से काटकर नहीं देखा जा सकता।

सिनेमा में स्त्री की छवि उसकी सामाजिक स्थिति के अनुरूप बदलती रही है। जिसे हम

लोकप्रिय सिनेमा कहते हैं, वह कला से भी अधिक मनोरंजन का साधन है। स्वाभाविक है कि इसके उपकरण मनोरंजन के रूप में ही प्रयुक्त हों। इसलिए आश्चर्य नहीं कि स्त्री भी यहां मनोरंजन के उपकरण के रूप में आती रही है। यही कारण है कि जिस प्रकार वह जीवन से बहिष्कृत रही, उसी प्रकार सिनेमा के मुख्य पटल पर होते हुए भी उसका अंतर्गमन वहां अनुपस्थित ही रहा। सुखद बात यह है कि स्त्री के प्रति संवेदनशील हो रहे समाज के साथ सिनेमा में भी स्त्री के अंतर्गमन के लिए स्पेस बन रहा है।

सामाजिक परिदृश्य को देखें तो ये उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक थे जब स्त्री चेतना में एक नया उभार आता है। नवजागरण का सूत्रपात ही स्त्रियों की दशा में सुधार के साथ हुआ था। सदी के अंत तक आते-आते स्त्रियों ने इसकी बागडोर पुरुषों के हाथ से अपने हाथों में ले ली। स्त्री चेतना की यह धारा विभिन्न संगठनों के गठन से होती हुई साहित्यिक-राजनीति-सामाजिक गतिविधियों में सक्रियता पाती है। यह वह समय है जब वी. शांताराम जैसे सामाजिक दृष्टि संपन्न निर्देशक द्वारा 'दुनिया ना माने' जैसी फिल्म का निर्माण होता है। यह अनायास नहीं कि ठीक इसी दौर में महादेवी वर्मा के 'शृंगला की कड़ियां' के निबंधों की रचना होती है। इस प्रकार की फिल्मों प्रमाण हैं कि फिल्म में कला के उच्चतम प्रयोग किये जा सकते हैं, साथ ही फिल्मों के द्वारा सामाजिक चेतना की बड़ी सार्थक अभिव्यक्ति हो सकती है। सन् 1937 में वी. शांताराम के द्वारा निर्मित 'दुनिया ना माने' फिल्म की प्रगतिशीलता को इसी से समझा जा सकता है कि इसका स्वर सीधे नब्बे की दशक की स्त्री चेतना से जुड़ता है। कई अर्थों में यह एक क्रांतिकारी फिल्म थी। वी. शांताराम उन निर्देशकों में आते हैं जिन्होंने फिल्म कला को सामाजिक चेतना के साथ जोड़कर अपनी अविस्मरणीय फिल्मों के द्वारा उसे अप्रतिम ऊंचाई प्रदान की। 'दुनिया ना माने' स्त्री चेतना में आ रहे नवीन आलोड़न को बड़े जागरूक व यथार्थवादी ढंग से प्रस्तुत करती है। 'दुनिया ना माने' के बाद लंबे समय तक यह स्वर फिल्म जगत से अनुपस्थित रहा। यदि यह प्रतिरोध का स्वर ही है जो स्त्री चेतना को स्त्री विमर्श की संज्ञा दिलाता है, तो फिल्मों में इसकी प्रथम

अभिव्यक्ति यहीं देखने को मिलती है।

स्वतंत्रता आंदोलन में बढ़ चढ़ कर भागीदारी निभाने वाली स्त्री चेतना के बाद के वर्षों में कुछ समय के लिए मंद पड़ जाती है और आठवें दशक की राष्ट्रीय अंतर्राष्ट्रीय घटनाओं से धार ग्रहण करती हुई सदी के अंतिम दशक में आकर परवान चढ़ती है। अंतर्राष्ट्रीय महिला वर्ष तथा अंतर्राष्ट्रीय महिला दशक की उद्घोषणा का यह असर जरूर हुआ कि स्त्री संबंधी विषयों पर जागरूकता आयी, सामाजिक व राजनीतिक सक्रियताएं बढ़ी जिसकी परिणति यह हुई कि अंतिम दशक तक आते आते स्त्रियों की एक ऐसी पीढ़ी सामने आयी जो अपने अंतर्द्वन्द्वों से उबर कर मुखर व प्रतिरोधपरक हो रही थी। उसने उस पारंपरिक मान्यताओं व शीलता के आवरण पर सवाल उठाये जिनकी ओट में पितृसत्तात्मक व्यवस्था का शोषण चक्र चलता है। स्त्री पितृसत्ता की साजिशों को समझने लगी और इसलिए मर्यादा के दोहरे मानदंडों से दिग्भ्रमित होने को अब वह प्रस्तुत न थी।

नयी सदी स्त्री के लिए नया आकाश लेकर आयी जिसकी जमीन नब्बे के दशक में ही तैयार होनी शुरू हो गयी थी। भारतीय परिवेश में नब्बे का दशक बहुत सारे आड़ोलन लेकर आया। आर्थिक उदारवाद ने सामाजिक जीवन की जकड़नों को तोड़ने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी और इस तरह सामाजिक उदारवाद की भी जमीन तैयार हुई। अंतर्राष्ट्रीय महिला वर्ष तथा अंतर्राष्ट्रीय महिला दशक की उद्घोषणा के बाद आयी स्त्री चेतना ने पारंपरिक जकड़नों को हिलाना तो शुरू कर ही दिया था, नब्बे के दशक तक आते-आते इसने प्रौढ़ रूप धारण कर लिया। फिल्मों में भी इस नयी स्त्री की आहट महसूस की जा सकती है।

समकालीनता की सीमा यहीं से निर्धारित की जाती है। वर्तमान मनुष्य के उत्तर आधुनिक परिवेश की पृष्ठभूमि यहीं से बननी शुरू होती है। यह समय बड़े आख्यानो के साथ परंपरागत मूल्यों के खात्मे का भी है। पारंपरिक मूल्यों के साथ वर्जनाएं भी टूटें। इन वर्जनाओं के टूटने का सबसे बड़ा असर यह हुआ कि बाहर का कार्यक्षेत्र स्त्री के लिए खुल गया। इसका परिणाम दो रूपों में सामने आया— एक तो बाजार की चकाचौंध में शामिल हो मुक्ति के छद्म

को जीती स्त्री। लोकप्रिय फिल्मों इसी स्त्री को प्रस्तुत करती हैं जिनकी आधुनिकता उनके वस्त्रों, हेयर स्टाइल और फैशन तक ही सीमित होती है। फिल्मों में कूल्हे मटकाती, एड़ी से चोटी तक एक्सेसरीज से लदी फदी यह स्त्री पुरुषों के लिए मनोरंजन का उपकरण भर है। इन स्त्रियों को रीतिकाल की नायिकाओं का पुनर्संकरण माना जा सकता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह स्त्री आम स्त्री को प्रतिबिंबित करती है। इस आम स्त्री के लिए मुक्ति का अर्थ बस इतना ही है। पर इसके साथ ही आश्वस्तिपरक यह है कि मुक्ति के छद्म में जीती यह स्त्री मुक्ति के छोटे-छोटे उपकरणों के द्वारा मुक्ति के वास्तविक अर्थ तक पहुंचने लगी है। इस स्त्री को 'बंटी व बबली' जैसी फिल्मों में देखा जा सकता है। फिल्म के अंत में बबली की यह स्वीकरोक्ति कि अब उसने एक मर्तबा और आम का आचार बनाया न तो वह मर जायेगी, इस बात का परिचायक है कि आज की स्त्री को अब और घर की चहारदीवारी में बांधकर नहीं रखा जा सकता। दूसरी तरफ उस पावर वुमेन का प्रादुर्भाव हुआ जो बाहरी जगत में पुरुष के साथ काम करती, पारंपरिक बंधनों व मर्यादा की सीमाओं को तोड़कर अपने जीवन का निर्णय स्वयं लेती है, यह अलग बात है कि उसकी मुक्ति की भी सीमाएं हैं। इस नयी स्त्री को मधुर भंडारकर आदि की फिल्मों में देखा जा सकता है।

इस बीच के समय में 'साहब, बीबी और गुलाम', 'पाकीजा', 'गाइड', 'उमराव जान', 'सुबह', 'यह कैसा इंसाफ', 'इक पल', 'परोमा', 'भूमिका', 'मंडी', 'बाजार', 'आखिर क्यों', 'दामिनी', 'निकाह', जैसी स्त्री केन्द्रित फिल्मों का निर्माण हुआ जिनमें स्त्री जीवन की त्रासदियों को समझने का गंभीर प्रयास दिखलाई देता है। बंगला के मशहूर उपन्यासकार विमल मित्र के उपन्यास पर आधारित 'साहब, बीबी और गुलाम' गुरुदत्त जैसे निर्देशक के हाथों से संवरकर एक अमर कृति बन गयी। उन्नीसवीं सदी के आरंभिक दशक के ऐयाश व ढहते सामंती परिवार में स्त्री जीवन की त्रासदी को यह फिल्म बहुत ही कलात्मकता से प्रस्तुत करती है। मीना कुमारी के रूप में सामंती परिवारों की स्त्री की पीड़ा साकार हो उठी है। 'उमराव जान' भी साहित्यिक कृति पर आधारित है जो पहले स्वतंत्रता संग्राम

के दौर में स्त्री तस्करी व तवायफ वर्ग की स्त्रियों के आंतरिक जीवन की कथा कहती है। 'गाइड' आर. के. नारायण के उपन्यास पर आधारित फिल्म है। पुरुष सत्ता के वर्चस्व तले घुट रही एक औरत और उसकी प्रतिभा के अंतर्द्वन्द्व को वहिदा रहमान ने रजत पटल पर साकार कर दिया है- 'आज फिर जीने की तमन्ना है, आज फिर मरने का इरादा है' - गीत उस युग की स्त्री के अंतर्द्वन्द्व को अभिव्यक्त करता है। 'यह कैसा इंसाफ', 'आखिर क्यों', 'भूमिका', 'घर'- ये फिल्मों भी स्त्री जीवन के अलग-अलग पहलुओं से साक्षात्कार कराती हैं। स्त्री की समस्याओं पर इन फिल्मों में बड़ी गंभीरता से फोकस किया गया है। कहा जा सकता है कि इन फिल्मों में अपनी जमीन तलाशती व आत्मविश्वास अर्जित करती स्त्री को देखा जा सकता है। पर ये स्त्रियां वे हैं जो अपने बंधनों से तो परिचित हैं पर रास्तों से नहीं। परिणाम यह होता है कि इनका संघर्ष इन्हें वापस अपनी ही सीमाओं में लौटा लाता है और ये अपने आप में कैद होकर रह जाती हैं। नयी सदी की स्त्री तो वह है जो उन छद्मों को नकारने का साहस ही नहीं रखती जिनने उसके चारों तरफ लक्ष्मण रेखाएं खींची हैं, बल्कि अपनी राह भी बनाती है।

नब्बे के दशक में बड़ी तादाद में ऐसी फिल्में आयीं जिन्होंने लोकप्रिय धारा की होने के बावजूद स्त्री के बदलते स्वर को पहचाना। इन फिल्मों में स्त्री के प्रतिरोधात्मक स्वर को प्रमुखता मिली। शरीर के साथ-साथ अब वह दिमाग का इस्तेमाल करना भी सीख गयी। अपने रिश्तों को अपने ढंग से परिभाषित करना सीखा। उसकी स्थिति महज गुड़िया सदृश्य नहीं रही। परिवार व समाज में हो रहे अन्याय के खिलाफ उसे आवाज उठाते इन फिल्मों में देखा जा सकता है। 'दामिनी', 'तेजस्विनी', 'इंसाफ का तराजू', 'मुझे इंसाफ चाहिये', 'बेटा', 'प्रतिघात' आदि फिल्मों स्त्री की सोच में आ रहे इस बदलाव को बतलाती हैं। पर इसी के समानान्तर 'लाडला' जैसी फिल्मों भी बनती हैं जहां एक उद्योगपति स्त्री को नायक उसकी औकात बतलाता है और वह सुधरकर 'औरत' बन जाती है जो पति के लिए टिफिन तैयार करती है और घर पर उसका इंतजार करती है। ऐसी फिल्मों समाज की उस मानसिकता को दिखलाती

हैं जहां पुरुष अभी भी अपनी रोटी पकाने के लिए स्त्री को घर में देखना चाहता है। पति स्त्री को घर में कैद रखना चाहता है, बाजार उसे वस्तु बनाने को उद्धत है- 'सेक्सी सेक्सी मुझे लोग बोले', 'तू चीज बड़ी है मस्त मस्त', 'चोली के पीछे क्या है' जैसे गीत स्त्री के वस्तुकरण की परंपरा को ही आगे बढ़ाते हैं। एक समय था जब हेलेन आदि कुछ विशिष्ट कलाकारों द्वारा ही इस प्रकार के आइटम गीत प्रस्तुत किये जाते थे। नब्बे के दशक में इस प्रकार के वल्गर गीत नायिका स्वयं गाने लगी हालांकि इस प्रकार के गाने के पीछे कोई कारण, जैसे नायक को गुंडों के चंगुल से छुड़ाना या पुलिस की मदद करना आदि हुआ करता था। इक्कीसवीं सदी में भी इस प्रकार के गीतों का विस्तार हुआ। फर्क यही आया कि अब इन बहानों का भी लोप हो गया और नायिकायें स्वयं धड़ल्ले से आइटम गीत प्रस्तुत करने लगीं। यह और कुछ नहीं उस बाजारवाद का असर है जिसने व्यक्ति को वस्तु में परिणत कर दिया जिसका सबसे अधिक खामियाजा स्त्री को भुगतना पड़ा। मनोरंजन व मस्ती जीवन का एक मात्र लक्ष्य बन गया जिसने अश्लीलता व नैतिकता ही हर सीमा को तोड़ डाला। एक तरह से इसे नैतिकता के जड़ आवरणों में बंद समाज की प्रतिक्रिया भी माना जा सकता है।

इस दौर में कुछ गंभीर फिल्में भी आयीं जिनमें स्त्री चेतना में आ रहे बदलाव को सूक्ष्मता से अभिव्यक्त किया गया है। 'अर्थ', 'अस्तित्व', 'दामिनी', 'तेजस्विनी', 'यह कैसा इंसाफ', 'आखिर क्यों', आदि इसी दौर की फिल्में हैं। इन फिल्मों में मुखर होती स्त्री चेतना को आकार ग्रहण करते हुए देखा जा सकता है। 'अस्तित्व' में पति के प्रति आजीवन निष्ठा निभाने वाली नायिका की अनजाने में हुई भूल जब नायक के लिए असहनीय हो उठती है तो नायिका पारंपरिक नारी की तरह रोती बिसूरती हुई चरणों में नहीं बिछ जाती है और न ही माफी मांगने को प्रस्तुत होती है। वह घर छोड़ देती है। सबसे बड़ी बात कि इस मुद्दे पर उसे नयी पीढ़ी का समर्थन मिलता है। हिंदी फिल्मों की रोती बिसूरती, 'मैं चपु रहूंगी' के शहीदाना भाव से त्याग करती सहनशील नारी मूर्ति के बीच यह एक नया स्वर था जो एकबारगी चौंका देता है। इसी दौर की फिल्म है 'अर्थ'।

शबाना आजमी के प्रखर हस्तक्षेप व महेश भट्ट के साहस व जुझारूपन ने इस फिल्म को मील का पत्थर बना दिया। शबाना आजमी के प्रतिवाद पर यदि महेश भट्ट ने इसका अंत बदलने का जोखिम न उठाया होता तो अपने समस्त कलात्मक वैशिष्ट्य के बावजूद यह एक साधारण फार्मूला फिल्म बनकर रह जाती। पति पर पूर्णतः निर्भर पति की बेवफाई से टूटी हुई नायिका अपना स्वत्व अर्जित करती हुई उस मुकाम पर पहुंचती है जहां क्षमा की भीख मांगते पति को इंकार करने का साहस अर्जित कर पाती है। सब कुछ खोकर वापस लौटे पति से वह एक ही सवाल पूछती है कि यदि मैंने यह सब किया होता और लौटकर तुम्हारे पास आती तो क्या तुम मुझे स्वीकार पाते? नायक सच्चे दिल से स्वीकार करता है कि नहीं और लौटकर चला जाता है।

'यह कैसा इंसाफ' उस व्यवस्था पर चोट करती है जिसके तहत स्त्री पुरुष के लिए दोहरे मापदंड बने हुए हैं। 'आखिर क्यों' में स्त्री को अपनी जिंदगी चुनने की चुनौती के लिए तैयार करने का उपक्रम करती है। फिल्म को अनिर्णय की स्थिति में खत्म कर देना निर्देशक के भय को सूचित करता है तो पारंपरिक मान्यताओं पर सवाल तो खड़े करता है पर उसके विरुद्ध जाने का साहस नहीं ले पाता। इस भय को उसके सामाजिक संदर्भों में देखे जाने की आवश्यकता है। पारंपरिक मध्यवर्गीय समाज अभी इतना उदार नहीं हो पाया था कि स्त्री को अपने जीवन के निर्णय की स्वतंत्रता प्रदान कर सके। नब्बे के दशक में पारंपरिक मान्यताओं पर सवाल तो खड़े होने लगे थे पर सवालों और विचारों को निर्णय के मुकाम तक पहुंचने के लिए लंबी दूरी तय करनी होती है। समाज का यही अंतर्द्वन्द्व यहां देखा जा सकता है।

नयी सदी की लोकप्रिय धारा की फिल्में मुक्त होती स्त्री का आगामी पड़ाव हैं। तमाम मसालों के बावजूद नयी स्त्री का संकल्पयुक्त स्वर यहां बार-बार झलक आता है। 'ताल'- में नायिका अपने प्रेमी को इसलिए नकार देती है क्योंकि उसके पति का अपमान होता है। 'वीरजारा', 'बंटी और बबली', 'श्री इंडियट', जैसी फिल्में यद्यपि न तो कला फिल्म की श्रेणी में आती हैं और न ही स्त्री मुद्दों पर आधारित हैं, फिर भी ये स्त्री मुद्दों से टकराती हैं। 'वीरजारा'

में पाकिस्तान में बाहरी जगत में पहचान स्थापित करने वाली स्त्रियों के संघर्ष की एक झलक सहनायिका रानी मुखर्जी के किरदार में देखने को मिलता है। पाकिस्तान के बंद समाज में एक स्त्री के मानवाधिकारों के लिए किये गये संघर्ष को बड़े यथार्थवादी ढंग से फिल्माया गया है। इसी फिल्म में नायिका का सवाल- 'पर क्या वह मेरे लिए अपनी जान दे सकता है?' और नायिका की माँ की तीखी प्रतिक्रिया कि तू पागल हो गयी है क्या, मर्दों के बारे में कहीं ऐसा कहा जाता है- अपने पीछे एक कड़वी हकीकत की परछाई छोड़ जाता है। 'श्री इडियट' की स्त्री लज्जा की पारंपरिक सीमा का उलंघन कर स्त्रीत्व को नये ढंग से परिभाषित करती है। न तो उसे अपने प्रेम प्रदर्शन में कोई संकोच होता है और न ही अपने गर्भ को लेकर कोई लज्जा का भाव है। पिछले वर्ष रीलिज हुई 'डर्टी' फिल्म स्त्री केन्द्रित है जो संभावना तो जगाती है, पर सेक्स व देह प्रदर्शन के आधार पर सफलता शार्टकट इसे मसाला फिल्मों की श्रेणी में रख देता है और यह कोई गंभीर संदेश नहीं दे पाती। दक्षिण भारतीय अभिनेत्री सिल्क स्मिता के जीवन पर आधारित इस फिल्म में समाज के उस कड़वे सच को रखा गया है जहां शरीर की कीमत देने वाले तो बहुत हैं पर बदनामी सिर्फ स्त्रियों के हिस्से आती है। ऐसे में फिल्म की केंद्रीय उक्ति 'हर कोई कमर में हाथ डालना चाहता था, किसी ने सर पर हाथ क्यों नहीं रखा?' एक बड़ा सवाल छोड़ जाता है। 'डर्टी' फिल्म प्रमाणित करती है कि किसी बोल्लड थीम को उठा लेना ही अपने आप में पर्याप्त नहीं होता, उसे ऊंचाई तक पहुंचाने के लिए कुशल संयोजन की आवश्यकता होती है जिसके अभाव में वह सतही बन कर रह जाती है। उसके कलात्मक उभार के लिए अनिवार्य होती है दृष्टि संपन्नता तथा सामाजिक और वैचारिक प्रतिबद्धता। फिल्म सफलता के शार्टकट की जिस केंद्रीय थीम को लेकर चलती है, वही इस फिल्म की भी सीमा बन जाती है। इस फिल्म की परिणति भी नायिका की तरह ही होती है और यह एक ऐसी फिल्म बनकर रह जाती है जो थोड़े ही दिनों बाद जनमानस की स्मृतियों से उतर जाती है, इतिहास पर अपनी कोई छाप छोड़े बगैर।

लोकप्रिय सिनेमा के समानांतर हर युग में कलाकारों

का एक प्रबुद्ध वर्ग रहा है जो सिनेमा का उपयोग अर्थवान कला माध्यम के रूप में करता है। नयी सदी में कई ऐसी फिल्मों भी आती हैं जो स्त्री संबंधी मुद्दों को फार्मूला फिल्मों के सरलीकरण से हटाकर उनकी समग्रता में देखती हैं। इन फिल्मों में स्त्री व्यक्तित्व को आकार ग्रहण करते दिखलाया गया है जो स्त्री चेतना को तार्किक संगति देता है। सिनेमा की विधा का लेखक फिल्म का निर्देशक होता है जो अपने सर्जनात्मकता के स्पर्श से फिल्म को एक अनुभव बना देता है। महेश भट्ट, शेखर कपूर, प्रकाश झा आदि कुछ ऐसे ही फिल्म निर्देशक हैं जिनकी फिल्मों प्रमाणित करती हैं कि इनके पास स्त्री प्रसंगों को लेकर एक सुलझी हुई दृष्टि है। ये फिल्में एक मानदंड स्थापित करती हैं। इन फिल्मों में उस दृष्टि को देखा जा सकता है जो हर प्रकार की पारंपरिक मान्यता से परे जाकर स्त्री का आकलन एक मनुष्य के रूप में करती हुई उसे समग्रता में देखने का प्रयास करती हैं और इस प्रकार फिल्मों को कला से परे महज तकनीक मानने की धारणा को ध्वस्त करती हुई सिनेमा को नयी सदी की सार्थक भाषा में तब्दील कर देती हैं।

सिनेमा यदि सस्ते मनोरंजन के रूप में अपसंस्कृति का पर्याय बनता है तो प्रतिबद्ध हाथों में पड़कर कला का उत्कृष्ट नमूना भी जहां फिल्म सामाजिक संचेतना का वाहक बन जाती है। शेखर कपूर, प्रकाश झा, जग मुन्दरा, मधुर भंडारकर आदि ऐसे ही निर्देशक हैं जहां व्यक्ति अपने पूरे परिवेश की अनिवार्य कड़ी बनकर आता है। प्रकाश झा अपनी फिल्मों में विविध सामाजिक मुद्दों से जूझते हैं। 'मृत्युदंड' उनकी स्त्री मुद्दों पर केंद्रित फिल्म है। ग्रामीण समाज में डायन कहकर स्त्रियों की हत्या का प्रचलन अभी भी मौजूद है। बिहार के एक गाँव की पृष्ठभूमि में इसी समस्या को यहां उठाया गया है। बिहार के गांव अभी भी उन्नीसवीं सदी में जी रहे हैं जहां की सामंती मानसिकता राजनीति के साथ जुड़कर नीम चढ़े करैली की तरह विषैली हो जाती है और जिसका कहर अंततः स्त्री पर आकर टूटता है। अपनी नपुंसकता को संन्यास के आवरण में छुपाता पुरुष स्त्री की आशाओं आकांक्षाओं से अनजान ही नहीं बनता, बल्कि उसके हिस्से बांझ के आरोप को अपनी चुप्पी से पुष्ट करता है। नायिका के रोल में माधुरी दीक्षित

में इक्कीसवीं सदी की स्त्री; प्रतिरोध के स्वर के साथ उपस्थित होती है, इसे फिल्म के एक डायलाग से समझा जा सकता है जहां पति के उठे हुए हाथ को रोककर चेतावनी देती है- 'पति हो, पति की तरह रहो, परमेश्वर बनने की भूल मत करो।' शबाना आजमी उसकी जेठानी की भूमिका में हैं। पूजा पाठ में डूबे रहने वाले नपुंसक पति की पत्नी की भूमिका में वह मौन भाव से परिवार की मर्यादा का निर्वाह करती हुई बीमारी की अवस्था में पति की उपेक्षा से मर्माहत अपने ही घर के सेवक के साथ शारीरिक संबंध बना लेती है और गर्भवती होती है। यहां से फिल्म की असली कहानी प्रारंभ होती है। नायिका ग्रामीणों से टक्कर लेती हुई उसके पक्ष में खड़ी होती है और आगे की घटनाएं बताती हैं कि कैसे इस प्रकार की घटनाएं डायन की हत्या की एक खबर में परिणत कर दी जाती हैं।

प्रकाश झा ने स्त्री मुद्दों पर केंद्रित फिल्म नहीं ही बनायी हैं- 'मृत्युदंड' को छोड़कर। पर 'मृत्युदंड' फिल्म बनाती है कि स्त्री मुद्दों पर उनकी अच्छी पकड़ है। ग्रामीण समुदाय की मानसिकता को उन्होंने इस फिल्म में बड़ी बारीकी से पकड़ा है।

समकालीन सिनेमा के एक चर्चित हस्ताक्षर है मधुर भंडारकर। वे एक ऐसे फिल्म निर्माता हैं जिनकी फिल्में महानगरों में रहने वाली उन स्त्रियों के संघर्षों को साकार करती हैं जो कारपोरेट सेक्टर, फिल्म जगत, पत्रकारिता, फैशन वर्ल्ड में जगह बनाने के लिए जद्दोजहद कर रही हैं। पुरुषों के साथ इस नयी स्त्री के रिश्तों के कई कई रूप हैं- कहीं ये पुरुषों की सहकर्मि भर हैं, कहीं प्रेयसी, कहीं मित्र और इन रिश्तों से गुजरते हुए कभी तो पुरुष का निश्छल सहयोग उसे मिलता है तो कहीं उनकी लोलुपता से साक्षात्कार होता है। पुरुषों की लोलुपता को बिना किसी कुंठा के सहज भाव से परखती हुई उनसे बचकर निकलती आज की स्त्री का प्रतिनिधित्व करती है जो कहीं तो पुरुष को उसकी औकात बताती है और कहीं कैरियर के लिए उनके सामने निर्द्वन्द्व भाव से शरीर भी परोसती है। इस नयी स्त्री के सामने फिसलन भरी कई कई पगडंडियां हैं जिन पर संभलकर चलती भी है और कभी रपटकर फिसलती भी है- पर जो कुछ भी सही या गलत वह करती है वह बिल्कुल अकुंठ

भाव से देवी की तरह नहीं, मानवी की तरह। यह फिसलती है तो फिर संभलने का साहस भी रखती है। मधुर भंडारकर की फिल्म एक अत्यंत परिचित चेहरा है अभिनेत्री कोंकणा सेन का। अपनी उन्मुक्त जीवन शैली, वेशभूषागत लापरवाही, काम के प्रति निष्ठा, मूल्यों के प्रति आग्रह और इन सबके साथ वह साहस जिन पर नयी सदी की उम्मीदें टिकी हुई हैं- इस रूप में वह आज की प्रगतिशील स्त्री चेतना का वाहक बनती है।

मधुर भंडारकर अपनी फिल्मों में नयी स्त्री व उसकी जद्दोजहद को प्रस्तुत तो करते हैं, पर एक सीमा के आगे वे भी नहीं बढ़ पाते। 'ए लाइफ इन मेट्रो' में उनकी नायिका बावजूद सारे अपमान व प्रताड़ना के, घर की सीमा का उल्लंघन नहीं कर पाती। इसे क्या माना जाय- अपने समय की सीमा या निर्देशक की? हिंदी फिल्मों आम दर्शकों की मनोवृत्ति के पार जाने का साहस नहीं कर पातीं। आज जबकि समाज में तलाक व घर टूटने की घटनाएं दुर्लभ नहीं रहीं, ऐसे में मधुर भंडारकर जैसे निर्देशक द्वारा अपनी नायिका को पुनः घर की सीमा में लौटा लाना उनके साहस की कमी को भी दिखलाता है और पुरुषवादी दृष्टि को भी। उनकी ताजातरिन फिल्म 'हिरोइन' फिल्म जगत के इसी पुरुषवादी वर्चस्व से साक्षात्कार कराती है। सुपर वीमेन की तरह दिखने वाली फिल्म तारिकाओं का आंतरिक सच यही होता है कि यहां भी उन्हें पुरुष वर्चस्व तले अपनी पहचान बनानी पड़ती है जो उसके शरीर का उपयोग करने के बाद उसे दूध की मक्खी की तरह निकाल बाहर करता है। सवाल यहाँ यह उठता है कि साहित्य जगत की वर्षा वशिष्ट (मुझे चांद चाहिए) और फिल्म जगत की माही (हिरोइन) में इतना फर्क क्यों है? और यह भी कि क्यों राजेश खन्ना जैसे हीरो का एकाकीपन फिल्म जगत को आकृष्ट नहीं करता? क्या अपने बलबूते पर आसमान छूती स्त्री अभी भी पुरुष को स्वीकार्य नहीं है? पुरुष का साथ अभी भी स्त्री के लिए क्यों इतना जरूरी है कि उसका साथ छूटना उसे आज भी तोड़ जाता है जबकि पुरुष को कोई फर्क नहीं पड़ता? यह 'बर्फी' है हिंदी फिल्मों में जहां स्त्री को शायद पहली बार पति की इच्छा के विपरीत अपने जीवन का निर्णय लेते दिखलाया गया है।

समकालीन सिनेमा में जग मुंदरा एक महत्वपूर्ण नाम है जिन्होंने स्त्री मुहों को लेकर कुछ अत्यंत महत्वपूर्ण फिल्में बनायी हैं। 'बवंडर' और 'प्रवोक्ड' इनकी दो उल्लेखनीय फिल्में हैं। 'बवंडर' बहुचर्चित भंवरी देवी कांड पर आधारित फिल्म है। फिल्म की खासियत इसका यथार्थवादी स्वर; जिसके बिना इस फिल्म में जान आ ही नहीं सकती थी। भंवरी देवी कांड की थीम को लेकर फिल्म बनाना एक चुनौतीपूर्ण काम था जिसे मुंदरा जैसे निर्देशक ने बखूबी निभाया है। 'प्रवोक्ड' में भी यथार्थ की घटना को लिया गया है। यह लंदन में बसी पंजाबी मूल की एक महिला की आत्मकथा पर आधारित है। घरेलू हिंसा पर बनी फिल्म को सुगठित ताने में बांधते हुए बड़ी कुशलता से फार्मूला फिल्म बनने से बचाते हुए इसे यथार्थवादी रूप देने में मुंदरा साहब सक्षम हुए हैं। घरेलू हिंसा से आत्मसम्मान खोयी स्त्री के क्रमशः आत्मविश्वास अर्जित करने को अत्यंत स्वाभाविक ढंग से घटते हुए देखना एक अनुभव की तरह है। एक औरत के लिए इससे बड़ी विडंबना और क्या हो सकती है कि उसे जेल में आकर ही पहले पहल आजादी का अनुभव होता है। 'ये कैसी दुनिया है जहां इंसाफ पाने के लिए औरत को पागल करार देना जरूरी होता है...' अपने बच्चों को हिंसा से दूर मानवीय बनाने का संदेश देती यही फिल्म परिपक्व ही नहीं बल्कि एक परिपूर्ण स्त्री दृष्टि का भी परिचय देती है।

नयी सदी में कुछ महिला निर्देशक भी फिल्म जगत में अपनी पहचान स्थापित करती हैं। दीपा मेहता 'वाटर' और 'फायर' लेकर आती हैं। 'फायर' में समलैंगिकता के सवाल को उठाया गया है और इसे पुरुष वर्चस्व वाले समाज में एक विकल्प के तौर पर लिया गया है। अपनी नपुंसकता को भक्ति के आवरण में छिपाता पुरुष अपनी पत्नी की आशाओं आकांक्षाओं की तरफ से आँखें मूंदकर उससे त्याग व मर्यादा के निर्वाह की अपेक्षा रखता है। दूसरी तरफ उसका ही भाई है जो दूसरी स्त्री से अपने संबंधों के बावजूद बड़े भाई की बात रखने के लिए विवाह करता है और अपनी नयी नवेली दुल्हन को निष्ठुरता से छोड़कर न केवल मनमानी करता है बल्कि उसकी उपेक्षा भी करता है। स्त्री की आशाओं आकांक्षाओं को नकारते तो

दोनों ही हैं- एक क्रूरता से तो दूसरा प्रेम से। राधा उस पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करती है जो अपनी स्थिति को अपनी नियति मानकर स्वीकार करती है। नीता आज की स्त्री है- निर्द्वन्द्व व उन्मुक्त। राधा जिसे विकल्पहीनता मानकर अपना दमन करती है, उन्हीं परिस्थितियों में नीता रास्ता तलाश लेती है। नीता आधुनिक युग की उन्मुक्त चेता लड़की है, हर चीज पर सवाल उठाने वाली, अपनी इच्छाओं का सम्मान करने वाली और जो समन्दर देखना चाहती है, नाचती गाती है, अपने मनचाहे कपड़े पहनती है और जो शारीरिक प्यास की परितृप्ति चाहती है। नीता राधा के मन के बंद दरवाजों के कपाटों को खोल देती है। अंतर्द्वन्द्व में पड़ी राधा के सामने सबसे बड़ा सवाल यह है कि क्या अपने लिए जीना पाप है? अंततः वह अपने अंतर्द्वन्द्वों से बाहर निकल आती है और दूसरा विकल्प चुन लेती है। दीपा मेहता ने एक बोल्ट विषय पर बेबाक फिल्म बनाने का जो साहस किया है, उसे नवीन क्षितिजों को स्पर्श करती नयी स्त्री के सामर्थ्य के रूप में देखा जा सकता है। 'वाटर' उनकी एक और महत्वपूर्ण फिल्म है। यह भी अपनी बेबाकी के कारण विवादों के घेरे में आयी थी। यह विधवाओं व विधवा आश्रमों की समस्याओं को उठाती है। आजीवन रसगुल्ले के लिए तरसती विधवा की छोटी सी लालसा की प्रतीकात्मकता काफी दूर तक जाती है।

आज के समय में पहचान बनाती महिला निर्देशिकाओं में किरण खान एक उल्लेखनीय नाम है। 'धोबीघाट' किरण खान की एक सार्थक पहल मानी जा सकती है। यह मुंबई की खोलियों में रहने वाले लोगों की कहानियों को लेकर चलती है। इसी में एक लड़की की कथा भी आ जुड़ती है जो विवाह के बाद बड़े अरमान से मुंबई आती है, पर सी.डी. की तस्वीरें बयान करती हैं कि किस प्रकार उसकी हंसी मुरझायी जाती है। बैकग्राउंड की तस्वीरें उसके पति के रूप में पुरुष वर्ग की रुक्षता व बेवफाई की ओर संकेत करती हैं। महानगर के जीवन में सपनों के क्रमशः मरते जाने की कहानी को किरण खान ने बड़े सुंदर ढंग से व्यक्त किया है।

नयी सदी की फिल्में स्त्री के लिए संभावना जगाती हैं। इसे कुछ उदाहरणों द्वारा समझा जा सकता है। हाल के

वर्षों में कुछ नये नाम आये हैं जिनकी फिल्मों में स्त्री चेतना की बड़ी सुंदर अभिव्यक्ति हुई है। नागेश कुकुनूर के निर्देशन में बनी फिल्म 'डोर' में राजस्थान का एक गाँव है और वहाँ की सामंती परिवेश है। विधवा जीवन की त्रासदी के मध्य स्त्री जीवन में बदलाव की दस्तक को उसके समस्त अंतर्द्वन्द्वों के साथ पकड़ने का अत्यंत सुंदर प्रयास यहां दिखलायी पड़ता है- 'सांचे में पड़े रहना आसान है किंतु निर्णय की डोर अपने हाथ में ले लेना बहुत कठिन।' अपने अंतर्द्वन्द्वों से बाहर निकलती अंततः नायिका अपने जीवन के निर्णय की डोर अपने हाथों में ले लेती है। अपनी इच्छाओं का सम्मान, अपने जीवन का निर्णय स्वयं ले पाने की दृढ़ता, उसके परिणाम के खतरे उठा पाने का साहस, सार्वभौमिक बहिनापा- ये ही वे चीजें हैं जो मुक्ति को संभव बनाती हैं। 'बोल' में मुस्लिम परिवेश में घुटती बच्चे पैदा करती स्त्री है। घुटे हुए बंद माहौल में आज की पीढ़ी अपनी आवाज तलाशती है और अपनी नियति बदल पाने में सक्षम होती है- यह इस फिल्म की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है।

इस प्रकार जिसे समकालीन सिनेमा कहेंगे, उसमें दिखाई जाने वाली स्त्री के तीन रूप हैं- प्रथम को लकड़क मेकअप व लेटेस्ट फैशन के कपड़ों में सजी धजी उस स्त्री का जिसके लिए शारीरिक सौंदर्य ही उसकी अस्मिता का पर्याय है। कहने की आवश्यकता नहीं कि लोकप्रिय सिनेमा की स्त्री यही है और सिनेमा ही क्यों, समाज के एक तबके का सच भी यही है। दूसरी वे जो संघर्ष करती हैं और इसके लिए हर प्रकार के खतरे उठाने को तैयार हैं। पहले वर्ग की स्त्रियां तो मुख्य धारा की फिल्मों का चिरपरिचित चेहरा हैं और दूसरे वर्ग की स्त्रियां वे हैं जिनका उदय नब्बे के दशक में होता है। इन सबके साथ नयी शताब्दी में एक तीसरे वर्ग का भी उदय हुआ है जिसे अधुनातन प्रवृत्तियों की उपज माना जा सकता है। ये वे स्त्रियां हैं जो घर से बाहर अपनी पहचान बनाना चाहती हैं और इस प्रयास में कभी फिसलती भी हैं और कभी संभलती भी। पर बड़ी बात यह है कि फिसलने के बाद ये पुनः उठकर संभलने का साहस रखती

हैं। रोती-बिसूरती, मूक भाव से सब कुछ सहती स्त्रियां अब पीछे छूट गयी हैं।

सिनेमा एक ऐसा माध्यम है जिसकी समाज में पैठ काफी दूर तक है। समाज पर पड़ने वाले इसके प्रभाव को आज नकारा नहीं जा सकता। इसने न केवल पहरावा, रहन-सहन व भाषा पर असर डाला है बल्कि इसका असर सोच और वैचारिकता पर भी पड़ा है। इसके द्वारा एक ऐसी पीढ़ी तैयार हो रही है जो सिनेमाई संस्कृति से संचालित है। ऐसे में सिनेमा की अवहेलना करना अपने समय से आँखें मूंदने के समान है। यह सच है कि सिनेमा में जो सच होता है वह ग्लेमराइज्ड होता है, इसे सजा संवारकर लोगों के मनोनुकूल बनाना सिनेमा की विवशता होती है। पर इस सच से इंकार नहीं किया जा सकता कि सिनेमा अपनी परिधि में एक बड़े तबके के लोगों को समेटता है। इसमें समाज के सभी वर्गों के लोग आते हैं। इन्हें आम कहा जाय तो अतिशयोक्ति न होती। आम इन अर्थों में की ये वे लोग होते हैं जिनकी अपनी कोई वैचारिक समझ नहीं होती, ये बनी बनाई परंपरा पर चलने वाले लोग होते हैं जो अपनी मूल प्रवृत्ति में अत्यंत सुविधाजीवी होते हैं। सुख व मनोरंजन ही इनका चरम ध्येय होता है। इन्हें वह मनोरंजन चाहिए होता है जिसके लिए मस्तिष्क पर जोर नहीं डालना पड़े। सिनेमा से उनकी इस आवश्यकता की पूर्ति होती है। कहने की जरूरत नहीं कि इसमें बुद्धिजीवियों का एक बड़ा तबका भी शामिल होता है। इन अर्थों में सिनेमा को समाज का दर्पण मानने में किसी आपत्ति की गुंजाइश तक नहीं रह जाती। साहित्य की प्रगतिशीलता उसे समय से आगे ले जाती है, पर जिसे हम लोकप्रिय सिनेमा कहते हैं वह बिल्कुल समय के साथ चलती है। समाज के साथ सिनेमा का रिश्ता पारस्परिकता का होता है। अपनी रचना प्रक्रिया में वह समाज का आधार खोजता है और फिर अपनी निर्मिति के बाद समाज पर अपनी छाप छोड़ता है। इस रूप में फिल्में स्त्री चेतना को समझने का माध्यम भी हैं और चेतना निर्मित करने का हथियार भी।

संपर्क : 306, साई कारनेशन अपार्टमेंट, बहादुरपुर फ्लाई ओवर के निकट,
लोहियानगर, पोस्ट ऑफिस, कंकड़बाग, पटना-20, मो. 9473242999

कल्पना और भाषा के नए मुहावरे गढ़ती समकालीन स्त्री-कवि

डॉ. इतु सिंह

एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी विभाग

खिदिरपुर कॉलेज, कोलकाता

स्त्री की रचनाशीलता को सर्वदा प्रश्नांकित किया गया है। लंबे समय तक स्त्री की आत्माभिव्यक्ति पर पहरदारी रही है, परंतु रचनात्मकता को कभी भी लंबे समय तक बाधित नहीं रखा जा सकता है। भारतीय संदर्भ में ही नहीं सम्पूर्ण विश्व साहित्य गवाह है कि स्त्रियों को साहित्यकार के रूप में स्थापित होने के लिए कितना संघर्ष करना पड़ा है। अंग्रेजी साहित्य की प्रसिद्ध लेखिका वर्जिनिया वुल्फ लिखती हैं कि स्त्री की रचनात्मकता को विकसित करने योग्य परिवेश समाज नहीं देता है चाहे वह किसी भी देश का क्यों न हो। वे दुनिया की तमाम स्त्रियों के साथ स्वयं को खड़ा करती हैं- "as a woman I have no country. As a woman my country is the whole world."

हिंदी साहित्य जगत में भी अनेक संवेदनशील स्त्री रचनाकार रही हैं परंतु आलोचकों ने उन्हें पर्याप्त महत्त्व नहीं दिया है। आलोचकों ने उनकी रचनाओं में संभावनाएँ तलाशने की जगह उनकी सीमा तलाशने में अपनी अधिक ऊर्जा नष्ट की है। यह विचार प्रसारित किया जाता रहा है कि चूंकि स्त्री का अनुभव जगत सीमित है और उसका अधिकांश समय घर की चारदिवारी में बीतता है इस कारण उनकी रचनाएँ दायम दर्जे की होती हैं। यहाँ स्वाभाविक तौर पर प्रश्न उठता है कि आधा आबादी की अनुभूतियों और अनुभवों को कम परिपक्व और दायम दर्जे का कहने का अधिकार किसी को कैसे है? यदि स्त्री पुरुष के अनुभव संसार की अभिव्यक्ति नहीं कर सकती तो पुरुष भी स्त्री की अनुभूतियों को प्रामाणिकता के साथ व्यंजित नहीं कर सकता। रचनात्मकता और प्रतिभा लिंग आधारित नहीं होती। बल्कि हमारे अनुभव संसार की ही उपज होती है। एक स्त्री जब भी लिखती है तो एक स्त्री के रूप में ही लिखती है, उसकी कल्पना, कथ्य, भाषा, बिम्ब आदि उसके जगत के ही होते हैं।

बीसवीं सदी में छायावाद के चार स्तंभों में से एक; पर सबसे पृथक् और विशेष महादेवी का मानना था कि स्त्री के अनुभव सटीक रूप से स्त्री ही बयान कर सकती है- "पुरुष के लिए नारीत्व एक अनुमान है, परंतु नारी के लिए अनुभव। अतः अपने जीवन का जैसा सजीव चित्र वह हमें दे सकेगी, वैसा पुरुष बहुत साधना के उपरांत ही दे सके।" महादेवी की कविता की आलोचना करते हुए हमें उनकी रचनाओं में स्वाभाविक तौर पर एक स्त्री की कल्पना, उसकी कोमलता और भाषा-मुद्रा नजर आती है....

उनसे कैसे छोटा है मेरा यह भिक्षुक जीवन/ उनमें अत्यंत करुणा है इसमें अनंत सूनापन।

इस आलेख में मैंने समकालीन हिंदी कविता जगत में सक्रिय स्त्री कवियों की पहचान को पढ़ते हुए रेखांकित करने का प्रयास किया है। इनमें मुख्य रूप से अनामिका, कात्यायिनी, गगन गिल, मनीषा कुलश्रेष्ठ, रंजना जायसवाल, नीलेश रघुवंशी, जया जादवानी, सुनीता जैन की कविताओं को आधार बनाकर स्त्री की भाषा-संसार और कल्पना जगत का ब्यौरा दिया गया है। अनामिका के अब तक सात काव्य संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं जिनके शीर्षक हैं- 'अनुष्टुप', 'गलत पते की चिट्ठी', 'बीजाक्षर', 'खुरदरी हथेलियाँ', 'अब भी वसंत को तुम्हारी जरूरत है', 'दूब-धान' और 'टोकरी में दिगंत'। कात्यायिनी अपने तीखे तेवर के कारण जानी जाती हैं, उनकी अब तक 'सात भाइयों के बीच चंपा', 'इस पौरुषपूर्ण समय में', 'जादू नहीं है कविता' और 'फुटपाथ

पर कुर्सी' काव्य संग्रह प्रकाशित हैं। गगन गिल का अंदाजे बयां भी भिन्न है और उनके काव्य संग्रहों का शीर्षक है— 'एक दिन लौटेगी लड़की', 'अंधेरे में बुद्ध', 'आकांक्षा समय नहीं यह' और 'थपक थपक दिल थपक थपक'। मनीषा कुलश्रेष्ठ के काव्य-संग्रहों में— 'मछलियाँ देखती हैं सपने', 'दुःख पतंग', 'जब मैं स्त्री हूँ', 'जिंदगी कागज पर' उल्लेखनीय है। 'मैं शब्द हूँ', 'अनंत संभावनाओं के बाद भी' और 'उठाता है कोई एक मुट्ठी ऐश्वर्य' जया जादवानी के काव्य संग्रह हैं। नीलेश रघुवंशी के भी अब तक तीन काव्य संग्रह चर्चित रहे हैं— 'घर-निकासी', 'पानी का स्वाद' और 'अंतिम पंक्ति में'। 'रति रंग', 'दूसरे दिन', 'प्रेम में स्त्री' और 'जाने लड़की पगली' सुनीता जैन रचित काव्य संग्रह हैं।

स्त्री लेखन के क्षेत्र में क्रांति लाने में स्त्री विमर्श ने खासी भूमिका निभाई है। आज उनका लेखन उपेक्षा का शिकार नहीं रहा बल्कि उन्हें अधिक अवधान प्राप्त होने लगा है। संकुचित पारिवारिक दायरे से बाहर निकलकर स्त्री का अनुभव जगत भी लगातार विस्तृत हो रहा है। आज उसकी रचना में परिवार से लेकर विश्व तक की हलचल मुखर है। हम उनके यहाँ स्त्रियों को नए सिरे से परिभाषित होते देखते हैं, जिसमें परंपरागत परिभाषाओं को चुनौती दी गई है। अब वह न त्रियाचरित्र है, न ही देवी, न ही दानवी बल्कि उसका संघर्ष मानवी बनने का है जिसकी बात महादेवी ने 'शृंखला की कड़ियाँ' में की है। अनामिका के शब्दों में—

पढ़ा गया हमको/ जैसे पढ़ा जाता है कागज/ बच्चों की फटी कापियों का/ चना जोर गर्म के लिफाफे बनने के पहले.../हम भी इंसान हैं.../हमें कायदे से पढ़ो एक-एक अक्षर (स्त्रियाँ)

इस तरह की माँग करती ढेरों कविताएँ मिलती हैं। रंजना जायसवाल भी स्त्री के अस्तित्व के प्रश्न को उठाती हैं—

स्त्री की/ दुनिया में/ सब कुछ है/ घर-परिवार/ नाते-रिश्ते/ समाज-संसार/बस नहीं है/वह खुद...। (नहीं है जो)

जया जादवानी भी स्त्री को अपने भीतर झाँककर देखने के लिए प्रेरित करती हैं। जिसके बिना संसार में जीवन का जन्म ही संभव नहीं उसको बार-बार निरर्थक होने का फरमान सुना दिया जाता है। इस तरह अपने हक से बेदखल होने को

वे कविता में ढालती हैं तो हम चकित रह जाते हैं—

वह पलटती है रोटी तवे पर/ बदल जाती है पूरी की पूरी दुनिया/ खड़ी रहती है वहीं की वहीं/ स्त्री /तमाम रोटियाँ सिक जाने के बाद भी! (स्त्री)

कात्यायिनी की कविता में भी स्त्री मुक्ति के प्रखर स्वर हैं। ऐसी स्त्रियों से समाज डरता भी है और उसे डराता भी है। उसकी कल्पनाशील होना, सपने देखना परंपरागत ढाँचे में दरार पैदा करता है। उससे निपटने का सबसे आसान तरीका होता है उसके चरित्र पर उँगली उठाना और उसे दुष्चरित्र घोषित कर देना। पर वह रचती है और एक नई तरह की कविता आकार लेती रहती है। वह रुकना नहीं जानती है और उसके संघर्ष की भाषा भी तो नई है, अनोखी है—

यह स्त्री सब/कुछ जानती है/पिंजरे के बारे में/जाल के बारे में/यंत्रणा गृहों के बारे में/उससे पूछो/पिंजरे के बारे में/पूछो/वह बताती है/नीले अनंत विस्तार में/उड़ने के रोमांच के बारे में/जाल के बारे में/पूछने पर/गहरे समुद्र में/खो जाने के सपने के बारे में/बात करने लगती है/रहस्यमय है इस स्त्री की उलटबासियाँ,/इन्हें समझो/इस स्त्री से डरो। (इस स्त्री से डरो— कात्यायिनी)

उपर्युक्त रचनाएँ अपनी विषय वस्तु के कारण ही नहीं बल्कि अपने लहजे के कारण भी नई हैं। इन रचनाओं में स्त्री कवि दुनियाँ को खालिस स्त्री की नजर से देखने का साहस करती है और उसके लिए कविता में नए मानदंड बना रही हैं। अब घर की साधारण सी वस्तुओं के द्वारा गहन मानसिक चिंताएँ और जीवन दर्शन की अभिव्यक्ति हो रही है। अनामिका जो कहना चाहती हैं वह कहने में भाषा एक नया शास्त्र तलाशती हैं। वह रोजमर्रा की वस्तुओं से अंतर्मन की परतें खोलती हैं। देखिए ऐसा सहज बिंब एक स्त्री की कल्पना का ही वैशिष्ट्य है—

मैं एक दरवाजा थी मुझको जितना पीटा गया/ मैं उतना ही खुलती गई।/ अंदर आए आनेवाले तो देखा—/ चल रहा है एक वृहत चक्र/ चक्की रुकती है तो चरखा चलता है/ चरखा रुकता है तो चलती है कैंची—सुई (अनामिका)

यह समूचा जगत नये रूप में उभरता है। जहाँ ये स्त्रियाँ तर्कपूर्ण ढंग से समाज को प्रश्नांकित करती हैं। सिमोन द बोउआर के इस कथन की सत्यता बार-बार प्रमाणित होती

है कि स्त्रियाँ पैदा नहीं होती वे बनाई जाती हैं। तयशुदा जीवन से आगे उसे देखने की इजाजत नहीं होती। उन्हें ऐसे पाला और बड़ा किया जाता है कि उनके सपनों में कोई उड़ान न हो, विवाह करना और किसी का घर बसाना ही उनके जीवन का सबसे बड़ा और अंतिम लक्ष्य बना दिया जाता है। नीलेश रघुवंशी की कविता 'सत्रह साल की लड़की' में वह उसके सपने को विस्तार लेते देखना चाहती हैं—

“ओ मेरी बहन की तरह/सत्रह साल की लड़की/
दौड़ते हुए क्यों नहीं निकल जाती मैदानों में/क्यों नहीं
छेड़ती कोई तान/तुम्हारे सपनों में क्यों नहीं है/कोई उछाल!”

नीलेश रघुवंशी जब स्त्री की दुनियाँ की परतें खोलती हैं तो कहीं भी उनका स्त्रीत्व छूटता नहीं है, जिस सच को हम रोज देखते रहे उसे ही जब वे कहती हैं, उसकी प्राथमिकताएँ कोई अन्य तय करता है— जब भी कभी कविता लिखती है कोई लड़की—

कहा जाता है सीखो मशीन चलाना/ सिलो कपड़े बुनो
स्वेटर/मत धूमों सड़कों पर/मत लो बहसों में हिस्सा।

ऐसे में नीलेश को याद आती हैं प्रसिद्ध रूसी कवयित्री मरीना त्स्वेतायेवा, जिन्हें भी कविता लिखने के कारण ताने सहने पड़ते थे। पर उसने तो रचना नहीं छोड़ा और वह भी निर्धारित दायरे में रहकर भी उसे तोड़ने का संकल्प लेती हैं—

ओ मरीना/तुम्हारी ही तरह/मैं भी बनूँगी कवि/मशीन पर
सिलते कपड़े सिलूँगी कविता/बुनते हुए स्वेटर बुनूँगी शब्द।

इन कविताओं में उपमाएँ, रूपक, प्रतीक और बिंब आदि आते हैं, वे विशुद्ध रूप से स्त्री के संसार के हैं, जिसे स्त्री सहजता से अनुभूत और अभिव्यक्त कर पाती है। यह काव्य जगत में एक नयी दुनिया है। दुख और उदासी पर प्रायः सभी कवियों ने लिखा है, नीलेश रघुवंशी अपनी कविता में इनसे नए ढंग से निपटती हैं—

दुख, ओढ़ूँगी नहीं तुम्हें, बिछाऊँगी तुम्हें/कपड़ों की
तरह पछीट-पछीटकर पत्थर सा चमका दूँगी/दाल में छौंक
लगा भर दूँगी धौंस तुम्हारी सारे घर में/गमले में नहीं हरे-
भरे जंगल में बदल दूँगी तुम्हें।

ऐसी उपमाएँ और प्रतीक काव्य जगत में अपनी नई जगह बनाती नज़र आ रही हैं जिन्हें अब इसलिए नज़रअंदाज़ नहीं किया जा सकता कि ये तो स्त्रियों की दुनिया से हैं। 'उदासी'

कविता में भी देखें उदासी से निपटने का अनोखा तरीका—

चाय की पत्ती की तरह बदल देना चाहिए उदासी को
स्वाद में/घुल देना चाहिए शकर के दानों की तरह/पोंछे की
तरह रगड़ देना चाहिए उदासी को/चमकने देना चाहिए मन
को उजले फर्श की तरह/उदासी को बदल देना चाहिए
साबुन में.../पुराने पड़ गए कपड़ों की तरह उदासी को
बेचकर/नए चमचमाते बर्तन खरीद लेने चाहिए।

यहाँ संसार में स्त्रियाँ लगातार अपनी उदासी, दुख, चिंता को ऐसे ही कामों को करते हुए पीछे ठेलती रहती हैं। वे उन सब के बीच भी हँसने खिलखिलाने की वजहें ढूँढ़ लेती हैं। यही कारण है कि नीलेश रघुवंशी खिलखिलाती लड़कियों के झुंड को देखकर उत्साहित होती हैं क्योंकि उन्हें पता है कि ये खिलखिलाती नदियाँ एक दिन खामोश नदी में बदलने को मजबूर हैं। वह अपनी कविता में इस हँसी को बचाकर रखना चाहती हैं। इसी तरह गगन गिल की कविता एक अलग ही अंदाज़ में स्त्री जीवन के संघर्ष और उसकी संवेदना को उभारती है....

तुम यदि कह देते/वह बताती तुम्हें/कैसे बेलती है
रोटी/एक स्त्री/दूसरे किसी घर में/और भरती है मिट्टी/
उसके मुँह में/कैसे शब्द बनते हैं/मृत तितलियाँ.../कैसे भूल
जाती है एक स्त्री/प्रेम में/सारा स्वाभिमान। (गगन गिल)

गगन की भाषा में अर्थ के कई स्तर उद्घाटित होते हैं। बुद्ध की परित्यक्ता के रूप में यशोधरा का दुख सिर्फ उसका दुख नहीं रहता अपितु वह समस्त स्त्री जाति का दुख बन जाता है। उसकी रसोई को उसकी सीमा मानने वालों को कवयित्री अहसास दिलाती हैं कि यही उसका साम्राज्य है और उसे अपने स्त्री होने का अभिमान है। पर प्रेम के आगे वह सर्वदा ही विगलित रही है...

यह रही/उसकी रसोई/यह लोई/आटे की/अधबनी रह
गई थी/रोटी/तुम्हारे नाम की/पिछले जनम में/अभी तक/
बन नहीं पाई।

अपने प्रेम और संवेदना के लिए इन स्त्रियों के पास ऐसी परिकल्पनाएँ हैं जो उनकी परिस्थिति की ही उपज हैं। सुनीता जैन अपनी माँ की स्मृति में एक काव्य संग्रह 'जाने लड़की पगली' रच डालती हैं और मातृत्व को एक नई परिभाषा देती हैं, सुनीता जैन की कविता 'झाड़ी' में संबंधों

का बिंब देखें-

एक झाड़ी सी चुपचाप खड़ी हूँ/जिसकी जड़ें दूर-दूर तक/खोजती हैं वही/सोंधा संबंध.../भीगी मिट्टी-सा/उसने आटे-सा/पकती रोटी-सा/हल्दी उबटन-सा/पिसी हुई मेंहदी-सा/रचे हुए हाथों-सा।

अनामिका अपने 'दूब धान' संग्रह में बाल-भिक्षु नाम से अपने मातृत्व के अनुभवों को समेटती हैं। बच्चे की एक-एक हरकत से लेकर उसके मासूम प्रश्नों पर कितनी ही कविताएँ रची गई हैं। अनामिका कविता के लिए जिन विषयों को चुनती हैं वे ही स्पष्ट करते हैं कि यह स्त्री की दुनिया के विषय हैं और इन्हीं झरोखों से वह सारी दुनिया का मूल्यांकन करती है। जैसे चंद्रखिलौना, लेडीज संगीत, सेफ्टी पिन, जुएँ, ब्लाउज, बउआ की भूख, मसहरी, चुटपुटिया बटन, नमक आदि शीर्षक कविताएँ हमें नए काव्य संसार के दरवाजे तक ले जाती हैं।

जया जादवानी अपनी कविता में स्वीकारती हैं कि हमारे पास जो अनुभव है जो शब्द संसार है और जो सौंदर्य-बोध है हम तो उन्हीं के आसरे पर अपनी कविता की कथड़ी सिल रही हैं। साहित्य के भव्य सिंहासन और आलोचना के भव्य लोक में इन्हें स्थान मिले न मिले पर हम स्त्रियों की अनुभूति किसी भी तरह कमतर नहीं है...

इतनी कहानियाँ/इतनी कविताएँ/इतने-इतने/शब्द दुनिया समझ रही/इसे समझ/और समाज का आईना/हमने तो/सिली वही/जीने के नाम पर जो मिली कथरी।

कविता कहाँ नहीं होती और क्या हर स्त्री कहीं न कहीं रचती ही नहीं रहती। रंजना जायसवाल की कविता 'सिर्फ कागज पर नहीं' पंक्तियाँ देखें-

सिर्फ कागज पर/नहीं लिखी जाती है कविता/किसान लिखता है/जमीन पर.../शिल्पकार/पत्थर पर... मिट्टी.../बढ़ई/लकड़ी पर.../स्त्री घर के कोने-कोने में/रचती है कविता...। (रंजना जायसवाल)

वह घर के साधारण कामों के बीच ही सुझाती है वैचारिक जगत की गुंथियाँ, जैसे मनीषा कुलश्रेष्ठ की कविता 'कालीन' में प्रतीकात्मकता देखने योग्य है...

लेकर बैठी हूँ कैंची/तराश रही हूँ धागे/फूहड़ लगता है

जीवन का/बुना हुआ विस्तार/निकले हों अनावश्यक धागे तो/माना बनाया है,/इन्हीं धागों ने/महीन डिजाइन मेरे चेतन-अवचेतन का/मगर फिर भी,/आज लेकर बैठी हूँ कैंची/तराश दूँगी गलती से लगी गांठे/बेजा आ उलझे रिश्ते/बड़ी हो गई हूँ/समझती हूँ/सच्ची-झूठी छवियों का खेल/बामुश्किल सीखा है, खुद को और/औरों को/'ना' कहना/इसीलिए आज लेकर बैठी हूँ कैंची।

अपने संसार में उलझी स्त्री कैसे उसे बचाने में बचती और मरती है। वह हमेशा सशंकित झूलती रहती हैं। गगन गिल इस मानसिक अवस्था का बिम्ब रचती हैं- 'ताश के पत्तों का उसका घर/उसके/सिर/पर/हिलता उसकी नौद में/जब-जब/गिर सकता है/कभी भी।' जिस घर को बनाने की आकांक्षा में उसने अपनी सारी आकांक्षाओं का गला घोंटा था अब वह घर वह प्रेम भ्रम सिद्ध हो रहा है। गगन गिल वियोग की पीड़ा को एक भिन्न शब्दों से रचती हैं- 'यहाँ घाव है/उसके न/होने का/यहाँ चिपक जाता है/फाहा/रोने का/यहाँ उघड़ आते हैं रेशे/सफेद-लाल/खुली सड़क पर/यहाँ फिरती है वह/बचाती अपना घाव/दसों दिशाओं से।'।

आज के जटिल समय में जब हर तरफ आशंका और अनिश्चितता व्याप्त है, कविता में उसका आना स्वाभाविक ही है। सभी समकालीन कवियों की कविताएँ अपने समय के यथार्थ को अपने-अपने ढंग से रच रही हैं, उसमें राजनीति है, समाज है, मानवीय अनुभूतियाँ हैं। इन्हीं सब के बीच समकालीन स्त्री रचनाकारों की रचनाएँ हिंदी काव्य जगत में अपनी उपस्थिति दर्ज कर रही हैं। उनकी कविताओं में आतंक, सांप्रदायिकता, राजनीतिक हलचल पर तो कविताएँ हैं ही साथ ही स्त्री-जीवन और स्त्री-चेतना का स्वर भी है। यहीं वे सबसे अलग और विशेष हैं, उनकी शैली विशेष है, उनके भाषा, बिंब, प्रतीक, उपमान नवीन और आकर्षक हैं। जो अब तक कहा नहीं गया वह कहा जाने लगा है और जिसे बार-बार कहा जा चुका है उनको भी कल्पना की नई शैली से नया बनाने का सफल प्रयास दिखता है। हिंदी की समकालीन स्त्री रचनाकारों की रचनाएँ हमें आश्चर्य करती हैं और उनकी आलोचना के लिए एक नए शास्त्र को विकसित करने की माँग भी करती है।

संपर्क: 9432355315

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के उपन्यास : स्त्रीवादी पाठ

डॉ. दीपान्विता माजि

प्रवक्ता, हिंदी विभाग

सावित्री गर्ल्स कॉलेज, कोलकाता

हिंदी साहित्य में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के उपन्यासों का स्त्रीवादी दृष्टि से मूल्यांकन प्रायः अनुपलब्ध है। आचार्य द्विवेदी ऐतिहासिक उपन्यासकार के रूप में जाने जाते हैं। उनके चार उपन्यास हैं- 'बाणभट्ट की आत्मकथा', 'चारुचंद्रलेख', 'पुनर्नवा' और 'अनामदास का पोथा'। ये ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के आधार पर लिखे गये उपन्यास हैं। अतः इन उपन्यासों का ऐतिहासिक दृष्टि से मूल्यांकन की परंपरा है पर वास्तव में ये उपन्यास ऐतिहासिक यथार्थवादी उपन्यास हैं जो मानवीय यथार्थ से अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है।

आचार्य द्विवेदी मानवतावाद के पोषक हैं। मानवतावाद स्त्री-पुरुष में भेद नहीं करता और दोनों को व्यक्ति के रूप में प्रतिष्ठित करता है। स्त्री-अस्मिता, स्त्री-स्वायत्तता तथा स्त्री की सामाजिक प्रतिष्ठा की स्थापना करना द्विवेदी जी के उपन्यासों का उद्देश्य है। इनका चारों उपन्यास सन् 1946 से 1976 के बीच लिखा गया है। यह समय भारतीय राजनैतिक-सामाजिक परिवेश में व्यापक परिवर्तन का समय है। आजादी के बाद भारत-पाक विभाजन, संविधान की रचना तथा धर्म-निरपेक्ष जनतांत्रिक मार्ग पर आधुनिक भारत का निर्माण आदि ने लोगों में नये सामाजिक-राजनैतिक समझ पैदा की। यह समझ 19वीं सदी के पूर्वार्द्ध में शुरू हुए समाज-सुधार आंदोलन और स्वाधीनता आंदोलन से शुरू हुई थी। समाज-सुधार आंदोलन में स्त्री-जागरण का मुद्दा अहम था। स्त्रियों की सामाजिक हैसियत में उन्नति, उनके शोषण-उत्पीड़न का विरोध तत्कालीन समाज-सुधारकों का मुख्य उद्देश्य था। समाज-सुधार आंदोलन तथा स्वाधीनता आंदोलन की इस समूची प्रक्रिया का साहित्यकारों पर गहरा प्रभाव पड़ा, जिससे आचार्य द्विवेदी भी अछूते नहीं रहे। उन्होंने अपने साहित्य में सर्वत्र स्त्री को प्रमुखता दी है और स्त्री की परंपरित निष्क्रिय छवि का खंडन किया है। द्विवेदी जी के चारों उपन्यास स्त्री-पात्रों के व्यक्तित्व विकास की कहानी हैं। इनमें पुरुष की अपेक्षा स्त्रियों को प्रधानता दी गई है। ये स्त्रियाँ दृढ़ व्यक्तित्व संपन्न, बुद्धिमती, सामाजिक सचेतन तथा उच्च वैचारिकता से युक्त स्त्रियाँ हैं। इनमें उपन्यासकार की मूल चिंता स्त्री अस्मिता, स्त्री-स्वायत्तता और महिला सशक्तिकरण को लेकर है। इन तत्त्वों को दर्शाने के लिए उपन्यासकार ने स्त्री समानता, स्वतंत्रता और निजता के अन्तर्विरोधों के चित्रण पर ध्यान केंद्रित किया है। स्त्री के तयशुदा परंपरागत रूपों और सामाजिक भूमिका के बारे में सवाल उठाए हैं। उपन्यासकार की सहानुभूति स्त्री की नयी इमेज, स्वायत्तता और स्वतंत्रता के प्रति है। सभी उपन्यासों में यह साझा तत्त्व है कि स्त्री को अपने

बारे में फैसले लेने का हक होना चाहिए। उसके अपने लक्ष्य होने चाहिए, अपनी स्वतंत्र पहचान होनी चाहिए।

‘व्यक्तिवादी स्त्रीवाद’ स्त्री के व्यक्ति रूप को पुष्ट करता है। इसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति की स्वायत्त पहचान होती है, निजी लक्ष्य होते हैं चाहे वह पुरुष हो या स्त्री। अतः उसे अपनी व्यक्तिगत लक्ष्य की पूर्ति करनी चाहिए। इस लक्ष्य की पूर्ति में वे किसी भी तरह की सामाजिक बाधा के घोर विरोधी हैं। वे सामाजिक लक्ष्य की तुलना में व्यक्तिगत लक्ष्य को अधिक महत्त्व देते हैं। यह स्त्री की वैयक्तिकता को, उसकी स्वायत्तता को निश्चित रूप से पुष्ट करता है पर वह स्त्री को समाज से अलग कर देता है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी अपने उपन्यासों में व्यक्ति को समाज से अलग नहीं करते। बल्कि समाज में रहकर उसके बाधाओं का अतिक्रमण कर स्त्री की स्वायत्तता को प्रतिष्ठित करने की कोशिश करते हैं। इन उपन्यासों की स्त्रियाँ आधुनिक तथा स्वतंत्र व्यक्तित्व संपन्न होने के साथ-साथ मानवतावादी भी हैं। वे किसी से कुछ छीनकर अपनी लक्ष्य की पूर्ति नहीं करते बल्कि बुद्धिवादिता, सामाजिक सचेतनता तथा दृढ़ इच्छाशक्ति के बल पर अपने अभीष्ट की प्राप्ति करते हैं। उनके व्यक्तिगत लक्ष्य सामाजिक उन्नति को खंडित नहीं करता बल्कि उसे उन्नत बनाता है। इस प्रकार द्विवेदी जी के उपन्यासों में चित्रित स्त्री-पात्र परंपरागत स्त्रीत्व के मिथ का खंडन करती हैं, तथा स्त्री के वैविध रूप को उजागर करती हैं।

द्विवेदी जी के उपन्यासों में स्त्रियाँ कई रूपों में नजर आती हैं, जैसे- प्रेमिका, पत्नी, गणिका तथा सन्यासिनी परंतु यह पहचान उनके लिए गौण है और वे इनकी परंपरागत ईमेज का खंडन करती हैं। ‘बाणभट्ट की आत्मकथा’ में भट्टिनी, निपुणिका तथा ‘पुनर्नवा’ में चंद्रा प्रेमिका की परंपरागत भूमिका अदा नहीं करती। वे अपने प्रेमी के प्रति समर्पित हैं परंतु अपनी दृढ़ चेतना खोकर नहीं। यही कारण है कि भट्टिनी और निपुणिका अपने आपको देवी रूप में स्वीकार नहीं करती और बाणभट्ट द्वारा स्त्री-शरीर को देव-मंदिर कहे जाने का विरोध करती हैं। वे स्त्री को उसकी यथार्थ स्थिति के मानदंड पर परिभाषित करना चाहती हैं। भट्टिनी एक जगह निपुणिका से कहती है, “आज भगवान की

बनाई और लाखों कन्याओं की भाँति मैं भी मनुष्य-कन्या हूँ। उन्हीं की भाँति सुख-दुःख का पात्र मैं भी हूँ। उन्हीं की भाँति मेरा जन्म भी अपनी सार्थकता के लिए नहीं है। मेरा अहंकार मर चुका है। अभिमान नष्ट हो गया है, कौलीन्यगर्व विलुप्त हो चुका है। मैं धर्षिता, अपमानिता, कलंकिनी, सौ-सौ मानवियों की भाँति सामान्य नारी हूँ। जगत के दुःख प्रवाह में फेन-बुदबुद के समान मैं भी नष्ट हो जाऊंगी और प्रवाह अपनी मस्तानी चाल से चलता जाएगा।”

भट्टिनी सामान्य नारी की तरह निरर्थक जीवन व्यतीत नहीं करना चाहती, कहीं न कहीं विशिष्ट बनकर जीवन को सार्थक बनना चाहती है। सामान्य से विशिष्ट बनने की ललक, कुछ अलग करने की इच्छा ही स्त्री की स्वतंत्र पहचान बनाती है। इसी इच्छा के बल पर निपुणिका अपने निरर्थक जीवन को अर्थ देने की कोशिश करती है। नाटक-मंडली छोड़ देने पर अकेली, निस्सहाय निपुणिका अपने आपको निःशेष नहीं करती, बल्कि पुनः अपने जीवन के अर्थ खोजने की कोशिश करती है, और बाणभट्ट का साथ पाकर भट्टिनी को छोटे राजकुल के बंदीगृह से मुक्त करने में सफल होती है। भट्टिनी को छुड़ाना जोखिमपूर्ण तथा दुस्साहसिक कार्य था जिसे निपुणिका अपनी बुद्धि तथा साहस के साथ सफल करती है। स्त्रियों की इस तरह के दुस्साहसिक तथा जोखिमपूर्ण कार्य में हिस्सेदारी उसकी परंपरागत पुंसवादी समाज द्वारा निर्धारित ईमेज का खंडन करती है।

द्विवेदी जी के नारी पात्र काल्पनिकता में नहीं जीते बल्कि अपनी इच्छा को वास्तव में रूपायित करने में सक्षम हैं। काल्पनिकता में जीना सामान्य स्त्रियों के लक्षण हैं क्योंकि अपनी इच्छा को वास्तव में रूपायित करने के क्रम में उसे असंख्य बाधाओं का सामना करना पड़ता है। सामान्य स्त्रियाँ इन बाधाओं से लड़ने में डरती हैं, और परिस्थिति के समक्ष समर्पण करती हैं। द्विवेदी जी के नारी पात्र फैंटेसी में नहीं जीती और समस्त बाधाओं को दूर कर आगे निकल जाती हैं। ‘पुनर्नवा’ में चंद्रा आर्यक से प्रेम करती है और विवाहोपरान्त भी इस प्रेम को यथार्थ परिणति देने में सफल होती है। यह जानते हुए भी कि आर्यक की पत्नी मृणाल है, वह विवाहोपरान्त, ससुराल से भाग खड़ी

होती है और आर्यक के प्रति अपने प्रेम की स्पष्ट अभिव्यक्ति करती है। वह अपने प्रेम की अभिव्यक्ति मृणाल से भी करती है और कहीं कोई द्वन्द्व से घिरी हुई नज़र नहीं आती। उसे मृणाल के प्रति न कोई ईर्ष्या है न द्वेष। वह अपने अधिकार के प्रति सचेत है पर द्वन्द्वग्रस्त नहीं। गोपाल आर्यक के सेनापति के रूप में दिग्विजय के लिए जाने पर, सम्राट चन्द्रा को उसकी पत्नी समझकर कुछ मजाक करने पर वह चुप नहीं रहती। वह स्पष्ट कहती है- “आर्यक की शास्त्र-विधि से विवाहिता पत्नी हलद्वीप में सचमुच वियोग-ज्वाला से जल रही है। मैं आर्यक को उसके पास ले जाना चाहती हूँ। मैं भी उसकी पत्नी हूँ, पर जिसे आप शास्त्र-विधि समझते हैं उस विधि से मैं विवाहिता नहीं हूँ। आर्यक मेरा मनोवृत्त पति है।” आगे कहती है- “मैं पतिव्रता हूँ, तुम्हारे जैसे सम्राट भी मुझे इस व्रत से हटा नहीं सकते। मैं कुंचित भृकुटियों की उपेक्षा करना जानती हूँ।”

इस तरह चन्द्रा कहीं की अपने प्रेम के कारण लज्जित नहीं होती और सर्वत्र निर्द्वन्द्व अभिव्यक्ति करती है। इस तरह दृढ़ चित्त तथा निर्द्वन्द्व मानसिकता स्त्री की परंपरागत बिम्ब का खंडन करती है। यह मानसिकता उसे कुंठाहीन तथा विकारहीन बनाती है। ऐसी स्त्रियाँ ही अपनी अलग पहचान बनाती हैं और सामाजिक दायरे में विचरण करती हैं।

‘चारुचन्द्रलेख’ में चन्द्रलेखा नागनाथ से प्रेम करती है और उसे पाने के लिए वह सातवाहन से विवाह करती है। विवाहोपरान्त एक आदर्श पत्नी की भूमिका निभाती है पर साथ ही सातवाहन को राजकार्य तथा युद्ध के लिए प्रेरित करती है। नागनाथ के वापस आने पर वह राजमहल त्यागकर रससिद्धि के लिए उसके साथ जाती है, पर उसकी मृत्यु के बाद उसे अपने दायित्व तथा कर्तव्य का बोध होता है और चन्द्रलेखा का व्यक्तित्वांतरण होता है। जीवन की वास्तविक सार्थकता का बोध होता है। वह सातवाहन की सहायता के लिए युद्ध में भाग लेती है, तथा सैन्य संगठन करती हुई कहती है, “शंकित हो रहे हो महाराज। चन्द्रलेखा का सेवक होने का गौरव प्राप्त करके भी शंकित हो रहे हो? सभी आशंकाजनक परिस्थितियों में

मैं तुम्हारी अजेय शक्ति होकर तुम्हारे पार्श्व में बनी रहूँगी। तुम्हें चिंतित और शंकित होने की क्या बात है? सिद्ध तापस नागनाथ ने तुम्हें चक्रवर्ती होने का आशीर्वाद दिया। तुम्हारे कातर होने का अर्थ है लाख लाख निरीह प्रजाओं का सत्यानाश। अकुतोभय बनो महाराज, चन्द्रलेखा तुम्हारे साथ है।” चन्द्रलेखा का महाराज के प्रति इतना निडर तथा सबल उक्ति वस्तुतः स्त्री की परंपरागत पत्नी की भूमिका का अतिक्रमण है। वह महाराज को अपने पास कैद नहीं रखना चाहती बल्कि युद्ध के लिए प्रेरित करती है, पूरे उपन्यास में चन्द्रलेखा प्रेमिका और पत्नी का रूप बड़े ही संतुलित ढंग से निभाती है। दोनों ही रूपों की सही समझ के कारण वह अपनी वैयक्तिकता को सामाजिकता में बदलती है। इस बात को झूठा प्रमाणित करती है कि स्त्री युद्धविरोधी होती है। सातवाहन और विद्याधर भट्ट में जिस लोक-चेतना का अभाव दिखाई देता है, वही लोक चेतना चन्द्रलेखा में परिपक्वता के साथ है। वह प्रजा के हित तथा उसकी इच्छा पर बल देती है, तथा युद्ध में प्रजा की भागीदारी चाहती है। वह महाराज से कहती है:- “महाराज, सैनिकों में उत्साह है, यह शुभ लक्षण है, परंतु मैं जानती हूँ कि साधारण प्रजा क्या सोच रही है। मैं ग्राम-बालिका हूँ। जनपद के लोगों को जानती हूँ। उन्हें इन युद्धों से भय होता है, वे इस राजा या उस राजा की जीत भी चाहते हैं, परंतु समूचे देश को अपना समझकर समयोचित उपचार वे नहीं जानते। उनमें प्रतिरोध की भावना ही नहीं होती। वे समझते हैं, राज्य राजा का होता है। एक राजा जीतता है, दूसरा हारता है। जो जीत गया उसका राज्य होता है। केवल सैनिक बल ऊपर-ऊपर का बल है। कुछ ऐसा होना चाहिए कि इस जीत या हार को प्रजा अपनी जीत या हार समझे। आप लोग इसके लिए क्या कर रहे हैं?” इसके पश्चात् वह सैनिकों को संबोधित करती हुई भाषण देती है और साधारण प्रजाजन तथा सैनिकों को युद्ध के लिए प्रोत्साहित करती है। इस तरह की सैन्य संगठन, युद्ध तथा राजनीति में रुचि, भाषण आदि सामाजिक भूमिकाओं में भागीदारी तथा उसमें सफल होना स्त्रियों के लिए नई बात थी। इसके द्वारा वे अपनी व्यक्तिगत सीमा से बाहर निकलकर समष्टि की ओर अग्रसर होते दिखाई देती हैं। यहाँ स्त्री के

वैयक्तिक तथा सामाजिक, दोनों ही रूप प्रशंसनीय हैं।

‘पुनर्नवा’ में गणिका के रूप में चित्रित मंजुला का चरित्र अपने आप में एक परंपरामुक्त चरित्र है। वह स्वाभिमानी, रूपगर्विता, अपनी कला में निपुण तथा आत्म-निर्भर है। वह दृढ़ तथा अपने कर्तव्य के प्रति जागरूक स्त्री है। इसका प्रधान कारण है- आर्थिक स्वातंत्र्य। मंजुला बार-बार अपने आप को पापिनी तथा अपराधिनी कहती है पर उसका चरित्र दृढ़ है। वह अपनी बेटी की शादी के लिए किसी के आगे हाथ नहीं फैलाती। अपनी समस्त जमा-पूँजी देवरात को दे जाती है और बाद में महाकाल के मंदिर की तपस्विनी के रूप में सामने आती है। द्विवेदी जी ने उसे ‘पुनर्नवा’ कहा है। पुनर्नवा के रूप में वह जो कुछ कहती है, उसमें जीवन की नई समझ, प्रेम, विवाह, पुरुष तथा स्त्री की भूमिका आदि समस्त विषयों को लेकर मंजुला की अनुभूतिगत परिपक्वता देखी जा सकती है। तपस्विनी के रूप में जब मंजुला देवरात के पास आती है, तब देवरात कहता है, ‘तुम हो देवि; तुम हो छन्दों की रानी, तालों की नर्मसखी, बासी को ताजा करनेवाली पुनर्नवा!’.... आगे कहता है- ‘पुनर्नवा बनकर नित्य आती रहो।... पुनः नवीन, पुनः जाग्रत, पुनः प्राणवन्त। रानी, तुम दूसरों को भी पुनर्नवता प्रदान करती हो। यह कष्ट तो तुम्हें उठाना ही पड़ेगा, प्राणवल्लभे।’ मंजुला से पुनर्नवा में रूपांतरण वस्तुतः द्विवेदी जी का स्त्री के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण का परिचायक है। वे मंजुला के द्वारा एक सामान्य गणिका के चरित्र को गरिमामंडित करते हैं।

इससे गणिकाओं के प्रति पारंपरिक दृष्टिकोण का खंडन होता है अर्थात् अब तक गणिकाओं की भूमिका पुरुषों का मन बहलाना था परंतु द्विवेदी जी ने मंजुला के चरित्र को लीक से हटकर प्रतिष्ठित किया और अपने उपन्यास का नामकरण ‘पुनर्नवा’ के रूप में किया। मंजुला, तपस्विनी के रूप में आर्यक को स्त्री-पुरुष के संदर्भ में जो बातें कहती है, वह उसके पांडित्य तथा सूक्ष्म चिंतन का परिचायक है। आर्यक जब मंजुला से पूछता है कि ‘एक नारी में क्या पुत्री-भाव, प्रियाभाव तथा मातृभाव सदा विद्यमान नहीं रहता?’ तब मंजुला द्वारा दिया गया उत्तर द्रष्टव्य है- “नहीं मेरे लाल, ये तीनों भाव नारी की विवशता हैं। जो विग्रह (शरीर) विधाता की ओर से उसे मिला है, उसकी विवशता है कि वह तीनों में रमे। उसका यह चुनाव, स्वेच्छा से चुना हुआ भाव नहीं है। ‘स्व-भाव’ अपने आपको प्रयत्नपूर्वक पहचानने से समझ में आता है। अपने वास्तविक भाव को जानना कठिन साधना का विषय है। युवावास्था में मैंने अपने में स्वामिनी भाव पाया था- सब-कुछ पा लेने का, सब कुछ पर अधिकार कर लेने का भाव। एक ही धक्के में वह बालू की भीत भहरा गई।”

इस तरह द्विवेदी जी ने स्त्री के बेटी, प्रेमिका और माता की पहचान को अस्वीकार किया है। उन्हें, स्त्री की विवशता को माना है। स्त्री को पुरुष संदर्भ से भिन्न स्त्री-संदर्भ में देखने की कोशिश की है। स्त्री की स्वतंत्र पहचान, उसके अस्तित्व की रक्षा आदि पर बल दिया है। यह वस्तुतः स्त्रीवादी दृष्टि है।

संपर्क : 9830296642

हिंदी में आधी दुनिया का अच अमीर चंद वैश्य

‘स्त्री की दुनिया’ सन् 2015 में प्रकाशित आलोचनात्मक कृति है। इस वैविध्यपूर्ण दुनिया को मधुरेश ने उजागर किया है। गंभीर अध्ययन मनन और चिंतन के बाद सार तत्त्व से युक्त पाठ तैयार करना मधुरेश जी की लेखकीय पहचान में शामिल है।

‘स्त्री की दुनिया’ ऐसे आलेखों का संकलन है, जो हिंदी लेखिकाओं की कृतियों पर समय-समय पर प्रकाशित हुए। इसके पहले आलेख ‘नारीवाद की विचार भूमि’ में सर्वप्रथम सीमोन द बोउआर की प्रसिद्ध कृति ‘द सेकेण्ड सैक्स’ की प्रमुख मान्यताएँ समझाई गई हैं। सिमोन ने स्त्री की तुलना नीग्रो की स्थिति से की है। वे कहती हैं- “दोनों ही जातियाँ आज पितृसत्ता से मुक्त हो रही हैं और इनके भूतपूर्व स्वामी इन्हें पुरानी जगह रखना चाहते हैं, वहीं जिनका चुनाव मालिक वर्ग ने किया था। दोनों ही क्षेत्रों में मालिक यथास्थिति के प्रशंसक हैं।” (स्त्री की दुनिया, पृ. 10)

इसमें कोई शक नहीं है कि आज का उत्तर-आधुनिक समाज दिन-प्रति-दिन स्वार्थी होता जा रहा है। पुरुष ने अपनी प्रोन्नति के लिए नारी स्वाधीनता का अपहरण किया है। अतएव यह आश्चर्यजनक नहीं है कि नारी स्वाधीनता के लिए निरंतर संघर्ष करती रहे। शायद, यही कारण है कि हिंदी की अनेक लेखिकाओं ने पुरुष-सत्ता के विरुद्ध अपने-अपने विचार अपने ढंग से व्यक्त किए हैं। ऐसी लेखिकाओं में प्रभा खेतान, मैत्रेयी पुष्पा, लता शर्मा, मृणाल पाण्डेय, नासिरा शर्मा, अनामिका के विचारों का सार तत्त्व पाठक को समझाया गया है। इन लेखिकाओं में प्रभा खेतान का नाम अग्रगण्य है, जिन्होंने सीमोन की उपर्युक्त प्रसिद्ध पुस्तक का हिंदी अनुवाद ‘स्त्री:उपेक्षिता’ के नाम से किया। हिंदी पाठकों ने इस पुस्तक का हार्दिक स्वागत किया। अपने पैरों पर खड़ी होने वाली मारवाड़ी परिवार की कर्मठ महिला प्रभा खेतान ने एक ओर तो स्वाधीनता के लिए निजी व्यापार शुरू किया, दूसरी ओर ‘उपनिवेश में स्त्री’ और ‘बाजार के बीच: बाजार के खिलाफ’ जैसी वैचारिक पुस्तकों में नारी-स्वाधीनता विषयक विचारों का विश्लेषण-संश्लेषण किया। वह मानती है कि भूमंडलीकरण ने स्त्री को जितना लाभ पहुँचाया उससे अधिक हानि पहुँचायी है। उसने सब कहीं स्त्री को आकर्षक उत्पाद में बदला है। बालिका शिशु की उपेक्षा का अनुपात तेजी से बढ़ा है। (पृ. 13)

नारीवादी वैचारिकी पर मधुरेश की टिप्पणी सार्थक है- “नारीवाद की मूल प्रकृति और स्त्री-मुक्ति की उनकी (लेखिकाओं की) आकांक्षा को उनके अपने साहित्य को छोड़कर नहीं

समझा जा सकता। इसमें उन कारणों की अनदेखी नहीं की जा सकती कि आखिर महिला लेखकों का एक बड़ा और गंभीर वर्ग क्यों अपने को नारीवाद से अलग और बाहर रखे जाने पर जोर देता रहा है।” (पृ. 24)

कथा-साहित्य के संदर्भ में ‘महिला-लेखन’ का अलग प्रयोग कुछ खटकता अवश्य है। जब इन पदों का प्रयोग प्रचलन में है, तब इनके विलोम पदों ‘पुरुष लेखन’ का भी प्रचलन होना चाहिए। ऐसा संभव ही नहीं है।

कारण यह है कि जीवन-जगत् द्विधात्मकता की सृष्टि है। इसी प्रकार साहित्य-सृष्टि भी। उसे कोई भी रचे। स्त्री अथवा पुरुष। उसकी अन्तर्वस्तु में स्त्री-पुरुष के विपरीत चरित्र अवश्य उजागर होंगे। क्या बिना ‘होरी’ अथवा बिना ‘धनिया’ के ‘गोदान’ की रचना संभव हो सकती थी। यही कारण है कि मधुरेश ऐसी लेखिकाओं की कृतियों की खास सराहना करते हैं, जिनकी अन्तर्वस्तु जीवन और जगत के अनेक प्रसंगों का समावेश करती है। ‘एक बड़ी और आत्मीय दुनिया का सच’ में मधुरेश ने ठीक ही लिखा है-

“आज हिंदी में स्त्री-लेखन की एक उल्लेखनीय विशेषता अपनी निजता का अतिक्रमण और विस्तार है। स्त्री अपनी निजी और विशिष्ट अनुभव-सम्पदा के प्रति न तो कभी उदासीन है और न उसके रचनात्मक उपयोग में कैसे भी संकोच का अनुभव करती है। वह अपनी निजता से शुरू करके एक विस्तृत और व्यापक जीवन-जगत् से अपने को जोड़ती है।” (पृ. 50) ऐसा करने पर नारीवाद का संबंध जीवन के अन्य क्षेत्रों से अनायास जुड़ जाता है। इस संदर्भ में ‘चंद्रकाता’ के कश्मीर-केन्द्रित उपन्यास ‘कथा सतीसर’, मजदूर-आंदोलन से जुड़ा चित्रा मुद्गल का उपन्यास ‘आवाँ’, पत्रकारिता से सम्बद्ध मृणाल पाण्डेय का उपन्यास ‘रास्ते पर भटकते हुए’, निम्न मध्यवर्गीय पात्रों के चरित्रों से बुना गया गीतांजलि श्री का उपन्यास ‘तिरोहित’, वृद्धा रूबी गुप्ता के जीवन पर केन्द्रित अलका सरावगी का दूसरा उपन्यास ‘शेष कादम्बरी’ का विश्लेषण और मूल्यांकन पठनीय है। मधुरेश विवेकशील पाठक होने के नाते आलोच्य कृति का सार-गर्भित पाठ तैयार करके उसके चरित्रों के प्रसंगों की विश्वसनीयता की परख-पहचान करते हैं। फिर उसका मूल्य एवं महत्त्व भी बताते हैं।

इसी क्रम में मन्नू भंडारी के प्रसिद्ध उपन्यास ‘महाभोज का महत्त्व’ भी उल्लेखनीय है। प्रसंगवश उल्लेखनीय है कि इस उपन्यास का नाट्य रूपांतर मंचित भी किया गया। बदार्थू में भी ‘महाभोज’ का मंचन हुआ था। जिसका सुभाष वशिष्ठ ने निर्देशन किया था। उस समय मन्नू भंडारी और राजेन्द्र यादव दोनों बदार्थू में पधारे थे। इस उपन्यास के संदर्भ में मधुरेश ने लेखिका मन्नू भंडारी के बारे में लिखा है- “गौर करने की बात सिर्फ यह है कि घोर आत्मपरकता के उस दौर में (नयी कहानी का दौर) भी अपने समकालीनों के बीच वे एक ऐसी लेखिका के रूप में अपनी पहचान बना रही थीं, जो बृहत्तर सामाजिक संदर्भों से जुड़ने की आकांक्षा रखती है।” (पृ. 83) ‘महाभोज’ का महत्त्व यह है कि वह दलित वर्ग की दुनिया में जाकर भी वहीं तक सीमित नहीं है। वह दलितों के उत्पीड़न और संघर्ष को बृहत्तर सामाजिक-राजनैतिक संदर्भों से जोड़कर देखता है। (पृ. 91, 92)

स्वयं को बृहत्तर जीवन-प्रसंगों से जोड़ने वाली प्रसिद्ध लेखिका नासिरा शर्मा सच्ची हिंदुस्तानी लेखिका के साथ-साथ वैश्विक राजनैतिक-सामाजिक घटना-प्रसंगों से जुड़ी रही हैं। उपन्यास और कहानियों के अलावा उन्होंने गद्य की अन्य अनेक विधाओं को भी समृद्ध किया है। वह एक ओर तो नारी को पराधीनता से मुक्त करना चाहती हैं। दूसरी ओर धार्मिक कट्टरपन के विरुद्ध भी हैं।

मधुरेश ने इस पुस्तक के अनेक आलेखों में उनके उपन्यासों- ‘ठीकरे की मँगनी’ (1989) ‘अक्षयवट’, जीरो रोड की विस्तृत समीक्षा करके उनका वैशिष्ट्य उजागर किया है। तीनों में पहला उपन्यास मुस्लिम समाज में स्त्री की स्थिति और रूढ़ियों भरे माहौल की घुटन से बाहर निकलने के संघर्ष का उदाहरण पेश करता है। उपन्यास की नायिका महरुख अपने सुशिक्षित और विवेकशील व्यक्तित्व से रफत भाई का स्वार्थपूर्ण चरित्र उद्घाटित करती है। अपनी चारित्रिक दृढ़ता से पाठक के मानस पर अपनी छाप अंकित करती है। शेष दोनों उपन्यासों (और एक अन्य उपन्यास) ‘कुईयाँ जान’ के केन्द्र में नासिरा शर्मा का अपना शहर इलाहाबाद है। ‘अक्षयवट’ में ऐसे अनेक पात्र हैं, जो इलाहाबाद को भूल नहीं पाते। वह रह-

रहकर वहाँ लौटते हैं। वह इसीलिए 'अक्षयवट' है कि दोनों बाँहों से भरने के बाद भी उस का कुछ भाग छूटा रह जाता है। मधुरेश लिखते हैं कि 'जीरो रोड' हिंदी का पहला उपन्यास है, जो दुबई की जिंदगी को इतनी निकटता और विस्तार से अंकित करता है। स्थितियाँ दुनिया में सब कहीं मनुष्य के विरोध में खड़ी हैं- जैसे दुबई के प्रवासी जमावड़े में वैसे ही इलाहाबाद में धर्म की आड़ में सत्ता का खेल यहाँ से वहाँ तक मनुष्य का रास्ता रोके खड़ा है।' (पृ. 129) इन उपन्यासों के अलावा नासिरा शर्मा की अन्य पुस्तकों- किताब के बहाने, राष्ट्र और मुसलमान जहाँ फव्वारे लहू रोते हैं, मरजीना का देश: इराक, नासिरा शर्मा की कहानियाँ (चयनित), 'जने अजीब' पर आत्मीयता एवं वस्तुनिष्ठता से विश्लेषण किया है। उनकी ये पुस्तकें उनके राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व और सत्साहस का प्रमाण हैं और सत्य-उद्घाटन का भी। 'इराक' पर लिखित पुस्तक अमरीका का साम्राज्यवादी चेहरा बेनकाब करती है। उनकी कहानियों के प्रसंग जीवन के सच का उद्घाटन करती हैं। मधुरेश की यह बात स्मरणीय है कि नासिरा शर्मा नारीवादी लेखिका नहीं हैं। स्त्री-विमर्श के चालू मुहावरे से वे जिद की सीमा तक अपने को अलग रखती हैं। (पृ. 315)

'जने अजीब' का मतलब है अलग तरह की शिखरयत। वस्तुतः यह पुस्तक लंबे साक्षात्कार के रूप में नासिरा शर्मा से प्रेम कुमार के संवाद पर आधारित है। प्रेम कुमार ने अलग ढंग के साक्षात्कार रचकर इस विधा को अभिनव रूप प्रदान किया है। यह प्रदीर्घ साक्षात्कार पढ़कर पाठक को नासिरा शर्मा के व्यक्तित्व-कृतित्व से सुपरिचित कराया जा सकता है। नासिरा शर्मा जितनी अच्छी लेखिका हैं, उतनी ही साहसी पत्रकार भी हैं। उनके साक्षात्कारों में अयातुल्ला खुमैनी से लिया गया साक्षात्कार स्मरणीय है। मधुरेश की टिप्पणी समुचित है कि "समकालीन स्त्री-लेखन में नासिरा शर्मा अपने काम और रचनात्मक सरोकारों के सबब से बहुतों से अलग हैं। सही अर्थों में वह जने अजीब हैं।" (पृ. 333)

अन्य लेखिकाओं में इला डालमिया के उपन्यास 'छत पर अपर्णा' (1988), शशिप्रभा शास्त्री के 'उम्र एक

गलियारे की', नारीवादी लेखिका प्रभा खेतान के 'छिन्नमस्ता' (1993), सूर्यबाला के 'दीक्षान्त' (1992), शकुन्तला दुबे के 'बन्ती' के अलावा ममता कालिया के 'बेघर' और 'नरक-दर-नरक', उषा प्रियंवदा के 'अन्तर्वशी', मृदुला गर्ग के 'उसके हिस्से की धूप' अलका सरावगी के 'कोई बात नहीं', मैत्रेयी पुष्पा के 'त्रियाहट', रजनी गुप्त के 'एक न एक दिन', नीलाक्षी सिंह के 'शुद्धिपत्र', महुआ माजी के 'मैं बोरिशाइल्ला', प्रतिभा डावर के 'वह मेरा चाँद', शरद सिंह के 'कस्बाई सिमोन' का पूर्वाग्रह रहित पाठ तैयार करके उनका सटीक मूल्य अंकित किया है। खूबियों के साथ-साथ खामियों की ओर भी संकेत किया है। मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यास 'त्रियाहट' को 'माध्यम की चूक' सिद्ध किया गया है। इसके विपरीत रजनी गुप्त के उपन्यास को 'ताजी बयार और मुक्ति की आकांक्षा' के रूप में समीक्षित किया है। स्त्री-पुरुष के स्वस्थ संबंधों के संदर्भ में मधुरेश का कहना है कि एकांगी सोच और वर्चस्व की कुण्ठा से मुक्त होकर, एक न एक दिन, पुरुष एक सामान्य और स्त्री के प्रति अधिक संवेदनशील जीवन भी जी सकता है।"

मधुरेश उपन्यास के अन्तःपाठ की समीक्षा करते हुए कलात्मक मूल्यों की उपेक्षा नहीं करते हैं। ऐसी समीक्षा का नमूना है 'प्रतिरोध की सीमाएँ' आलेख, जिसमें नीलाक्षी सिंह के 'शुद्धिपत्र' के बारे में लिखा गया है कि यह उपन्यास कथानक, पात्रों और स्थितियों के हिसाब से पर्याप्त जटिल और अराजक रचना है। (पृ. 151)

मधुरेश की एक और अन्य विशेषता है कि वह बिना किसी पूर्वाग्रह अथवा दुराग्रह के कारण न तो नए लेखक/लेखिका की उपेक्षा करते हैं और न ही किसी वयोवृद्ध को विस्मृत ही। इसका प्रमाण है कि उनका सश्रद्ध एवं आत्मीय आलेख 'चन्द्रकिरण सोनरेक्सा और उनका उपन्यास 'चंदन-चाँदनी'। पुरानी पीढ़ी की इस महत्त्वपूर्ण लेखिका से भेंटवार्ता करने के बाद मधुरेश ने उनके उपन्यास 'चंदन-चाँदनी' का आत्मीय विश्लेषण-मूल्यांकन करते हुए मधुरेश ने ठीक ही लिखा है- "चन्द्रकिरण सोनरेक्सा मध्यवर्गीय समाज को जितनी सूक्ष्मता और गहराई से अंकित करती हैं, वहीं वस्तुतः उनके लेखन की मुख्य आधारभूत पहचान है।" (पृ. 306) समीक्ष्य पुस्तक के अन्य आलेखों की

तुलना में इस आलेख में आलोचक का संवेदनशील विश्लेषण अधिक निखरा है।

मीराकांत के उपन्यास 'एक कोई था कहीं नहीं सा' के बारे में मधुरेश का कहना है- "मीराकांत का उपन्यास अविभाजित पंजाब पर बलवन्त सिंह के उपन्यासों की तरह उस कश्मीर के बारे में है, जो कश्मीर था और अब नहीं है।" (पृ. 328)

'स्त्री की दुनिया' में लेखिकाओं की कहानियों की भी विश्वसनीय आलोचना शामिल हैं। विगत वर्षों में प्रकाशकों ने प्रसिद्ध लेखिकाओं की सम्पूर्ण कहानियों का प्रकाशन किया है। 'स्त्री की दुनिया' में एक ही शीर्षक 'सामाजिक संरचना में स्त्री की नियति का सवाल' के अन्तर्गत तीन आलेख हैं, जिनमें क्रमशः मन्नू भंडारी, ममता कालिया और मृदुला गर्ग की सम्पूर्ण कहानियों का सारपूर्ण पाठ प्रस्तुत करके उनका मूल्य-महत्त्व आंका गया है। प्रत्येक लेखिका के प्रति दुराग्रह-रहित व्यवहार किया गया है। यथा- ममता कालिया के बारे में ठीक लिखा गया है- "संरचना की दृष्टि से ममता की ये कहानियाँ उस औपन्यासिक विस्तार से मुक्त हैं, जिसके कारण ही कृष्णा सोबती की अनेक कहानियों को आसानी से उपन्यास मान लिया जाता रहा है।... नयी कहानी के जिन लेखकों को ममता कालिया अपने निकट और आत्मीय पाती हैं, वे परसाई और अमरकांत ही हैं।" (पृ. 200)

इन लेखिकाओं के अलावा गीतांजलिश्री के कहानी-संकलन 'मार्च, माँ और साकुरा' की समीक्षा का शीर्षक है- 'स्त्री-छवियों के बाहर भी कुछ' है। उर्मिला शिरीष के संकलन 'रंगमंच' को 'विरोधी समय में स्त्री के व्यवहार का उद्घाटन किया गया है। नीला प्रसाद के संकलन 'सातवीं औरत का घर' में बड़ी संभावनाओं की शुरुआत लक्षित की गई है। मधुरेश ने निष्कर्ष रूप में लिखा है कि "गीतांजलिश्री की कहानियाँ किसी व्यवस्थित विमर्श का हिस्सा न होने पर भी पुरुष वर्चस्व वाले समाज में सक्रिय हस्तक्षेप की कहानियाँ हैं।" (पृ. 236)

'महिला कहानी की दुनिया' की जाँच पड़ताल करते हुए मधुरेश ने अनेक जानी-मानी एवं नवोदिता लेखिकाओं की एक-एक कहानी की समीक्षा स्त्री के संदर्भ में की है।

इस आलेख में शामिल हैं- मेहरुन्निसा परवेज की 'अपने होने का एहसास', 'सिम्ली हर्षिता की 'कब्रगाथा', विभा देवसरे की 'प्राण प्रतिष्ठा', इन्दूबाली की 'तोहफा', कनकलता की 'बोनसाई', लता शर्मा की 'बदलता हुआ बयान', मालती जोशी की 'तुम मेरी राखो लाज हरि', सुषमा मुनीन्द्र की 'मूल्यांकन', कमल कुमार की 'दो दूनी पाँच', उषा महाजन की 'इस बार', उर्मिला शिरीष की 'लौटकर कहाँ जाना है', राजी सेठ की 'दूसरी ओर से', जया जादवानी की 'मेरी कोई तस्वीर नहीं', इंदिरा राय की 'कुछ सोचता नहीं', नासिरा शर्मा की 'संदूकची', नमिता सिंह की 'परिचय', नीरजा माधव की 'शीर्षक क्या दूँ' चन्द्रकांता की 'आवाज'। मधुरेश हरेक लेखिका की अभिरुचि दृष्टिगत रखते हुए उसकी कहानी की मूल संवेदना को समझाने का प्रयास करते हैं। यथा- चन्द्रकांता के बारे में उनका कहना है- "चंद्रकांता स्त्री को बड़े सामाजिक राष्ट्रीय संदर्भों से जोड़कर देखती हैं। वे मूलतः कश्मीर से (की) हैं, शायद इसीलिए आतंकवाद की चपेट में आए हिन्दू परिवारों की पीड़ा उनके लेखन का उल्लेखनीय पक्ष है।" (पृ. 174)

इसी क्रम में मन्नू भंडारी की संस्मरणात्मक कहानी 'एक कहानी यह भी' उल्लेखनीय है। यह राजेन्द्र यादव के द्वंद्वत्मक चरित्र का उद्घाटन भी करती है।

आजकल विमर्श का तुमुल कोलाहल है। खंडित जीवन-दृष्टि से साहित्य रचा जा रहा है। फिर भी आत्मकथा ऐसी विधा है, जिसमें नारी ने सत्साहस से सच का उद्घाटन करते हुए पुरुष-सत्ता से संघर्ष किया है। 'स्त्री की दुनिया' में 'आत्मकथा' का सच बताने वाली मैत्रेयी पुष्पा की दो कृतियों की समीक्षा है। पहली है 'कस्तूरी कुण्डल बसै'। दूसरी है 'गुड़िया भीतर गुड़िया'। घर परिवार में उत्पीड़ित स्त्री की व्यथा-कथा के साथ-साथ वह समझदारी भी है, जो साहसपूर्ण प्रयासों का सबूत है।

इसी क्रम में अजीत कौर की आत्मकथा 'खानाबदोश' भी पठनीय है। मधुरेश ने इसे 'औरत' होने की नियति के विरुद्ध पहचान करके लेखिका के जीवन-संघर्ष का सार-गर्भित पाठ तैयार किया है। समीक्षा का समापन इस सार्थक वाक्य से किया गया है- "यह 'औरत' के हक में एक

औरत द्वारा लड़ी लड़ाई है, जो सारे नियम-कानून, नियम-परंपरा से जिंदगी को बड़ा और अजीम मानती-समझती है।” (पृ. 312)

कहने की आवश्यकता नहीं है कि सभ्यता और समाज के विकास-क्रम में स्त्री उत्पीड़न का शिकार होती रही है। लेकिन उसके समानान्तर स्त्री-प्रतिरोध का स्वर भी बुलंद होता जा रहा है।

पुस्तक के दूसरे अध्याय ‘नारीवाद का देशज पाठ’ में पाकिस्तानी लेखिका अतिया दाउद की कृति ‘आइने के सामने’ (इजलाल मजीद द्वारा लिप्यान्तरित) शीर्षक आत्मकथा का पाठ-विश्लेषण करके मधुरेश ने लिखा है— “अतिया दाउद की यह आत्मकथा औरत की आजादी का तसव्वुर सिर्फ देह की आजादी को आधार बनाकर ही नहीं करती। वे अपने और अपनी पीढ़ी ही नहीं, आने वाली और तैयार होती पीढ़ी के प्रति भी अपना गहरा लगाव हम तक पहुँचाती हैं।” (पृ. 30) वस्तुतः यह आत्मकथा नारीवाद की देशज वकालत करती है।

आलेख ‘प्रेम-कहानी के प्रसंग में एक आधी-अधूरी टिप्पणी’ में चर्चित प्रेम कहानियों पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ हैं। माँग के तहत लिखित यह आलेख वास्तव में आधा-अधूरा है। बेहतर होता यदि आलोचक मात्र एक कहानी ‘उसने कहा था’ का पाठ-विश्लेषण करके उस की तुलना अन्य प्रेम कहानियों से करता। सन् 2015 में गुलेरी जी की

इस कालजयी कहानी की विवेचना अनेक नये-पुराने आलोचकों ने की है।

‘स्वाधीनता का सपना’ आलेख ‘कथा-जगत की बागी मुस्लिम औरतें’ में (सं. राजेन्द्र यादव एवं मुशर्रफ आलम जौकी) उस महिलाओं की कहानियाँ की समीक्षाएँ संकलित हैं, जिन्होंने पुरुष-वर्चस्व से अपनी स्वाधीनता के लिए लेखन के माध्यम से संघर्ष किया था। संकलित कहानियों की कालावधि व्यापक है। रकैया सखावत हुसैन की रचना ‘सुल्ताना का सपना’ हैं, जो ‘सुल्तानाज ड्रीम’ (1905) का अनुवाद है। इस कहानी में लेखिका ने वर्तमान पुरुष प्रधान समाज के उलट नारी या स्त्री प्रधान समाज का सपना देखा है। कहानी में स्त्री-शिक्षा पर विशेष बल है। अन्यो में रशीद जहाँ, इस्मत चुगताई, मुमताज शीरी, बाजिदा तबस्सुम, जमीला हाशमी, हाजरा मसरूर जैसी जानी-मानी लेखिकाएँ हैं। इनके अलावा और भी लेखिकाओं की कहानियाँ संकलित हैं। मधुरेश के अनुसार कहानियों के अलावा तहमीना दुर्रानी, किश्वर नाहीद, तसलीमा नसरीन की पूर्व प्रकाशित आत्मकथाओं के अंश भी मौजूद हैं। (पृ. 221) समीक्षा का सार यह है कि संकलित कहानियाँ ‘स्त्री के जीवन में’ प्रेम के लिए स्पेस बनाती हैं। प्रेम की राह के अवरोधकों की आलोचना करती हैं। (पृ. 222)

इस प्रकार ‘स्त्री की दुनिया’ में ऐसी कृतियों की विश्वसनीय समालोचना है, जो स्त्री की लेखनी से साकार हुई हैं।

संपर्क :

कम्प्यूटर क्लीनिक, निकट पंकज मार्केट, चूना मंडी,
बदायूँ- 243601, उ.प्र., मो. 09897482597

सुधा अरोड़ा की कहानियाँ : अपने हिस्से का आसमान माँगती स्त्रियाँ

डॉ. वेद प्रकाश अमिताभ

अपनी वैचारिक कृति 'आम औरत : जिंदा सवाल' की कई टिप्पणियों में सुधा अरोड़ा ने पुरुष-वर्चस्व वाले समाज में औरत के मौन भाव से सब कुछ सहते जाने की विडम्बना को बार-बार रेखांकित किया है। अतः यह आकस्मिक नहीं है कि उनकी कहानियों में भी औरत के चुप रहने की पुरुष-अपेक्षा के अन्तर्विरोधों, दुष्परिणामों और कुरूपताओं को केन्द्र में रखा गया है। औरत का पथराया मौन उन्हें निरंतर व्यथित और चिंतित करता है तथा उसके प्रतिवाद की भंगिमा या क्रिया उन्हें आश्वस्त करती है। चाहे सद्यःजात मादा हो ('बड़ी हत्या, छोटी हत्या'), चाहे अट्ठाइसवाँ बसंत देखने को तरस गयी सुनयना (तीसरी बेटी के नाम- ये ठंडे, सूखे बेजान शब्द) हो, या शादी से डरने वाली अन्वेषा ('पीले पत्ते) हो या अपने बच्चे की इच्छा में जड़ होती गयी छोटी माँ (डेजर्ट फोबिया उर्फ समुद्र में रेगिस्तान) या दो नन्हों बच्चियों की माँ (अन्नपूर्णा मण्डल की आखिरी चिट्ठी) हो, स्त्री की नियति मृत्यु है। यह कहीं सीधे-सीधे हत्या है तो कहीं 'आत्महत्या' के रूप में भी हत्या ही है। कहीं उपेक्षा, अपमान की स्लोप्वायजनिंग है तो कहीं पुरुष के स्वेच्छाचार ने स्त्री को गहरे मानसिक अवसाद की दलदल में फेंक दिया है। सुधा अरोड़ा स्पष्ट रूप से पीड़ित-वंचित स्त्री की पक्षधर हैं। यह पक्षधरता 'विमर्श' मात्र न होकर स्थितियों-मनःस्थितियों के गहरे वस्तुनिष्ठ विश्लेषण से संश्लिष्ट मार्मिक अभिव्यक्ति के रूप में कहानियों में उपस्थित है।

'बड़ी हत्या, छोटी हत्या' में जन्मते ही छोरी को मार दिया जाता है। पहले कभी कुलीनता का अहं इसके पीछे होता होगा, अब हमारी मौजूदा व्यवस्था में जड़ जमा चुका अमानवीकरण इसके लिए जवाबदेह है। जब छोरी को युवा होकर दहेज जैसी विभीषिकाओं का आखेट बनना ही है तो एक अन्य स्त्री-सास का इस निष्कर्ष पर पहुँचना कथित संस्कृति, आधुनिकता, जनतांत्रिक व्यवस्था को मुँह चिढ़ाता है; 'बीस बरस पाल पोस कर आधा घर बाँध के देवेंगे, फिर भी सासरे दाण-दहेज में सौ नुक्स निकालेंगे और आधा टिन मिट्टी का तेल डाल के फूँक आएँगे। उस मोठे जंजाल से यो छोटी गुनाह भलो।' इस तरह के कुतर्क भयावह यथार्थ के व्यंजक हैं, लेकिन इनसे भ्रूण हत्या या शिशु हत्या का औचित्य सिद्ध नहीं होता। अन्नपूर्णा मण्डल सरीखे चरित्रों को छोड़ दें तो सुधा अरोड़ा के अधिकतर स्त्री-चरित्रों में जिजीविषा है, संघर्ष-क्षमता है और सांकेतिक ही सही प्रतिवाद की चेतना भी है। 'तीसरी बेटी के नाम- ये ठंडे, सूखे बेजान शब्द' में सुनयना जूझ कर मरी है; ... इस नयी जिंदगी ने तुझमें जीने का, लड़ने का नया हौसला भरा। तूने अपने पैरों के नीचे की जमीन को पहचाना। इस पर तुझे चल कर दिखाना है और अपने हिस्से का आसमान मुट्टियों में बंद करना है, यह तूने ठान लिया था।' 'करवाचौथी औरत' में लोकजीवन से निथरा सत्य 'अगले जनम मोहे बिटिया न कीजो' केन्द्रस्थ है सविता अगले जन्म में पालतू घर की कुतिया बनना चाहती है क्योंकि घर में उसकी हैसियत सविता से कई गुणा बेहतर है। 'अन्नपूर्णा मण्डल की आखिरी चिट्ठी' का अंत नकारात्मक और निराशाजनक है और रूढ़िग्रस्त मध्यवर्गीय समाज में स्त्री की हैसियत को केंचुओं की तरह दयनीय माना गया है, लेकिन इसमें स्त्री के आसमान छूने की कामना को मूल्यवान ठहराया गया है। हालांकि पुरुष-वर्चस्व स्त्री के स्वप्न, स्वाभिमान और उन्नयन को कुचल कर सुख पाता है। सुनयना

इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है '...तूने पंख फैलाकर आसमान की थाह लेनी चाही थी, घर की चौहद्दी में छिटक-छिटक जाती थी तू? क्यों इतने विकल्प थे तेरे पास पति की दुनिया से अलग भी?... तूने खुद अपना अंत किया। तेरी यह सजा तो सदियों पहले से तय की जा चुकी थी।' इस कहानी के समापन चरण को सभी कहानियों की केन्द्रीय संवेदना के रूप में स्वीकारा जा सकता है; 'तुझे तो फिर-फिर वही बनना है। फिर फिर औरत! सौ जन्मों तक औरत! तब तक औरत, जब तक मेरे हिस्से का आसमान, तेरे और सिर्फ तेरे नाम न कर दिया जाए।'

उनकी कथा-रचना 'यह रास्ता उसी अस्पताल को जाता है' कहानी कम, उपान्यासिका अधिक लगती है। हालांकि यह कहानी मुख्यतः मोनू के बचपन के टूटने-बिखरने और विक्षिप्तता की हद तक पहुँच जाने की त्रासदी का बयान है, फिर भी इसकी पृष्ठभूमि में पुरुष की स्वैराचारी प्रकृति, बेटे और पत्नी के प्रति दुर्व्यवहार के संदर्भ भी खासी जगह घेरते हैं। चित्रा की सास नारी की सनातन यातना को इन शब्दों में खोल देती है- 'मैंने सह लिया। तू भी सह ले बेटा'। चित्रा भी बहुत कुछ सहती है, लेकिन मोनू की इस अवस्था के लिए जिम्मेदार पति को क्षमा नहीं कर पाती; 'गले तक एक उबकाई सी आती है। नहीं, अब नहीं। इस कीमत पर नहीं। मैं उस हाथ को हटा देती हूँ।' बचपन अर्थात् मानवीय संवेदना का अस्तित्व 'महानगर की मैथिली' में भी खतरे में है लेकिन वहाँ पति-पत्नी का तनाव इसके लिए उत्तरदायी नहीं है। पति-पत्नी का दाम्पत्य सहज है, लेकिन 'महानगर का अर्थशास्त्र' उन्हें मजबूर कर देता है और दोनों की नौकरी जरूरत बन जाती है। 'ममता का ज्वार' भी इस जरूरत से टकराकर लौट जाता है। एक मासूम बचपन 'काँसे का गिलास' में भी है, जो माँ-बाप के तनाव के बीच पिस रहा है। माँ सात समंदर पार से बेटा का हाल चाल लेना चाहती तो यह पति को पसंद नहीं है, जबकि बेटा अभी माँ को भुला नहीं पाया है। 'युद्ध विराम' में माँ की मृत्यु के बाद संबंधाभाव और संवेदनशून्यता की मनःस्थिति उभरी है।

अपनी अधिकतर कहानियों में सुधा अरोड़ा वंचितों, उपेक्षिताओं, दुखी नारियों की पक्षधर हैं। लेकिन उनकी

पक्षधरता और सहानुभूति केवल 'स्त्री' तक सीमित नहीं है। उनकी कई कहानियों का कैनवास अपेक्षाकृत बड़ा है और उसमें शोषण, व्यवस्था-विरोध, बूढ़ी पीढ़ी का दर्द, साम्प्रदायिक हादसे सरीखे मुद्दे भी समाहित हैं। 'दमनचक्र' में व्यवस्था की कुरूपता है, इसका जनविरोधी चरित्र है और इसके समानान्तर है विरोध और प्रतिवाद करने वाले दमन चक्रवर्ती जैसे युवकों की नियति। दमन ने इस सत्य को समझ लिया है कि ईमानदारी का इस व्यवस्था में कोई मूल्य नहीं है, '...जिन्होंने बेईमानी की आज बालीगंज-टालीगंज में दो मंजिला मकान बनवा कर ठाठ से रह रहे हैं...'। युवा-आक्रोश का एक तेवर 'तानाशाही' में भी है। सुनील अपनी शर्तों पर जीने के लिए घर छोड़ देता है। उसे पिता से कई शिकायतें हैं, जिनमें एक है 'सारे दिन कालाबाजारी करने वाले खादी टोपी धारी सेठों-महानजों को लेकर भाषाण और भोज का आयोजन' करना। लेकिन सुधा अरोड़ा ने 'पिताजी को तानाशाही या अमानवीय व्यवस्था के प्रतीक के रूप में नहीं गढ़ा है। पुत्र के घर छोड़ देने के बाद पिता में जिस तरह बदलाव आता है, वह उनके प्रति सहानुभूति ही जगाता है। 'दहलीज पर संवाद' में बूढ़ी पीढ़ी की तकलीफ से सीधा और मार्मिक साक्षात्कार है। बेटा-बहू को डर है कि बीमार बूढ़ों के बीच उनके बच्चे को कुछ हो न जाये।

सुधा अरोड़ा की कुछ कहानियाँ साम्प्रदायिक विभीषिका से भी टकराती हैं। 'जानकीनामा' और 'कालाशुक्रवार' में हैवानियत के खूँखार शोर और मातमी सन्नाटे की करुण जुगलबंदी पाठकों को कभी डराती है, कभी आर्द्र कर देती है। 'जानकीनामा' में कहा गया है- '...जब इंसान अंधा होकर मार-काट और खून खराबे पर उतारू हो जाए तो नाम और चेहरे पर दर्ज धर्म के सब निशान मिट जाते हैं, फिर कौन देखता है- गेहूँ पिस रहा है घुन।' जुलेखा उर्फ जानकी की मौत जिन बहशियों के हाथों होती है, उनका कोई धर्म ईमान नहीं होता। जुलेखा और 'काला शुक्रवार' के अली नवाज की मौत मामूली हादसा नहीं है। मनुष्यता का हनन होने के साथ-साथ यह अकाल मृत्यु जनतांत्रिक मूल्यों और स्वप्नों की मौत भी है। हिन्दुजा अस्पताल के सामने खून देने के लिए जमा सभी जातियों और धर्मों के

लोग जरूर यह जताते हैं कि अभी कुछ चीजें बची हुई हैं।

‘रहोगी तुम वही’, ‘एक औरत: तीन बटा चार’, ‘नमक’, ‘पीले पत्ते’, ‘डेजर्ट फोबिया...’ आदि कहानियों में पति-प्रदत्त तमाम भौतिक सुविधाओं के बीच स्त्रियाँ अपमानित तिरस्कृत, अतृप्त और संतप्त होकर जीने के लिए अभिशप्त हैं। ‘नमक’ की पत्नी एक कंपनी की नाममात्र की डायरेक्टर है, पति द्वारा तिरस्कृत होते रहना उसकी नियति है। ‘रहोगी तुम वही’ पुरुष के अहंकारी, आततायी और दोहरे चरित्र को बहुत सलीके से अनावृत्त करती है। पत्नी बाल कटवा ले या न कटवाए, किताबें पढ़े या ना पढ़े, हर स्थिति में पति को धिक्कारने का अधिकार मिला हुआ है। पत्नी का आर्थिक स्वालंबन भी उसकी हैसियत में सुधार नहीं लाता। समाज-सेवा के लिए भी कम ताने और उलाहने नहीं सुनने पड़ते। पूरी कहानी में पत्नी मौन है जबकि ‘सत्ता-संवाद’ की वाचाल पत्नी उसकी पूरक जान पड़ती है। वह पति के निठल्लेपन और स्वैराचार को बर्दाश्त नहीं करती है। इस कहानी का पति लेखक है, जो सच लिखने का दंभ तो करता है, लेकिन उसमें सच सुनने का माह्न नहीं है।

सुधा अरोड़ा की कहानियों में स्फीति नहीं है। उतनी ही घटनाएँ, उतने ही चरित्र, उतने ही वाक्य जिनसे लक्ष्य-सिद्धि हो जाए। ‘सत्ता-संवाद’ में आया एक वाक्य बहुत अर्थपूर्ण है- ‘वैसे ट्यूबलाइट ठीक हो जाए तो कौन सा अंधेरा दूर होने वाला है’ यहाँ अंधेरे पति के दिल-दिमाग के अज्ञान, जड़ता, पिछड़ेपन का व्यंजक है। ‘नमक’ में कई दशकों तक अपमानित होती रही पत्नी की प्रतिक्रिया बहुत ठंडी किंतु बेधक है। नमक न होने की शिकायत पर अब वह माफी नहीं माँगती और खौफ, तनाव और दहशत से मुक्त होने का प्रमाण देती है, यह कहते हुए कि नमक लेना हो तो आपके सामने पड़ा है। ‘दहलीज पर संवाद’ में भुक्तभोगी केवल स्त्री नहीं है, उसका वृद्ध पति भी है। वे नयी पीढ़ी की उपेक्षा के शिकार हैं। पति अपनी उपेक्षा पर मेजर लाल का हवाला देता है कि वे अपनों द्वारा पीछे छोड़ दिए गए हैं: ‘जिस तरह पिछली लड़ाई में सिपाही जख्मों को साथ ढोने से तंग आकर पीछे छोड़ जाते थे, उसी

तरह’। ‘पीले पत्ते’ में संकेत स्पष्ट है कि मंदा दी के हिस्से में सिर्फ पतझर और सूखे पत्ते ही आए हैं। इसी कहानी में ‘एंटीक का हिस्सा लग रही थीं’ वाक्यांश मंदा दी के जीवन में पसरे पथराए मौन और उनकी जड़ होती जाने वाली संवेदनाओं की अभिव्यक्ति में सक्षम है। ‘डेजर्ट फोबिया...’ में ‘रेगिस्तान’ और ‘समुद्र’ दो प्रतीक भर नहीं है, इनके माध्यम से दमित संवेदनशीलता के पुनर्जन्म का संकेत असाधारण है। दूर तक फैले खुश्क रेगिस्तान का अचानक समुद्र बन कर आँखों से बह निकलना कोई मामूली बात नहीं है! कई कहानियाँ सिर्फ कुछ वाक्यों की सहायता से ‘एकालाप’ में रचित हैं और स्त्री की यातना, तकलीफ, जिजीविषा और प्रतिवाद-चेतना को उभारते हुए कहानीकार के भाषाधिकार और कथन-लाघव को प्रमाणित करती हैं।

सुधा अरोड़ा ने अपनी कहानियों की प्रस्तुति और कथन-पद्धति पर खूब मेहनत की है। कथा-तत्त्व की उपस्थिति ने उनकी कहानियों को पठनीय बनाया है। लेकिन वे वाचाल नहीं हैं। लेकिन संवादों के माध्यमों से कथा, स्थिति, मनःस्थिति के बयान की अद्भुत क्षमता ‘दहलीज पर संवाद’, ‘सत्ता संवाद’ ‘रहोगी तुम वही’ में द्रष्टव्य है। प्रायः कहानियों में सुविधाजीवी वर्ग के टुच्चेपन, क्षुद्रता, स्वार्थीपन की अभिव्यक्ति सलीके से हुई है। ‘तेरहवें माले से जिंदगी’ में ‘छोटी जात वालों’ की क्षुद्रता की चर्चा है लेकिन उनसे ज्यादा क्षुद्र वे लोग लगते हैं जो बेघर परिवारों से अपने स्वार्थ की पूर्ति को लेकर खुश और आश्वस्त होते हैं। ‘काला शुक्रवार’ में मेडोना की नशीली आँखों और सुरीली आवाज में खोया पति भी वहशियों का ही भाईबंद लगता है। इसी तरह बड़े सरोकार वाले ‘जानकीनामा’ के कवि पंकज की संवेदनहीनता की पहचान ध्यानाकर्षक है। सभी कहानियों का एक सुनिश्चित ‘विजन’ है जो संवेदना और मनुष्यता को बचाये और बनाये रहने का हामी है। चरित्रों, घटनाओं और मनःस्थितियों के चित्रण में यह ‘विजन’ स्वतः व्यंजित होता चलता है। अतः अधिकतर कहानियों का पाठ-पुनर्पाठ एक सुखद और विचारोत्तेजक अनुभव है।

संपर्क:

डी-131, रमेश विहार, अलीगढ़- 202001, मो. 9837004113

स्त्री साहित्य की अवधारणा

मीनाक्षी

साहित्यिक शब्दावली में साहित्य को 'समाज का दर्पण', 'जनता की चितवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब' और 'जनसमूह के हृदय का विकास' आदि के अर्थ में ग्रहण किया जाता है। फिर साहित्य 'स्त्री' का दर्पण, उसकी चितवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब और उसके हृदय का विकास क्यों नहीं बनता? क्या वह समाज और साहित्य की सामाजिकता और मूल्यों से अलग मान्य है?

पिछले कई दशकों से साहित्य में एक विशेष प्रकार के परिवर्तन की अनुभूति प्रतीत हो रही है। इससे साहित्यिक क्षेत्र विस्तृत हुआ। इसमें विचारों, अभिव्यक्ति, सामाजिक अस्मिताओं, प्रतिरोधों, मुक्ति संघर्षों की विविधता आई। स्त्री साहित्य, दलित साहित्य, आदिवासी साहित्य आदि इसी विविधता का परिणाम है। साहित्यिक प्रतिमानों को बदलने में स्त्री साहित्य का विशेष योगदान है क्योंकि साहित्य का अधिकांश हिस्सा हाशिए पर रखे उत्पीड़ित समाज के साथ-साथ कहीं अधिक बढ़कर स्त्री समाज से भी संबद्ध है। हिंदी साहित्य में आया यह परिवर्तन साहित्य और समाज के लिए बड़ा महत्वपूर्ण है।

स्त्री साहित्य का अर्थ क्या है? प्रायः यह प्रश्न चिंतकों के लिए विचारणीय है। यद्यपि स्त्री साहित्य की अवधारणा एवं अर्थ को लेकर विचारकों में विभिन्न प्रकार के मतभेद मिलते हैं। स्त्री साहित्य उसे की माना गया है जो स्त्रियों के विषय में स्त्रियों द्वारा लिखा गया है। स्त्री साहित्य की अवधारणा में दो विचारधाराएँ विद्यमान हैं। एक विचारधारा मानती है कि स्त्री द्वारा लिखित रचनाएँ ही स्त्री साहित्य है और दूसरी विचारधारा यह मानती है कि स्त्रियों के विषय में लिखा गया साहित्य भी स्त्री साहित्य है। स्त्री साहित्य के नाम पर इस प्रकार विभाजन नहीं किया जा सकता। स्त्री साहित्य सीधे और सरल अर्थ को परिभाषित करते हुए प्रो. रामबक्ष लिखते हैं- "स्त्रियों द्वारा रचा गया साहित्य स्त्री साहित्य है। यदि इसे इस रूप में लिया जाए कि यह स्त्री के पक्ष में लिखा गया साहित्य है या पुरुष के पक्ष में लिखा गया साहित्य है- तब दिक्कत होती है।"¹ स्त्री साहित्य का समान्यतः अर्थ स्त्री द्वारा लिखित रचनाओं के साहित्य से है। स्त्री साहित्य को अनुभूतिपरक मानते हुए जगदीश्वर चतुर्वेदी लिखते हैं- "स्त्री-साहित्य वस्तुतः स्त्री की अनुभूति का साहित्य है। यह ऐसी अनुभूतियाँ हैं जो अभी तक दबी हुई थीं, दमित थीं, उत्पीड़ित थीं।"²

जगदीश्वर चतुर्वेदी द्वारा अनुभवपरक और अनुभूतिपरक के आधार पर स्त्री साहित्य को परिभाषित करना तर्कसंगत है किंतु जब यह अनुभूति स्वानुभूति और सहानुभूति में परिवर्तित होकर स्त्री साहित्य को परिभाषित करने का प्रयत्न करती है तब यह अनुप्युक्त प्रतीत होती है, क्योंकि मात्र स्वानुभूति और सहानुभूति के आधार पर स्त्री साहित्य को अलगाया नहीं जा सकता। स्त्री साहित्य अनुभूतिगत अभिव्यक्ति का साहित्य है। यह अनुभूतिपरक अभिव्यक्ति किसी के भी द्वारा हो सकती है, किसी के भी प्रति हो सकती है, स्वयं के प्रति या किसी अन्य के प्रति। अतः स्त्री साहित्य स्त्री द्वारा रचित वह साहित्य है जिसमें अनुभूतिगत अभिव्यक्ति का प्रवाह सम्महित होता है।

स्त्री-साहित्य 'साहित्य' से जुड़कर अधिक विस्तृत हो जाता है। तब इसका अभिप्राय स्त्री मन, सभ्यता, भाषा, संस्कृति, संवेदना, आवश्यकताओं आदि से ही न होकर, ऐसे शोषित, पीड़ित समाज से होता है जो सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक शोषण से ग्रस्त, अपनी अस्मिताओं की पहचान कराने वाला, अन्यायों, अत्याचारों का प्रतिकार करने वाला है। फिर यह मात्र एक स्त्री वर्ग का प्रतिनिधित्व नहीं करता बल्कि समस्त शोषित और प्रताड़ित स्त्री वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है। इस वर्ग का प्रतिनिधित्व करने में दलित-स्त्री और आदिवासी-स्त्री भी शामिल हैं। एक प्रकार से स्त्री साहित्य सामाजिक समानता में विश्वास रखने वाला ऐसे जन-जीवन का साहित्य है, जिसे

मनुष्य कम पशु सर्वाधिक माना गया। प्रतिभा सरोज के शब्दों में- “स्त्री साहित्य ने स्त्रियों को वस्तु से व्यक्ति बनने की प्रेरणा दी है।”¹³ स्त्री साहित्य किसी एक विशेष वर्ग का प्रतिनिधित्व नहीं करता बल्कि उन समस्त शोषित, पीड़ित समुदायों का प्रतिनिधित्व करता है जो सदियों से सामाजिक विसंगतियों, आर्थिक और सांस्कृतिक विषमताओं की मार झेल रहा है। इस आधार पर ‘आदिवासी स्त्री साहित्य’ और ‘दलित स्त्री साहित्य’ स्त्री साहित्य का ही रूप है।

ऐसा मानने का एक कारण भारतीय समाज में स्त्रियों को दलित से भी दलित मानने की परंपरा में दलित, आदिवासी एवं पिछड़े साहित्य को नजर अंदाज करके नहीं देखा जा सकता है तथा दूसरा कारण स्त्री साहित्य द्वारा दलित स्त्री एवं ग्रामीण स्त्रियों का अछूता रह जाना¹⁴, दलित साहित्य द्वारा स्त्री के सवाल को तरजीह नहीं देना¹⁵ है, जिसका परिणाम दलित स्त्री साहित्य और आदिवासी स्त्री साहित्य के रूप में हमारे समक्ष है। ऐसे ही अन्य कई साहित्य इस साहित्य के अंतर्गत समाहित किए जा सकते हैं। इस प्रकार हम स्त्री साहित्य को वैश्विक रूप में देख सकते हैं।

हिंदी साहित्य में स्त्रियों को कभी भी वह स्थान नहीं मिला जिनकी वह अधिकारिणी हैं। उनको सदैव अपनी रचनाओं को सुसज्जित करने का एक उपादान माना गया, आदिकाल और रीतिकाल इसके सशक्त उदाहरण कहे जा सकते हैं। स्त्रियों की स्थितियों में सुधार यदि देखा जाए तो वह नवजागरण से प्रारंभ होता है, 20वीं सदी का वह दौर जिसमें विभिन्न सुधार किए गए जिनमें स्त्री सुधार भी एक है। हिंदी साहित्य में भी इसका प्रचलन चला और स्त्रियों की समस्याओं को रखा जाने लगा लेकिन हिंदी साहित्य में यह बदलाव ऊपरी था।

मीरा और महादेवी के बाद बंग महिला जैसी औरतों ने समाज को अपने साहित्य से परिचय कराया। इनके साहित्य ने उस यथार्थ से परिचित कराया जिसे केवल स्त्री रचनाकारों द्वारा ही व्यक्त किया जा सकता था और जिनके उत्स में बुनियादी सवाल न होकर अपने जीवन से जुड़ी प्रत्येक छोटी-बड़ी समस्याएँ मायने रखती थी, जिनका मुख्य उद्देश्य सामंतवादी और पितृसत्तात्मक व्यवस्था को तोड़कर ऐसी सामाजिक व्यवस्था की स्थापना है जिसमें उन्हें मनुष्य का दर्जा प्राप्त हो। इस प्रकार स्त्री साहित्य का आर्विभाव

मीराबाई, महादेवी वर्मा आदि के तीखे स्वर से लेकर आज तक मन्नू भंडारी, मृदुला गर्ग, मैत्रेयी पुष्पा, अनामिका, ममता कालिया आदि लेखिकाओं के माध्यम से चल रहा है। स्त्री साहित्य के आर्विभाव से पहले हिंदी साहित्य के केन्द्र में स्त्री समस्याएँ तो थीं लेकिन उसमें अपने अस्तित्व को बचाए रखने के लिए विरोध अथवा प्रतिरोध एवं मुक्ति की आकांक्षा की छटपटाहट का अभाव था। स्त्री साहित्य ने अपने साहित्य द्वारा हिंदी साहित्य की इस कमी को पूरी करने की कोशिश की जिसमें वह काफी हद तक सफल भी रही। आज स्त्री साहित्य परंपरावादी साहित्य के विपरीत आमोद-प्रमोद का सौंदर्यशास्त्र नहीं है, वह सामाजिक परिवर्तन और व्यवस्था परिवर्तन में परिवर्तन के नये सौंदर्यशास्त्र का अनूठा प्रयोग है।

साहित्य और स्त्री साहित्य का संबंध अटूट है, क्योंकि ‘स्त्री साहित्य’ साहित्य (मुख्यधारा साहित्य) के विरोधाभास की उपज है। स्त्री साहित्य को मुख्यधारा के साहित्य में शामिल न करना इन दोनों के संबंधों को नकारना है। आज कितना ही इन दोनों को पृथक् करने का प्रयास किया जाए किंतु इनके आपसी संबंधों को नकारा नहीं जा सकता। स्त्री साहित्य को मुख्यधारा के साहित्य में शामिल न करने का कारण देते हुए जगदीश्वर चतुर्वेदी लिखते हैं कि- “साहित्य’ का मूल लक्ष्य सामाजिकता एवं ‘मूल्यों’ को अभिव्यक्त करना है और इसी आधार को समीक्षा ने मूल्यों की खोज को अपना प्रमुख सरोकार माना। इसके विपरीत ‘स्त्री साहित्य’ ने स्त्री की अस्मिता और अनुभवों को केंद्रीय महत्त्व दिया।”¹⁶

स्त्री सामाजिकता और मूल्यों का ठोस आधार है। यदि समाज में जिसे मूल्यों के आधार पर सबसे अधिक प्रताड़ना और शोषण का शिकार होना पड़ा तो वह समाज की आधी आबादी के रूप में स्त्री ही है। उसकी सामाजिकता और मूल्य स्त्री साहित्य में दिखलाई पड़ते हैं, हाँ, सामाजिकता, मूल्य, मानदंड, सौंदर्यशास्त्र आदि अलग हो सकते हैं। किंतु सामाजिकता और मूल्य किसी भी साहित्य के प्राण तत्व होते हैं, इसे हम नकार नहीं सकते। वह स्त्री साहित्य और दलित/पिछड़े साहित्य में ठोस रूप में दिखलाई पड़ते हैं। उसे हम सामाजिकता और मूल्य से लैस नहीं मान सकते। स्त्री साहित्य में रमणिका गुप्ता और अनामिका कोई नया नाम नहीं है। स्त्री साहित्य के क्षेत्र में अपने लेखन के

माध्यम से लगातार इन्होंने प्रभावित किया। इन्होंने सामाजिक आवश्यकतानुसार राजनीति और अंग्रेजी साहित्य क्षेत्र से बाहर निकल हिंदी साहित्य को समृद्ध नहीं किया बल्कि नवीन सामाजिकता और जनतांत्रिक मूल्यों से हमारी पहचान कराई। हिंदी साहित्य में यदि ऐसा न होता तो हम आज राजनीतिक विमर्श या साहित्यिक विमर्श जैसा कुछ करते रह जाते।

हिंदी साहित्य में स्त्री-साहित्य का प्रवेश, किसी साहित्य को खारिज करना नहीं है, जैसा कि पिछले कई दशकों से मुख्यधारा के साहित्य ने किया है और अब स्त्री/दलित/पिछड़ों के साहित्य कर रहे हैं। स्त्रियों द्वारा अपने अधिकारों की माँग सामाजिक व्यवस्था पर चोट करना है। इसलिए समाज के व्यवस्थापकों के लिए स्त्री साहित्य आक्रामक और तर्कशील होने के कारण मुख्य धारा के साहित्य के लिए अपनाना मुश्किल है। किंतु आरंभ से ही हमने गार्गी, मैत्रेयी, मीरा, महादेवी आदि को एक विद्रोहिणी के रूप में देखा है। ये महिलाएं भारतीय स्त्रियों अथवा स्त्री लेखिकाओं के लिए आदर्श बनीं। तभी हम स्त्रियों को सशक्त रूप में हम देख पा रहे हैं और स्त्री-विमर्श अथवा स्त्री-साहित्य की बात कर पा रहे हैं अन्यथा यह कभी संभव नहीं हो पाता।

स्त्री साहित्य पर आक्षेप लगाया जाता है कि स्त्री साहित्य में पुरुष पात्रों की निंदा होती है। ऐसा कतिपय नहीं है कि स्त्री साहित्य में पुरुष पात्रों की केवल निंदा होती है। स्त्री साहित्य तो स्त्री-पुरुष संबंधों को नवीन परिभाषा में परिभाषित करने का प्रयास का रहा है। मन्नू भंडारी की 'यही सच है' कहानी को लें तो वह स्त्री-पुरुष के नवीन संबंधों को व्यक्त करने का प्रयास है। स्त्री-पुरुष के नवीन संबंधों को नवीन अर्थ देने का सफल प्रयास स्त्री विमर्शकार अनामिका ने भी बखूबी किया है। वह कहती हैं- "खुदा और बंदे का रिश्ता नहीं जानती औरत, मगर यौनेतर, निरपेक्ष दोस्ती का रिश्ता तो चाहती है। पहले इस लायक तो हो जाइए कि स्त्री आपके साथ आश्वस्त और सुरक्षित महसूस करे, उसे ऐसा लगे कि वह 'मनुष्य के साथ जा रही है, 'मर्द' के साथ नहीं जो कभी भी उस पर सपट सकता है या उसके साथ लटपट बतिया सकता है।'⁷

यदि हम साहित्य, स्त्री साहित्य एवं अन्य साहित्यों को

लेकर आक्षेप या आरोप-प्रत्यारोप करते रहें, तब यहाँ सिर्फ आरोप-प्रत्यारोप का साहित्य रह जाएगा, जो साहित्य के एकांगी रूप को व्याख्यायित करेगा और जो समाज एवं साहित्य दोनों के लिए हानिकारक है। यहां प्रश्न विद्वत्ता का नहीं है बल्कि जनतांत्रिक मूल्यों की स्थापना है। साहित्य किसी भी प्रकार के दायरे से बाहर की चीज है, जिसके केन्द्र में सामाजिक समस्याओं, विसंगतियों एवं विषमताओं को दूर करना होता है। 'स्त्री साहित्य' कभी किसी साहित्य को खारिज अथवा आरक्षण की मांग नहीं करता वह मात्र साहित्य में अपना स्थान बनाने के उद्देश्य से उपजा वह साहित्य है जो सामाजिक समानता का पक्षधर है। अपने अस्तित्व को बचाए रखने और अपनी समस्याओं को सामने लाने का प्रयास ही 'स्त्री साहित्य' का उद्देश्य है। स्त्री साहित्य सामाजिक, सांस्कृतिक क्षेत्र में एक आंदोलन है। यह नवीन मूल्यों के स्तर पर मार्गदर्शन करता है। स्त्री साहित्य एक ऐसा साहित्य है जो न पितृसत्ता और सामंतवादी व्यवस्था से लड़ रहा है बल्कि देश की भाषायी और क्षेत्रीयता की सीमा तोड़ एक समान अधिकार की माँग कर रहा है।

संदर्भ:

1. स्त्री साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, सं. अनिरुद्ध कुमार, अनिल कुमार सिंह, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लिमिटेड, नई दिल्ली, प्र.सं. 2012, पृ. 130
2. जगदीश्वर चतुर्वेदी, स्त्रीवादी साहित्य विमर्श, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लिमिटेड, नई दिल्ली, प्र.सं. 2000, पृ. 5
3. अम्बेडकर कल्चर, त्रैमासिक, प्रो. कालीचरण 'स्नेही' (सं.) सित.-नव. 2013, पृ. सं. 36
4. अम्बेडकर कल्चर, त्रैमासिक, प्रो. कालीचरण 'स्नेही' (सं.) सित.-नव. 2013, पृ. सं. 36
5. अरावली उद्घोष, त्रैमासिक, डॉ. जनकसिंह मीणा (सं.) अप्रैल-जून 2013, पृ. सं. 06
6. जगदीश्वर चतुर्वेदी, स्त्रीवादी साहित्य विमर्श, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लिमिटेड, नई दिल्ली, प्र.सं. 2000, पृ. 7
7. युग परिबोध, संपादक: आनंद प्रकाश, सितंबर 2011, पृ. 15

संपर्क : भारतीय भाषा केन्द्र, भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली- 110067, मो. 9868560306

स्त्री-मुक्ति के अजाल और यशपाल

डॉ. सारदा बैनर्जी

अतिथि प्राध्यापक, जयपुरिया कॉलेज, कोलकाता

यशपाल ने अपने उपन्यासों में स्त्री-मुक्ति के विषय को प्रमुख स्थान दिया। स्त्री के स्वतंत्र व्यक्तित्व तथा उसके अस्मिता-बोध के विकास के लिए पितृसत्तात्मक विचारधारा और मानसिकता से स्त्री की मुक्ति जरूरी है, इसे यशपाल भली-भांति समझते थे। यही वजह है कि यशपाल ने अपने उपन्यासों में ऐसे स्त्री-चरित्रों का निर्माण किया है जो पुंसवादी माहौल में पुंसवादी मान्यताओं से घिरे होकर भी अपने परतंत्र अस्तित्व की बाधाओं व परवश अस्मिता की समस्याओं से परिचित होकर पितृसत्ता की शृंखलाओं से स्वयं को कुछ हद तक मुक्त करने में सक्षम होते हैं। यशपाल के उपन्यास पितृसत्तात्मक मानसिकता, मूल्यबोध, विचारधारा तथा दृष्टिकोण के लिए बहुत बड़ी चुनौती पेश करते हैं। साथ ही यशपाल ने करुणा की मूर्ति, त्रासदी की अंतर्गाथा तथा रूढ़न करने वाली नायिका के रूप में स्त्री को चित्रित न करके बुद्धिमती, ज्ञानी, विवेकशील, निर्भीक, स्पष्टवादी व सामाजिक शिरकत करने वाले स्त्री-स्वरूप को सामने रखा है। इससे स्पष्ट होता है कि यशपाल समाजवाद की स्थापना केवल एक समाज-व्यवस्था के तौर पर ही नहीं अपितु स्त्री-पुरुष के आंतरिक संबंधों में भी समानता को प्रतिष्ठित करना चाहते थे।

यशपाल पुरुष की संपत्ति के तौर पर स्त्री की स्वीकृति के सख्त विरोधी थे। स्त्री विवाह से पहले पुरुष की संपत्ति और विवाह के बाद पति की संपत्ति वाले पुंसवादी मॉडल को यशपाल नापसंद करते थे। यशपाल इसके समर्थक थे कि स्त्रियां अपनी इच्छाओं को प्रमुखता दें तथा पुरुषाश्रय से मुक्त होकर आत्मनिर्भर बन सकें। 'दादा कॉमरेड' उपन्यास की नायिका शैल स्वतंत्र विचारों से लैस है। वह पुरुषाश्रित नहीं है, अपनी इच्छाओं को महत्व देती है तथा उसे यथासंभव अपने जीवन में लागू भी करती है। अपने आप को पुरुष की संपत्ति के रूप में देखना उसे नागवार लगता है। क्रांतिकारी हरीश से बातचीत के दौरान हरीश के मत को जानने के उत्साह से वह सवाल करती है, "तुम्हारा भी खयाल है न, स्त्री को किसी न किसी व्यक्ति की संपत्ति बन ही जाना चाहिये और पुरुष उदारता से एक-दूसरे को अपनी-अपनी संपत्ति की स्त्री पर पूर्ण अधिकार भोगने का अवसर देते रहें।"

'पूँजीवाद की भोग्य महिला और समाजवाद की आत्म-निर्भर नारी।' शीर्षक निबंध में यशपाल ने पूँजीवादी समाज-व्यवस्था और समाजवादी समाज-व्यवस्था में स्त्री के प्रति दृष्टिकोण के फर्क को सामने रखा है। इस निबंध में बड़े ही व्यंग्यात्मक लहजे में कथोपकथन की शैली में स्त्रियों की वर्तमान अवस्था तथा उससे बेहतर अवस्था बनाने के उपायों की चर्चा हुई है। यशपाल

ने लिखा है, “समाजवादी विचारधारा के अनुसार स्त्री को संपत्ति नहीं समझा जा सकता। उसका दान नहीं किया जा सकता। उसे खरीदा और बेचा नहीं जा सकता। वह किसी भी प्रकार की संपत्ति नहीं, स्वतंत्र आत्म-निर्भर व्यक्ति है।”

यशपाल के अनुसार समाजवादी समाज चूंकि स्त्री को संपत्ति के रूप में नहीं देखता इसलिए वहां स्त्री के चारित्रिक विकास की पूरी संभावनाएं मौजूद होती हैं। लेकिन पूँजीवादी समाज-व्यवस्था में स्त्री की स्वतंत्रता भी अंततः गुलामी का ही पर्याय है। जब तक स्त्रियों के प्रति समाज में वस्तुकेंद्रित मानसिकता बनी रहेगी तब तक पुंसवादी बंधन से स्त्रियों की मुक्ति संभव नहीं। लेकिन अधिकतर स्त्रियां अपने इस गुलाम अस्तित्व की अवस्थिति से अनभिज्ञ रहती हैं। ‘दादा कॉमरेड’ की शैल स्त्री-पुरुष के समतावादी सह-अस्तित्व में विश्वास रखने वाली स्त्री है, पूँजीवादी समाज में स्त्री की अवस्था का अवलोकन करते हुए वह हरीश से सवाल करती है, “यदि स्त्री को किसी न किसी की बन कर ही रहना है तो उसकी स्वतंत्रता का अर्थ ही क्या हुआ? स्वतंत्रता शायद इसी बात की है कि स्त्री एक बार अपना मालिक चुन ले परन्तु गुलाम उसे जरूर बनना है।”

‘दिव्या’ उपन्यास में यशपाल ने समाज में स्त्री की भोग्या इमेज को बार-बार पाठकों के सामने रखा और इसके जरिये पुंसवादी मानसिकता की हकीकत को बेपर्दा किया है। जीवन की विभिन्न परिस्थितियों के अनुभव से दिव्या को यह ज्ञान होता है कि पुरुषों की दृष्टि में स्त्री का अस्तित्व केवल मात्र भोग्या का है। अपने अस्तित्व को बचाए रखने के लिए दिव्या कभी ‘दारा’ बनती है कभी ‘अंशुमाला’। पितृसत्तात्मक सामाजिक संरचना में स्त्री की परतंत्र दशा पर अंशुमाला बनी दिव्या सोचती है, “गत संध्या वह अपने मन का दुख प्रकट करने के लिये स्वतंत्र थी। इस समय वह विनोद का साधन बनने के लिए विवश है। रसिक समाज अपने नेत्रों से उसका लावण्य भोग रहा है। वह परवश होकर भोग के लिये उपस्थित है।”

यशपाल इस बात के विरोधी थे कि स्त्री की पहचान पुरुष की पहचान के आधार पर तय हो। स्त्री की स्वतंत्रता उसकी आर्थिक मुक्ति में है, पुंस-सत्ता से पृथक सत्ता

निर्मित करने में है। ‘दिव्या’ उपन्यास में मारिश जब अंशुमाला को विवाह का प्रस्ताव देता है तो अंशुमाला उसे तुरंत अस्वीकार कर देती है। मारिश के यह कहने पर कि नारी के जीवन की सार्थकता के लिए पुरुष का आश्रय आवश्यक है और नारी पुरुष का आश्रय भी है तो अंशुमाला मारिश को दो टूक जवाब देती है, “आर्य, इस प्रश्रय में नारी के जीवन की सार्थकता क्या है पुरुष द्वारा उसका भोग और उपयोग। जैसे पान की इच्छा होने पर पानपात्र की सार्थकता है। आर्य, उस प्रश्रय की इच्छा न करने पर ही नारी स्वतंत्र है।”

यशपाल स्त्रियों की मानसिक गुलामी और उनके शारीरिक दासत्व से उनकी मुक्ति के पक्षधर थे। वे चाहते थे कि स्त्रियां अपने सशक्त व्यक्तित्व का निर्माण करें लेकिन यह तभी संभव होगा जब स्त्रियां आर्थिक रूप से मजबूत हों। संवैधानिक तौर पर स्त्री के पास समानता का अधिकार होने के बावजूद व्यवहार में स्त्रियां असमान पारिवारिक व सामाजिक संरचना में जी रही हैं। समतावादी समाज के निर्माण के लिए यह जरूरी है कि स्त्रियां स्वावलंबी बनें। यशपाल ने उपरोक्त निबंध में लिखा है, “यदि स्त्री आर्थिक रूप से पुरुष के अधीन और आश्रित रहेगी तो समाज में उसकी स्थिति पुरुष के समान कभी नहीं हो सकेगी। समाज में पुरुष के समान अधिकार और स्थिति पाने के लिये स्त्री का आर्थिक रूप से आत्म-निर्भर होना आवश्यक है।”

“मनुष्य के रूप” उपन्यास में यशपाल ने सोमा और मनोरमा को परनिर्भरता से मुक्त होकर क्रमशः आत्मनिर्भर बनते दिखाया है। अशिक्षित व असहाय सोमा को कभी प्रेम के लिए तो कभी आश्रय (आवास) के लिए पुरुषों पर आश्रित होना पड़ता है; केवल आश्रयदाता बदल जाता है। बदले में वह पुरुष को अपना शरीर और श्रम देती है। सोमा के परिप्रेक्ष्य में स्त्रियों की इस पराश्रित अवस्थिति पर मनोरमा सोचती है, “...सभी स्त्रियां आश्रय का मूल्य, प्रेम का मूल्य अपने शरीर से चुकाती हैं। आत्म-तुष्ट प्रेम तो वही है जो मूल्य में आश्रय न मांगे...प्रेम करने का अधिकारी वही है जो आश्रय न मांगे, जो अपने पांव पर खड़ा हो।”

लेकिन स्त्री को अपने व्यक्तिगत संपत्ति के रूप में देखने वाले पितृसत्तात्मक समाज में आधुनिक सोच से

संपन्न स्त्रियों के लिए भी हर कदम पर बाधाएं हैं। उनके मुक्त अस्तित्व को समाज स्वीकार नहीं कर पाता। 'दादा कॉमरेड' की शैल आधुनिक ढंग से जीना चाहती है लेकिन समाज में व्याप्त सामंती मानसिकता का बंधन कहीं न कहीं उसकी आधुनिकता में बाधा बनती है। उसका प्रेमी खन्ना उसे व्यक्तिगत संपत्ति मानते हुए उसके शरीर पर पूर्णाधिकार चाहता है। जब उसे यह पता चलता है कि अपने पूर्वप्रेमी के साथ शैल का केवल आत्मिक प्रेम ही नहीं शारीरिक संबंध भी था तब वह शैल से अपना रिश्ता तोड़ देता है। शैल अपने मित्र हरीश से कहती है, "मन की अपवित्रता क्षमा हो सकती है शरीर की नहीं... और यही खन्ना कहते थे कि वे मुझे आत्मा से प्रेम करते थे परन्तु शरीर का एकाधिकार चाहते थे।"

यशपाल का मानना था कि प्रेम, स्त्री के शरीर और मानव-संबंधों को सिर्फ नैतिकता की दृष्टि से नहीं देखा जाना चाहिए। विवेकपूर्ण नैतिकता और आरोपित नैतिकता में भेद होता है। यशपाल ने आरोपित नैतिकता को इंसान के लिए खतरनाक माना है जो इंसान को शारीरिक और मानसिक नैतिकता की जकड़बंदी में कैद रखता है। वे विवेकपूर्ण नैतिकता को सही मानते थे। समाज में प्रेम के साथ नैतिकता को नत्थी करके देखा जाता रहा है। पुरुष किसी स्त्री से प्रेम करता है तो वह उस स्त्री के शरीर पर एकाधिकार चाहता है।

यशपाल प्रेम के मामले में शारीरिक और मानसिक हर तरह की वर्जनाओं को, हर प्रकार की कुंठाओं को तोड़ फेंकना चाहते थे। यशपाल ने वायवीय प्रेम को सारहीन माना है और आध्यात्मिक प्रेम में विश्वास रखने वालों का मखौल उड़ाया है। साथ ही पार्थिव प्रेम को महत्त्व दिया है। 'साहित्य, कला और प्रेम' शीर्षक निबंध में लिखा है, "साहब, आध्यात्मिक प्रेम नपुंसक प्रेम है। वासना को पूरा करने की जब सामर्थ्य न हो तो मन को बहलाने का तरीका है। स्वयं जो कुछ कर सकने का अवसर नहीं, भगवान के नाम से उसकी कल्पना कर मन को बहला दिया।" 'देश द्रोही' उपन्यास की चंदा, भगवानदास खन्ना से प्रेम करते हुए भी विवाहित स्त्री का विवाह के बाद गैर-पुरुष से शारीरिक संबंध अनैतिक मानती है। जब खन्ना उसके हाथ

को स्पर्श करता है तो चंदा दूर हट जाती है। इस पर डॉ. खन्ना अपनी राय रखता है, "शरीर तो केवल साधन मात्र है। उससे तो अच्छे-बुरे सभी स्पर्श होते हैं। प्रश्न तो है, किसी बात को बुरा समझकर करना अवश्य उचित नहीं है परन्तु प्रत्येक स्पर्श में मनोविकार भी अवश्य हो, यह मैं विश्वास नहीं करता।"

समाज में विवाहेतर प्रेम को आम तौर पर उच्छृंखलता का पर्याय मान लिया जाता है। प्रेम और उच्छृंखलता की परिभाषा देते हुए 'पूँजीवाद की भोग्य महिला और समाजवाद की आत्म-निर्भर नारी' शीर्षक निबंध में यशपाल ने लिखा है, "उच्छृंखलता तो तब होती है, जब प्रेम दिल में बहलाव के लिए होता है और कला के लिये कला होती है। ...हम तो प्रेम को जीवन के विकास और रक्षा का साधन मानते हैं। वह केवल व्यक्तिगत वस्तु नहीं, सामाजिक कर्तव्य के आधार पर दो व्यक्तियों का संबंध है।"

पुरुषों में स्त्रियों पर अधिकार स्थापित करने की पुंसवादी अधिकार-भावना पर प्रश्नचिह्न लगाते हुए यशपाल ने उसे गलत और निस्सार बताया है। 'देशद्रोही' उपन्यास के डॉ. खन्ना दस साल बाद जब भारत लौटते हैं तब यमुना से उन्हें पता चलता है कि उसकी पत्नी राज का इस गलतफहमी में कि खन्ना की मौत हो चुकी है, खन्ना के दोस्त बद्री बाबू से विवाह हो चुका है। पहले तो वह बहुत निराश होता है लेकिन बाद में उसे अपनी निराशा का कारण राज पर उसकी पुंसवादी अधिकार-भावना नजर आती है। अपने मन को समझाते हुए खन्ना सोचता है, "स्त्री पति को खोकर उसकी स्मृति के प्रति वफ़ादार बनी रहे, यह पुरुष का गुरुर है। मर जाने के बाद पुरुष को गुरुर से संतोष भी नहीं मिलता परन्तु स्त्री का जीवन और सर्वस्व भस्म हो जाता है। स्त्री के जीवन और सर्वस्व का मूल्य पुरुष के निरर्थक गुरुर से भी गया बीता है? राज ने ऐसा कौन काम किया जो मैं नहीं कर आया। नर्गिस और गुलशां क्या मेरे जीवन में नहीं आई?"

ससुराल में पति के जीवन के उत्थान-पतन को पत्नी के भाग्य के साथ नत्थी करके देखा जाता है। बहू का ससुराल में आने के साथ-साथ ससुराल के संदर्भ में बहू के कदमों के शुभ-अशुभ फलों की चर्चा शुरू हो जाती है।

‘देशद्रोही’ में यशपाल ने इसी मानसिकता पर प्रहार किया है। जब राज ने पहली बार ससुराल में कदम रखा तो ससुरालवालों का रुख अलग था लेकिन जब खन्ना की मृत्यु की खबर आई तब उसी राज के लक्षण खराब माने गए, “नये ढंग की पढ़ी-लिखी बहू के घर आने से बुआ और जेठानी ने परेशानी अनुभव की थी परन्तु डॉक्टर के ऊंची नौकरी पा जाने के उत्साह में वह भुला दी गयी थी। घर में बहू के आने पर लक्ष्मी के चरण पड़ने के कारण वह लाला ईश्वरदास की दृष्टि में सुलक्षणा लक्ष्मी और लाड़ली बन गई थी। सास के आसन की अधिकारी बुआ और जेठानी उसे कुछ न कह सकती थीं। परन्तु कुलक्षणा विधवा बन जाने पर वही बहू बोझ बन गई।”

स्त्रियों ने पुंसवादी फ्रेमवर्क में अपने आप को इस तरह ढाल लिया है कि उन्हें इस बात का अहसास ही नहीं होता कि उनकी अपनी स्वतंत्र इच्छाएं व स्वतंत्र व्यक्तित्व भी होना चाहिए। पुंसवादी समाज की आंतरिक संरचना में कैद स्त्री इतनी बंधनमुक्त होती है कि प्रेम के मामले में भी उसे मुक्त निर्णय का अधिकार नहीं होता। ‘देशद्रोही’ में यशपाल ने इसी निर्धारित प्रेम की सीमा पर सवालिया निशान लगाया है। विवाह संस्थान में तयशुदा या गुलाम प्रेम के चरित्र को उजागर किया है। राज इस कदर परतंत्र है कि अपने पूर्व-पति को भी आश्रय देने में असमर्थ है। हालांकि उसी राज ने अपने पति (डॉ. खन्ना) की मृत्यु की खबर सुनकर अफीम खाकर प्राण त्यागने की कोशिश की थी। यानि विवाह-संस्थान के नियमों में बँधी स्त्री मानवीयता दिखाने के लिए या अपनी इच्छाओं को व्यक्त करने के लिए भी स्वतंत्र नहीं है; उसका प्रेम भी बंधनयुक्त होता है, तयशुदा होता है। स्त्री के जीवन में इंसानियत के लिए भी कोई स्थान नहीं है कारण समाज स्त्री के इंसानियत को भी संदेह की नज़र से देखता है। इसलिए स्त्री इंसानियत को जाहिर करने से भी डरती है, मन की इच्छाओं को अभिव्यक्त करने से भी डरती है कि कहीं उसका संसार उजड़ न जाए। उपन्यास के अंत में राज पहले तो अपना संसार उजड़ने के डर से बहन चंदा और घायल खन्ना को शरण देने से इंकार कर देती है, बाद में रात भर बिताने के बाद चले जाने को कहती है। खन्ना इस निर्णय से बेहद आहत होता है और

कहता है, “मैं राज के लिए शत्रु हो गया? वह दीवार की ओट पड़ी है? मुझे देखने भी नहीं आ सकती? वह तो मेरे प्रेम में प्राण न्योछावर कर रही थी। ...आज क्या हो गया? हाय रे स्त्री। तेरा प्रेम भी मजबूरी का है गुलामी का है...।”

इन पंक्तियों में इस बात को भी सामने रखा गया है कि गरीब मजदूरों के हक की बात करने वालों (बद्री बाबू और राज) के अंदर जनसेवा का भाव कितना खोखला होता है कि राज किसी पीड़ित इंसान की मदद इसलिए नहीं कर सकती कि उसकी सांसारिक प्रतिष्ठा को ठेस न पहुँचे, उसके ससुरालवाले उस पर संदेह न करें।

यह दुखद है कि यशपाल के उपन्यासों के स्त्री-मुक्ति के पक्ष पर आलोचकों की दृष्टि नहीं गई। अपितु यशपाल के उपन्यासों के स्त्री-पुरुष पात्रों को अश्लील, अनैतिक और अस्वस्थ कहा गया तथा परंपरागत पात्रों से हटकर नए ढंग के पात्रों को निर्मित करने के कारण उनकी जमकर आलोचना भी हुई। लेकिन उनके लेखन के प्रो-वोमेन पक्ष को एक सिरे से नज़रअंदाज़ किया गया। ‘यशपालजी और अश्लीलता’ शीर्षक निबंध में रामविलास शर्मा ने लिखा है, “खन्ना की प्रेम कहानी एक अनैतिक और मानसिक रूप से अस्वस्थ आदमी की प्रेम कहानी है। यहाँ प्रश्न अश्लीलता का नहीं वरन् उसके कमजोर अनैतिक आचरण का है।” समस्या यह है कि उपन्यास के स्त्री-पुरुष चरित्र जब तयशुदा पुंसवादी नियमों के तहत आचरण करते हैं तब वे नैतिक, संस्कारी व निष्ठावान माने जाते हैं लेकिन जब वे उस फ्रेमवर्क से तोड़कर पुरुषसत्ता विरोधी, परंपरा-विरोधी और स्वच्छंद आचरण करते हैं तब वे मर्यादाहीन-चरित्रहीन तथा अनैतिक घोषित किए जाते हैं। यशपाल इसी संकीर्ण मनोवृत्ति पर चोट करना चाहते थे। इसीलिए वे शैल के ज़रिए आधुनिक, अपनी अस्मिता के प्रति सचेत, आत्ममर्यादा संपन्न स्त्री को सामने रखते हैं। डॉ. खन्ना, डॉ. प्राणनाथ, भूषण और हरीश के ज़रिए यशपाल ऐसे पुरुष-चरित्रों को पेश करते हैं जो स्त्रियों का सम्मान करते हैं, स्त्री-इच्छा को प्रधानता देते हैं; स्त्रियों पर पुंसवादी दबाव नहीं पैदा करते।

‘झूठा-सच’ उपन्यास के डॉ. प्राणनाथ के माध्यम से यशपाल एक ऐसे पुरुष-चरित्र को चित्रित करते हैं जो अपने व्यवहार में बेहद मानवीय है। प्राणनाथ तारा से प्रेम

करता है। यह जानते हुए भी कि तारा बलात्कृत हो चुकी है प्राणनाथ तारा को विवाह का प्रस्ताव देता है। तारा की चिकित्सा के लिए भी राजी होता है और अंततः दोनों विवाह-सूत्र में बंधते हैं। स्पष्ट होता है कि यशपाल तारा के माध्यम से आत्मनिर्भर, जीवन संपन्न, व्यक्तित्व शालिनी व मेधावी स्त्री-चरित्र को सामने रखते हैं वहीं प्राणनाथ के माध्यम से एक ऐसे पुरुष-चरित्र को पेश करते हैं तो स्त्री को यौन-शुचिता तथा नैतिकता से पृथक् करके देखता हो। प्राणनाथ इस टैबू से मुक्त है कि स्त्री केवल शरीर है और उस पर अधिकार स्थापित करना है। वह स्त्री को इंसान के तौर पर देखता है और एक इंसान के रूप में ही तारा से प्रेम करता है। जब हम स्त्री को एक इंसान के तौर पर देखेंगे तो स्त्री की समस्याएं भी नज़र आएंगी। स्त्री के नागरिक अधिकार भी दिखाई देंगे। प्राणनाथ तारा तथा दूसरी स्त्रियों के साथ बेहद आत्मीयतापूर्ण व्यवहार करता है। इससे स्पष्ट होता है कि यशपाल किस तरह के पुरुषों को समाज में देखना चाहते थे।

हालांकि यशपाल के चित्रण की यह सीमा थी कि उन्होंने स्त्रियों को मुक्त होते तो दिखाया लेकिन दोबारा बंधनयुक्त होने के लिए। उनकी स्त्रियां समाज में समान अधिकार चाहती हैं, वस्तुकेंद्रित मानसिकता से संघर्ष भी करती हैं लेकिन वापस पुरुषों की शरण में जाने के लिए, वापस तयशुदा विचारों में बंधने के लिए। उनके उपन्यासों के आधुनिक स्त्री-चरित्र वैचारिक आत्मनिर्भरता को समझते-पहचानते हैं लेकिन मानसिक और आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर नहीं बन पाते। 'झूठा-सच' की तारा को अपवादस्वरूप छोड़ दिया जाए तो उनके उपन्यासों की नायिकाएं अंततः पुरुष को ही अपने त्राणकर्ता के रूप में वरण करती हैं।

'दिव्या' उपन्यास में दिव्या मारिश के व्यवहार से अवगत होते हुए भी शेष में मारिश को ही जीवनसंगी के रूप में अपनाती है। 'देश द्रोही' की चंदा उपन्यास के अंत तक मर्यादा, उचित-अनुचित, भय आदि रूढ़िबद्ध भावनाओं से मुक्त हो जाती है और यह निर्णय लेती है कि वह स्वयं अपने जीवन के फैसले लेगी लेकिन अंत तक इसकी रक्षा नहीं कर पाती। 'दादा कॉमरेड' की शैल जो सुशिक्षित

आधुनिक विचारों की युवती है, वह भी अंततः बिना आत्मनिर्भर बने (नौकरी किए) दादा को शरण में लेने के लिए कहती है। 'मनुष्य के रूप' की मनोरमा मानसिक रूप से सर्वदा भूषण पर आश्रित रहती है और उसके आत्मनिर्भर बनने में भूषण का ही योगदान रहता है। 'मनुष्य के रूप' की सोमा भी फ़िल्मों की प्रतिष्ठित नायिका बन जाने के बाद भी सर्वदा बनवारी पर अपने निर्णयों के लिए आश्रित बनी रहती है। हालांकि यशपाल स्त्रियों के आर्थिक और मानसिक स्वावलंबन के पक्षधर थे और यह भी जानते थे कि स्त्री की मुक्ति में इनकी बड़ी भूमिका है, तब भी अपने उपन्यासों में पूर्णतः आत्मनिर्भर स्त्री-चरित्र नहीं प्रस्तुत कर पाए।

यशपाल के उपन्यासों का मुख्य जोर इस बात पर रहा है कि समाज में स्त्रियों के पराश्रित अस्तित्व की समस्या को पाठकों के सामने रखा जाए तथा स्त्रियों को उनकी मातहत अवस्था और अधीन मानसिकता से मुक्त किया जाए। आधुनिक समाज में पुरुषों को जितने अधिकार प्राप्त हैं वे सारे अधिकार स्त्रियों को भी मिलें। इसके अतिरिक्त यशपाल पुरुषों में मानवीय, संवेदनशील तथा स्त्री-मुक्ति के पक्षधर विचारधारा को विकसित करना चाहते थे।

पूँजीवादी समाज में रहते हुए परंपरागत व गुलाम मनोदशा से स्त्रियों की मुक्ति संभव नहीं कारण पूँजीवादी समाज-व्यवस्था में अन्य वस्तुओं की तरह स्त्री भी एक वस्तु ही है। स्त्रियों का अपने इस वस्तुबोध से मुक्त होना ज़रूरी है।

स्त्रियों में यह सचेतना होनी चाहिए कि वे अन्य की संपत्ति नहीं हैं। स्त्री एक मनुष्य है और मनुष्य होने के नाते उसका भी वही अधिकार है जो एक पुरुष का है। अधिकार-बोध की यह भावना स्त्री में अस्मिता-बोध को जागृत करता है। स्त्री की स्वतंत्र अस्मिता के निर्माण के लिए उसकी आर्थिक आत्मनिर्भरता ज़रूरी है। आर्थिक आत्मनिर्भरता उसकी सामाजिक और सांस्कृतिक आत्मनिर्भरता को पुख्ता करता है। इसके साथ ही स्त्री के पास एक वैकल्पिक समाज और सामाजिक संबंध होना ज़रूरी है ताकि वह समय का सदुपयोग कर सके। यशपाल हर तरह से आत्मनिर्भर स्त्रियों को ही समाज में देखना चाहते थे।

संपर्क : 9038794738

नामवर सिंह और रसशास्त्र का विच्छेदन

डॉ. जगदीश्वर चतुर्वेदी

आचार्य, हिंदी विभाग

कलकत्ता विश्वविद्यालय, कोलकाता

रस पर इन दिनों तकरीबन बातें नहीं हो रही हैं। जबकि रसशास्त्र ने 18 सौ साल तक रचना और आलोचना को प्रभावित किया, हमारे सौंदर्यबोध के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। सवाल यह है कि वह अचानक गायब कैसे हो गया? क्या रस आज भी प्रासंगिक है? क्या रसशास्त्र के जरिए नाटक, साहित्य और समाज का नया मूल्यांकन संभव है? बकौल नामवर सिंह “रस: जस का तस या बस?” हमें इस लक्ष्मण रेखा का मूल्यांकन करना चाहिए। अनेक बार अकादमिक आलस्य के कारण हम परंपरा में जाना बंद कर देते हैं और यही बड़ी वजह है कि रस पर हमने बातें बंद कर दी हैं।

सवाल उठता है कि रचना लिखने के बाद और रचना लिखने के दौरान लेखक अपनी रचना का आनंद लेता है या नहीं? कुछ कह रहे हैं रचना लिखने के बाद रचना स्वायत्त हो जाती है। यह भी कहा जा रहा है कि रचना कभी स्वायत्त नहीं होती, वह पाठक से हमेशा जुड़ी रहती है, पाठक के आत्मगत बोध से जुड़ी रहती है। सृजन के बाद लेखक से रचना अपने को स्वायत्त कर लेती है, लेखक अपनी रचना लिखने के दौरान आस्वाद भी लेता है लेकिन असल आस्वाद तो पाठक लेता है। लेखक को तो लिखकर ही शांति मिलती है, सुख मिलता है। रचना कैसी है यह तो पाठक ही बेहतर ढंग से बता सकता है। संस्कृत कवि कहते हैं कवि को तो सहृदय की अवस्था में ही आनंद की प्राप्ति होती है। लेखक लिखता जरूर है लेकिन लेखक के सार का आनंद तो सहृदय लेता है। इस नजरिए से देखें तो संस्कृत का कवि रचना को ‘एक तैयार माल’ मानकर चलता है। इससे रचना का गतिशील आनंद उपेक्षित होता है। मसलन, इसमें भोक्ता के आनंद का तो महत्व है लेकिन कवि के आनंद का कोई महत्व नहीं है। जबकि लेखक लिखते समय आनंद लेता है और रचना के संपूर्ण होने के बाद भी आनंद लेता है। इस प्रक्रिया में रचना के गतिशील पक्ष की उपेक्षा होती है और रचना के बाह्य स्थिर या जड़ उपकरणों के साज-संवार पर लेखक ज्यादा जोर देने लगता है।

आज लेखक के सामने सामाजिक सरोकारों को व्यक्त करने की चुनौती है, लेकिन इस तरह की कोई चुनौती रसयुग में नहीं थी, रसयुग में तो रचनाकार का एकमात्र लक्ष्य था रसग्राही सहृदय जुगाड़ करना और लेखक को अजर-अमर बनाने के सूत्रों की खोज करना। इसलिए उसने रचना को बाह्य उपकरणों से सजाने-संवारने पर ज्यादा ध्यान दिया। नए विषयों की खोज पर कम ध्यान दिया। फलतः रचना में बड़े पैमाने पर अभिव्यक्ति के नए उपकरणों का सृजन

तो हुआ लेकिन नई विषय वस्तु का प्रवेश नहीं हो पाया। इसने रचना के उपकरणों का निर्वैयक्तिक तंत्र निर्मित किया। यह ऐसा तंत्र है जिसका सतह पर समाज से कोई संबंध नजर नहीं आता लेकिन गहराई में जाकर देखें तो रचना के उपकरणों के निर्वैयक्तिक तंत्र का गहरा संबंध वस्तुतः राज दरबार, राजस्तुति, सुभाषित और समाज की अगतिशीलता के साथ है। इस प्रक्रिया में सर्जना के गतिशील पक्ष की ओर लेखक ने ध्यान देना ही जरूरी नहीं समझा। यही वह बिंदु है जहाँ से खड़े होकर कवि के निरंकुश भावबोध का जन्म होता है। कवि निरंकुश होता है यह धारणा जन्म लेती है।

रचना में बाह्य उपकरणों, रूढ़िगत प्रतिमानों और सरस विषयों का आग्रह रहेगा तो कवि के निरंकुश होने की संभावनाएं ज्यादा होगी। खासकर जब लेखक भाव विशेष पर ही केन्द्रित होकर बार-बार रचना लिखेगा तो उसके रूपवादी होने की संभावनाएं बढ़ जाती हैं। कहने के लिए नौ रस थे लेकिन लिखा गया शृंगार रस पर ही, खोज-खोज कर उससे संबंधित विषयों पर नई शैली, नई भाषा, नए अलंकारों में रचनाएं लिखी गयीं, इसके कारण आलोचना में रूपवादी रुझानों का आरंभ हुआ। साहित्य और समाज के बीच में अलगाव की सृष्टि हुई। लेखक और प्रकृति में अलगाव का आरंभ हुआ। 'समग्रालक्ष्मी' की अवधारणा से क्रमशः लेखक दूर होता चला गया। आरंभ में समग्र व्यक्ति के बोध पर जोर था लेकिन बाद में व्यक्ति के भावविशेष पर जोर दिया गया। शास्त्रज्ञान पर जोर दिया गया। पहले प्रकृति को जानने और चित्रित करने पर जोर था बाद में शास्त्र जानने पर जोर दिया गया। इसके कारण आलोचना में रूपवादी तत्त्वों की जमकर सृष्टि हुई।

पहले लेखक के लिए प्रकृति प्रमुख थी, बाद में लेखक को ब्रह्मानंद सहोदर कहा गया, बाद में इन सबसे दूर निकलकर लेखक ने स्थिर विषयों और परब्रह्म के रूपों पर लिखना आरंभ किया। इस क्रम में मनुष्य उपेक्षित हो गया; परंपराएँ निर्जीव हो गयीं और रचना के बाह्य उपकरण प्रमुख हो गये। रचनाकार के अंदर आए इन बदलावों का रचनाकार के सामाजिक नजरिए से गहरा संबंध है। रचनाकार पहले प्रकृति से जुड़ने के कारण समाज से जुड़ा हुआ था,

बाद में ज्योंही उसने दरबार की ओर रुख किया वह प्रकृति से कट गया और अभिव्यक्ति के लिए उसने रूढ़िबद्ध रूपों को अपना लिया, साहित्य में यहीं से स्टीरियोटाइप चीजों का प्रवेश होता है। उसके इस तरह के रुख का एक अन्य कारण था लेखक का मूल्यबोध और सामाजिक सरोकारों का अभाव। यह भी सच्चाई है कि संस्कृत में कोई विद्रोही कवि नहीं हुआ और न विद्रोही साहित्य ही लिखा गया। इन दोनों के अभाव के कारण के रूप में हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अंधविश्वास, कर्मफल के सिद्धांत और पुनर्जन्म की धारणा के असर को जिम्मेदार ठहराया।

सवाल यह है कि इन मूल्यों और विचारों का लोकभाषा के साहित्य और कवियों पर असर क्यों नहीं पड़ा? जनभाषाओं में ऐसे लेखक हैं जिनकी रचनाओं में अंधविश्वास, कर्मफल के सिद्धांत आदि का न्यूनतम असर है। जबकि संस्कृत के लेखकों में व्यापक असर है। उन लेखकों पर इन मूल्यों का ज्यादा असर था जिन्होंने अपने लिए विषयवस्तु "रामायण" और "महाभारत" चुनी। क्योंकि इन दोनों महाकाव्यों में अंधविश्वास आदि से जुड़ी बातें बड़ी संख्या में नजर आती हैं। इस प्रसंग में हमें देखना चाहिए कि लेखक रचना के लिए विषय कहां से चुनता है? लोकभाषाओं में अनेक लेखकों ने साहित्यिक रूढ़ियों और रूढ़िग्रस्त प्रतिमानों का जमकर विरोध किया और अभिव्यक्ति के लिए संस्कृत परंपरा से भिन्न विकल्पों की खोज की, "रामायण" और "महाभारत" जैसे महाकाव्यों से विषय न चुनकर जीवन से विषय चुने। यही वजह है उनके साहित्य में संस्कृत साहित्य की तुलना में सर्जनात्मकता का विकास बेहतर ढंग से हुआ। उनके साहित्य को आम जनता में जनप्रियता मिली। इसके विपरीत संस्कृत साहित्य शिक्षित संस्कृत समाज तक ही सीमित रहा। इसका एक आशय यह भी है कि संस्कृत के लेखकों पर अंधविश्वास, पुनर्जन्म और कर्मफल के सिद्धांत का ज्यादा असर था। यही वजह है कि वहां साहित्यिक रूढ़ियों का व्यापक रूप में विकास हुआ।

इसके अलावा संस्कृत के अधिकांश लेखक आस्तिक थे, फलतः उनमें स्वतंत्र चिंतन के प्रति कोई आग्रह या पहल नजर नहीं आती। साहित्य में स्वतंत्र चिंतन, नए

विषय पर लिखने की इच्छा का लेखक के स्वतंत्र भावबोध से गहरा संबंध है। लोकभाषाओं के लेखकों ने स्वतंत्र चिंतन का परिचय देते हुए कविता के फॉर्म से जुड़े रूपों को चुनौती दी। यह भी कह सकते हैं कि लोकभाषा के कवियों में संस्कृत काव्य के फॉर्म से बाहर निकलकर लिखने की छटपटाहट है वह असल में उनके अंदर सामाजिक और दार्शनिक बंधनों से बाहर निकलने की स्वतंत्र चिंतन की प्रक्रिया से जुड़ी है। इनमें अनेक लेखक ऐसे भी हैं जो ईश्वर के परंपरागत रूप को सीधे चुनौती देते हैं।

संस्कृत काव्य लेखकों को धर्मशास्त्र प्रभावित कर रहा था जबकि लोकभाषा के लेखकों में धर्मशास्त्र के प्रति बगावत के भाव नजर आते हैं। धार्मिक और सामाजिक रूढ़ियों के प्रति बगावत नजर आती है। वे ईश्वर और राजा की सत्ता बनाए रखते हैं, लेकिन काव्य जगत में परिवर्तन की लहर पैदा कर देते हैं। कहने का अर्थ यह है कि संस्कृत साहित्य के लेखक और लोकभाषा साहित्य के लेखक के नजरिए में बुनियादी अंतर हैं। इसका अर्थ यह भी है कि मध्यकाल में साहित्य की कई परंपराएं थीं। इन परंपराओं में गहरे वैचारिक अंतर्विरोध हैं, इन परंपराओं से जुड़े लेखकों के नजरिए, साहित्य प्रयोजन, सामाजिक आधार और सामाजिक सरोकार भिन्न हैं।

संस्कृत लेखक की बौद्धिक-सांस्कृतिक संरचना और लोकभाषा लेखक की बौद्धिक-सांस्कृतिक संरचना की धुरी है उनकी समाजदृष्टि। संस्कृत लेखक हमेशा राजा को ईकाई मानकर लिखते रहे। जबकि जनभाषा के लेखकों ने भगवान को आधार बनाकर लिखा। इसलिए राजा बनाम भगवान का द्वंद्व वहां सहज की देख सकते हैं। संस्कृत लेखकों ने राजा की आड़ में सामाजिक-दर्शन अंतर्विरोधों को छिपाने की कोशिश की वहीं जनभाषा के लेखकों ने भगवान के बहाने सामाजिक-दार्शनिक अंतर्विरोधों और सामाजिक पीड़ाओं को चित्रित किया। संस्कृत के लेखक का नजरिया रस और काव्य नियमों से संचालित है।

रस और काव्यनियम वस्तुतः धर्मशास्त्रीय मूल्यों और मान्यताओं के आवरण का काम करते हैं। रस के नाम पर वहाँ वस्तुतः मध्यकालीन रूढ़ियों का पल्लवन हुआ। खासकर 5वीं शताब्दी के बाद से यह प्रवृत्ति ज्यादा प्रबल रूप में

सामने आती है। इसके कारण संस्कृत लेखकों का साहित्यबोध और साहित्यशिल्प दोनों प्रभावित हुए। साहित्य को शाश्वत मानने की धारणा बलवती हुई। अधिकांश कवियों ने कविता के शिल्प पर इस कदर जोर दिया कि लेखक के विचारों में स्वतंत्र पहलकदमी एकदम खत्म हो गयी, अब लेखक गढ़िया होकर रह गया। यह गढ़िया लेखक भावहीन शिल्प-साधना में निरंतर बढ़ता चला गया। फलतः अभिव्यक्ति के वास्तविक रूपों और विषयों के ऊपर उसकी पकड़ एक सिरे से खत्म हो गयी। यह ऐसा लेखक है जिस पर जीवन की यथार्थ घटनाओं का कोई असर नजर नहीं आता। वह जीवन की सच्चाई को न तो देखता है और न उससे प्रभावित ही होता है।

संस्कृत के लेखकों ने जिन विषयों पर लिखा है उससे कुछ समय तक पाठक का मनोरंजन तो होता है लेकिन इस तरह के साहित्य का समाज पर कोई असर नहीं पड़ता। इस तरह के साहित्य को वे ही लोग 'शाश्वत साहित्य'। 'शाश्वत चिंतन' और 'शाश्वत मूल्य' कहते हैं। इन लेखकों ने बड़े पैमाने पर साहित्यिक और कलात्मक रचनाओं के सिद्धांत, नियम और संरचना की विधियों को खोजने का प्रयत्न किया। आंचलिक, व्यक्तिपरक, देशज, सांस्कृतिक रूपों का बहिष्कार किया। रचनाओं में 'प्रतिनिधि' और 'सार्वभौम' की बड़े पैमाने पर सृष्टि की। सामान्य चरित्रों को न्यूनतम स्थान दिया। मसलन, राजा जिस भाषा में बोलता है वह उसी भाषा में बोलेगा, आमजन जिस भाषा में बोलते हैं, वे उसी भाषा में बोलेंगे। राजा को राजा की तरह और रंक को जनभाषा में बोलना चाहिए। यह भी धारणा रही है कि 'प्रतिनिधि' और 'सार्वभौम' चरित्रों के रूपायन से ही महान साहित्य की सृष्टि होती है। इसी समझ ने शास्त्रीय रचनाओं का अनुकरण करने पर जोर दिया। फलतः सामाजिक यथार्थ से संस्कृत साहित्य का संपर्क संबंध कट गया। यही वह परिप्रेक्ष्य है जिसमें रस सिद्धांत का जन्म और विकास हुआ।

नामवर सिंह ने 'रस:जस का तस या बस?' इस शीर्षक से एक संपादकीय 'आलोचना' (जनवरी-मार्च 1990) में लिखा था, यह उनकी किताब 'कविता की जमीन और जमीन की कविता' (2010) में शामिल है।

उल्लेखनीय है 'कविता के नये प्रतिमान' में नामवर जी ने 1968 में पहली बार रस पर विचार किया था उसके बाद 1990 में उनकी नजर रस पर पड़ी। देखना यह है कि उनके नजरिए में रस के प्रसंग में क्या बदलाव आया? 'कविता के नये प्रतिमान' में नामवर जी ने प्रतिमान के रूप में रस की पुनर्व्याख्या या पुनरुद्धार को अप्रासंगिक माना है, महत्वपूर्ण माना है आस्वाद प्रक्रिया और कविता की अर्थमीमांसा को। क्या आस्वाद के सवाल बदले हैं? क्या आस्वाद की प्रक्रिया में बदलाव आया है? क्या कविता वही है जो 1968 में थी? कविता के चरित्र में किस तरह का परिवर्तन आया है? क्या 1968 में नामवरजी के जो विचार थे वे 1990 में बने रहे या बदल गए? नामवरजी ने अभिनवगुप्त की रस संबंधित समझ का व्यापक उपयोग किया है और भरत वर्णित रसों से भिन्न शांतरस की ओर ध्यान खींचा है, लेकिन लिखा नहीं।

'रस:जस का तस या बस?' शीर्षक लेख में नामवरजी ने कई महत्वपूर्ण बातें कही हैं। उनमें पहली बात यह कि 'चिंतन के क्षेत्र में पूर्वजों से उद्गृह्य होने का एक तरीका यह है कि उनकी मान्यताओं की पुनः प्रस्तुति स्वयं उनकी प्रस्तुति से बेहतर की जाए।' इस क्रम में नामवरजी ने प्रो. अशोक रामचन्द्र केलकर के 'प्राचीन भारतीय साहित्य मीमांसा' में प्रस्तुत रस संबंधी विचारों को पेश किया है। नामवरजी के लेख के शीर्षक में प्रश्नवाचक चिह्न अर्थ पूर्ण है। यह अनेक रास्ते खोलता है। इस लेख में केलकरजी के विचारों को जस का तस रख दिया गया है, वहीं दूसरी ओर संभावनाओं के लिए रास्ता खुला छोड़ा गया है। नामवरजी ने लिखा है बेडेकर ने रस-विमर्श की उस प्रचलित प्रवृत्ति पर प्रहार किया था, जिसमें रस की चर्चा एक 'मनोवैज्ञानिक सिद्धांत' के रूप में की जा रही थी। इसके विपरीत बेडेकर ने इस प्रस्थान-बिंदु से अपनी चिंतन-यात्रा का प्रारंभ किया कि रस-व्यवस्था 'कलास्वरूप शास्त्रों' का भारतीय प्रमेय है और विशिष्ट सांस्कृतिक संदर्भ में ही उसके सच्चे स्वरूप की पहचान संभव है।' (कविता की जमीन और जमीन की कविता, 2010, पृ. 11)

नामवरजी ने केलकर के विचारों को अधूरे ढंग से पेश किया है उसके कारण रस पर सुसंगत नजरिया बनाने में

मदद कम मिलती है। लेकिन नामवरजी की स्वयं की टिप्पणियां काफी महत्वपूर्ण हैं। नामवरजी ने लिखा 'कहने की आवश्यकता नहीं कि अन्य कल्पकथाओं की तरह नाट्योत्पत्ति की इस देवासुर-कथा में भी 'नाट्यवेद' निहित है। नाट्यवेद अर्थात् नाट्य सिद्धांत। इसलिए समस्या एक 'मिथक' के ऊपर दूसरा 'मिथक' गढ़ने की नहीं, बल्कि उसी 'मिथक' को उधेड़ने की है। कल्पसृष्टि एक और पुनर्निर्माण नहीं चाहती, मीमांसा माँगती है। आज की भाषा में कहें तो 'रिकंस्ट्रक्शन' नहीं 'डिक्ंस्ट्रक्शन'। असंगतियों के बीच सुसंगति लगाने से कहीं ज्यादा जरूरी है सुसंगत प्रतीत होने वाली रचना में छिपी हुई असंगतियों का उद्घाटन।' (वही, पृ. 15)

सवाल यह है नाटक हो या यज्ञ हो, देवासुर संग्राम पर कल्पसृष्टि हो रसों के सृजन की समस्या हो इसका लक्ष्य क्या है? यदि हम 'डिक्ंस्ट्रक्शन' करें तो इसके केन्द्र को खोला जा सकता है। रसशास्त्र की समूची चर्चा के केन्द्र में दो बातें सबसे महत्व की हैं। पहली है चीजों को देखने और प्रस्तुत करने की पद्धति और दूसरा है लक्ष्य। दि.के. बेडेकर ने 'प्राचीन साहित्य मीमांसा' नामक अपनी लेखमाला में इन दो बातों को रेखांकित किया है इनमें से एक का नामवरजी ने जिक्र किया है, यानी पद्धति का जिक्र किया है लेकिन लक्ष्य को वे छिपा गए। नामवरजी ने लिखा है 'बहरहाल यह 'यज्ञ नाट्य' देवासुर-कथा ही है और बेडेकर ने विस्तृत विश्लेषण के द्वारा दिखला दिया कि भरत-निर्दिष्ट आठ रसों का अधिष्ठान देवासुर द्वंद्व में स्थित है। उन्हीं के शब्दों में 'मनोविज्ञान को एक तरफ रखकर स्थायित्व का अर्थ आठ रसों के स्थिर संबंध ही लगाना चाहिए। इसी प्रकार इन आठ रसों के पीछे जाकर शृंगारादि रस-चतुष्टय पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। शृंगारादि चतुष्टय का पुनः शृंगार वीर और रौद्र-वीभत्स ऐसा द्वंद्व ध्यान में रखना चाहिए। यह द्वंद्व देव और असुर द्वंद्व का नाट्यमय रसात्मक स्वरूप है। यह निश्चित रूप से जान लेने पर भरत प्रणीत रस-व्यवस्था का सब अर्थ अच्छी तरह से लग जाता है।' (16-17)

'रस-निष्पत्ति' के प्रसंग में नामवरजी ने लिखा 'इसी प्रकार 'रस निष्पत्ति' की प्रक्रिया यज्ञ प्रक्रिया के अनुसार

समझाई गई है। 'रस-निष्पत्ति' के स्वरूप की चर्चा में अन्य विद्वान जहाँ 'षाडव रस' तथा 'पानक रस' में उलझे रहे, बेडेकर की निर्भ्रान्त दृष्टि 'नाट्यशास्त्र' की इस पंक्ति पर गई- 'शरीरं व्याप्यते तेन शुष्कं काष्ठमिवाग्निना।' लकड़ी में सुप्त अग्नि मंथन-प्रयोग से व्यक्त होती है और उस लकड़ी को ही व्याप्त कर लेती है। यज्ञ की अग्नि पुराकाल में (और परंपरा-निर्वाह के लिए आज भी) इसी विधि से पैदा की जाती थी। लकड़ी में सुप्त अग्नि को लकड़ी की ओखली में दूसरी लकड़ी की मथानी घुमाने से व्यक्त किया जा सकता है। यज्ञ-क्रिया में ऐसी ही सिद्ध अग्नि ही काम में लाते थे। एक प्रकार से देखें तो देवासुर-कथा का द्वंद्व यहाँ भी सक्रिय है। रस-व्यवस्था के मूल में द्वंद्व है। बेडेकर की क्रांतिकारी खोज यही थी।' (पृ. 17) कहने का आशय यह कि नाटक में 'द्वंद्व' के नजरिए के जनक भरत हैं। 'द्वंद्व' के बिना सृजन नहीं होता। यह हमारी परंपरा का सबसे मूल्यवान नजरिया है और पद्धति भी है। यह आज की सृजन के लिए भी प्रासंगिक है। रही बात काठ के घर्षण से अग्नि पैदा करने की तो अग्नि तो लकड़ी में होती है। घर्षण उसे जन्म देता है। इसे तीव्र भावोमि कह सकते हैं, रचना के निर्माण में भावोमि की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। जब कोई विषय लेखक को उद्बलित करता है तब ही रचना की पहली चिंगारी फूटती है। वहाँ से लेखक के भावानुभावों की सृष्टि होती है। यही चीज बाद में रचना के रूप में प्रकाश पाती है।

नामवर जी ने बेडेकर की धारणाओं का विस्तार से विवेचन करने के बाद लिखा सारी युक्ति का सार यह है कि नाट्य प्रयोग न देवी की विजय प्रदर्शित करता है, न असुरों की पराजय; वह तो त्रैलोक्य का भावानुकीर्तन है। अभिनव ने इस भावानुकीर्तन का एक लंबा-चौड़ा दर्शन पेश कर दिया है, जिसे भारतीय साहित्य मीमांसा का अमर सिद्धांत समझा जाता है। आगे लिखा, 'किंतु क्या यह काव्य-सिद्धांत 'जर्जर' का ही दूसरा रूप नहीं है? जो कार्य बड़े डंडे से न सधे, उसे साधने के लिए सिद्धांत का सहारा लिया जाए तो उस सिद्धांत को क्या नाम दिया जायेगा? इस संदर्भ में अभिनवगुप्त के दो वाक्य उल्लेखनीय हैं। नाट्यशास्त्र के 1/70 पर अभिनवगुप्त अपनी ओर से

जोड़ते हैं- एवं राज्ञा सिद्धिविधातका दण्डया इति। अर्थात् इस प्रकार राजा को नाट्य सिद्धि में विघ्न डालनेवालों को दंड देना चाहिए। नाट्यशास्त्र के 1/99 श्लोक में ब्रह्मा द्वारा शांतिपूर्वक समझाने के प्रसंग पर- नाशक्त सामाङ्गीकरोति दुर्जन इति पर्वरक्षाकरणम्। अर्थात् असक्त के साम को दुर्जन नहीं मानता इसलिए (साम के पहले) रक्षा-विधान दृढ़ कर लिया जाए। तात्पर्य यह है कि ब्रह्मा के मुख से कहलाया गया 'नाट्य दर्शन' 'शक्त का साम' अर्थात् ताकतवर का शांति पाठ है। इस प्रकार क्या रस का दर्शन शक्ति का प्रदर्शन नहीं लगता? आजकल जिसे 'आइडियोलॉजी' कहते हैं वह और क्या होती है? क्या रस सिद्धांत ने शुरू से ही एक 'आइडियोलॉजी' अथवा 'दिट्ट' की भूमिका नहीं निभाई है।'

नामवर जी ने बेडेकर का विवेचन करने के साथ ही अंत में यह भी लिखा, 'आशंका सिर्फ यही है कि नया आकलन भी कहीं इसी लंबी शृंखला की एक कड़ी न साबित हो! बेडेकर ने शायद इसीलिए सभी सम्भाव्य संस्करणों को संदिग्ध समझा और रस को संग्रहालय में सुरक्षित रखने का प्रस्ताव रखा। इसीलिए आज भी यह प्रश्न है कि रस:जस का तस अथवा बस? दिलचस्प बात यह है कि नामवर जी रस की विचारधारा के पहलू को खोलते ही नहीं हैं और सवाल उठाकर छोड़ देते हैं। रस की विचारधारा का पहलू तब खुलता है जब हम शांत रस के अंदर प्रवेश करते हैं। बेडेकर ने शांत रस का जिक्र तक नहीं किया और नामवर जी जिक्र तो करते हैं लेकिन विवेचन से कन्नी काटते हैं। अभिनवगुप्त ने शांत रस का शृंगार के साथ अंतर्विरोध दिखाकर रस की विचारधारा में निहित जनविरोधी भावों को उद्घाटित किया है। सवाल यह है कि शांत रस क्या है और उसे कैसे देखें?

शांत रस पर जोर देकर अभिनवगुप्त ने असल में रस के समूचे ढांचे और विचारधारा को निशाना बनाया है। अभिनवगुप्त जिस समय लिख रहे थे उस समय समाज में कला, साहित्य, संस्कृति आदि विभिन्न क्षेत्रों में हासशील प्रवृत्तियाँ चरम पर थीं। रस की सृष्टि और संरचना ने हासशील प्रवृत्तियों को जमकर बढ़ावा दिया, कला सामाजिक उन्नति की बजाय समाज में अवरोध पैदा करने का काम

कर रही थीं। रसों की संरचना और विचारधारा पर विचार करें तो पाएँगे कि रसों में गहरा अन्तर्विरोध है। मसलन, रति है तो वैराग्य भी है। रसों में एक-दूसरे के विरोधी भावों का होना यह दर्शाता है कि रसों का चरित्र अंतर्विरोधपूर्ण और ह्रासशील है, यह चित्तवृत्तियों का शमन नहीं करता बल्कि उनको तनावयुक्त बनाता है। यह संभव नहीं है कि शत्रु पर विजय प्राप्त करने के लिए उत्साहित भी हो और शत्रु से डरे भी। लेकिन इस तरह के अंतर्विरोध रसों में हैं। रसों में अंतर्निहित अंतर्विरोधों की अभिनवगुप्त ने नाट्यशास्त्र की अभिनवभारती टीका में विस्तार से चर्चा किया है।

भरत वर्णित 8 रसों के इस समूचे ढाँचे से बाहर निकले बिना रस के प्रति नए नजरिए और नई भूमिका का विकास संभव नहीं है। यह आयरनी है कि अभिनवगुप्त की रस संबंधी आलोचना को संस्कृतकवियों और आलोचकों ने गंभीरता से ग्रहण नहीं किया। भरत के यहाँ रस के अंतर्विरोध से निकलने का उपाय है एक रस से निकलो और दूसरे की शरण लो। इसके लिए 'ऐकाधिकरण्य' की पद्धति के प्रयोग पर जोर दिया, ऐकाधिकरण्य का अर्थ है एक आश्रय से संबंध होना। अभिनवगुप्त ने लिखा है भय और उत्साह का एक आश्रय में सहभाव दूषित होता है। किंतु उनके आश्रय बदल देने से उनका विरोध जाता रहता है। इसके लिए एकाश्रयत्व में निर्दोष और नैरंतर्य पर जोर दिया गया। इससे रसों में व्याप्त अंतर्विरोधों का समाधान नहीं हुआ।

उल्लेखनीय है अभिनवगुप्त ने नागानंद का उदाहरण दिया है और उसके संदर्भ में शृंगार और शांत रस के अंतर्विरोध का विश्लेषण करते हुए शांत रस की स्थापना की है। अभिनवगुप्त के मूल्यांकन का यह वह बिंदु है जहाँ पर भोगवाद, पुंसवाद और रस के अंतस्संबंध को वे निशाना बनाते हैं। इस अंतस्संबंध को समझाने के लिए उन्होंने सांख्य दर्शन के दो तत्त्वों 'चित्तवृत्ति का प्रसार' और 'लिङ्गशरीर' की अवधारणा का इस्तेमाल किया है। वे विस्तार के साथ नागानन्द की कथा का विवेचन करते हैं और इन दोनों धारणाओं का खुलासा करते हैं।

साहित्य में शृंगार को रसरज कहा गया और उसका साहित्य में वर्चस्व था। अभिनवगुप्त ने इस वर्चस्व को चुनौती देने के लिए शांतरस की सृष्टि की। शृंगार और

शांत के अंतर्विरोध पर जोर डाला। शृंगार रस का मूलाधार है तृष्णा, जबकि शांतरस का मूलाधार है तृष्णाक्षय। तृष्णाक्षय में जो आनंद है वह किसी और में नहीं है। रसों की भूमिका रही है तृष्णा पैदा करने की और अभिनवगुप्त ने इसी को आधार बनाकर समूची सामंती व्यवस्था और शृंगार रस का विरोध किया। तृष्णाक्षय आज के युग के लिए भी बहुत महत्वपूर्ण तत्त्व है। यह सामाजिक विकास की सकारात्मक तत्त्व है। भरत के 8 रसों में तृष्णा जगाकर रस निष्पत्ति होती है जबकि अभिनवगुप्त ने शांतरस में तृष्णाक्षय के जरिए रस-निष्पत्ति और आनंद की सृष्टि की है। शृंगारादि रसों के जरिए विषयाभिलाष पैदा किया जाता था उसका अभिनवगुप्त ने विरोध करते हुए विषयाभिलाष के निर्वेद पर जोर दिया है, उस निर्वेद में अभूतपूर्व आनंद होता है। निर्वेद ही शांतरस का स्थायीभाव है। जब उसका परितोष आस्वाद में हो जाता है तभी शांतरस होता है। ठेठ भाषा में इसे वैराग्य यानी नागरिक चेतना कहते हैं।

रसों के विकल्प के रूप में वैराग्य यानी नागरिकचेतना की वकालत वस्तुतः दरबारी सभ्यता-संस्कृति और उनके साथ जुड़े कलारूपों का निषेध है, यह सयासवाद नहीं है। यह लोकचेतना है। तृष्णा और लोकचेतना या नागरिकचेतना में अंतर्विरोध है। उल्लेखनीय है जनभाषा के लेखकों ने शृंगारादि रसों और काव्य के नियमों के आधार पर काव्यसृजन का भी विरोध किया था। काव्यसृजन के नियम और रस ये दोनों एक-दूसरे से अभिन्न रूप से जुड़े हैं। अभिनवगुप्त ने रसों के मूलाधार पर प्रहार करते हुए तब तृष्णाक्षय की स्थापना की तो उन्होंने वस्तुतः लोक कामना से साहित्य को जोड़ने पर जोर दिया। रसों का आधार तृष्णा होने के कारण भरत वर्णित 8 रसों पर आधारित समूचा साहित्य क्रमशः लोक से कटता चला गया। अभिनवगुप्त जब शृंगार का विरोध कर रहे थे तो वस्तुतः साहित्य को नागरिकचेतना से जोड़ने पर जोर दे रहे थे। उन्होंने लिखा है-

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।

तृष्णाक्षयसुखस्यैतं नार्हतः षोडशीं कलाम्॥

यानी लोक में कामना से जो सुख प्राप्त होता है और जो स्वर्गीय महान् सुख होता है, वे दोनों प्रकार के सुख तृष्णाक्षय से उत्पन्न होने वाले सुख का सोलहवाँ भाग भी

नहीं होते। इस प्रसंग में भरत के पक्षधरों का मानना है कि भरत ने शांत को कभी अस्वीकार नहीं किया, बल्कि भरत के यहाँ तो शांतरस सभी रसों के मूल में रहता है। सभी रसों की शांतावास्था ही शांत रस कहलाती है। असल में मामला इतना सरल नहीं है। अभिनवगुप्त ने रेखांकित किया है कि रसों के पक्षधर और भरत के यहाँ रस के आने के पहले शांतरस रहता है उसके बाद अन्य रस पैदा होते हैं। यानी तृष्णाभाव के पहले शांतभाव रहता है और रसों के जरिए उस भाव को नष्ट करके शांतरस पैदा होता है। यानी वीतराग या वैराग्य वह है जहाँ तृष्णा का विध्वंस हो जाय। सवाल यह है कि क्या आज के उपभोगतावादी समाज में हमें शांतरस चाहिए या नहीं? अथवा रस चाहिए? नामवर जी जब रस की हिमायत करते हैं तो वे शांतरस में निहित इस समूचे दृष्टिकोण को भूल जाते हैं। 'कविता के नए प्रतिमान' में कहने के लिए वे नगेन्द्र की आलोचना करते हैं लेकिन वस्तुतः वे नगेन्द्र के साथ ही खड़े रहते हैं। नगेन्द्र में नजरिए में रस-सिद्धांत शाश्वत और सार्वभौम सिद्धांत है वहीं नामवर जी के लिए भरत की रस संबंधी धारणा में प्रसंगानुकूल प्रतिमान मिल जाते हैं। इस प्रसंग में वे रस के आंतरिक तत्त्वों की विवेचना करके नगेन्द्र के मत का खंडन करते हैं लेकिन वैचारिक तौर पर दोनों एक ही धरातल पर खड़े रहते हैं। यहां तक कि 1990 में भी उनके बुनियादी विचारों में कोई परिवर्तन नहीं आता।

अभिनवगुप्त ने एक अन्य महत्वपूर्ण पहलू की ओर ध्यान खींचा है वह है रस का चरम। सवाल है क्या रस का चित्रण उसकी चरम तक चित्रित करे? भरत चरम तक चित्रण के पक्षधर हैं लेकिन अभिनवगुप्त ऐसा नहीं मानते। शांतरस के पक्ष, विपक्ष, स्थायीभाव आदि का अभिनवभारती टीका में विस्तार के साथ विश्लेषण किया है। मसलन् रौद्र रस का चरम तो हत्या है लेकिन उसकी प्रस्तुति से बचा जाना चाहिए, प्रतीत हो कि हत्या हो गयी। इसलिए 'प्रतीति' और 'प्रतीयमान अर्थ' इनका बड़ा महत्व है। इसी प्रकार भरत ने वीररस के तीन उपभेदों का जिक्र किया है, ये हैं, दानवीर, धर्मवीर, और युद्धवीर। इसी प्रसंग में अभिनव ने कहा है कि दयावीर को शांतरस का प्रभेद तब मान सकते हैं जब उसमें सब प्रकार के अहंकार का अभाव हो। यदि

उत्साह के साथ अहंकार आ जाता है तो दयावीर को शांतरस का प्रभेद नहीं मान सकते। इसी तरह कुछ लोग शांत रस को वीभत्स रस में समाहित करके देखते हैं लेकिन अभिनवगुप्त ने इसका भी खंडन किया है। क्योंकि शांत रस का मूलाधार या स्थायीभाव घृणा नहीं है। वह तो व्यभिचारी भाव है। अंत में सबसे बड़ी बात जो शांत रस से जुड़ी है वह है उसका लक्ष्य। भरत वर्णित 8 रसों का लक्ष्य है आनंद और रस की सृष्टि करना, लेकिन शांतरस का लक्ष्य है मोक्ष प्रदान करना। 8 रसों के लिए पुरुषार्थ की जरूरत है लेकिन शांत रस के लिए लोकनिष्ठा और नागरिकचेतना होनी चाहिए।

रस के प्रसंग में बुनियादी सवाल यह है कि रस किसके लिए? आनंद के लिए या दुख के लिए? नाटक किसके लिए आनंद के लिए या दुख के लिए? रस को माने या न माने लेकिन कलाओं के प्रसंग में यह सवाल तो हमेशा उठा है कि कलाओं का लक्ष्य क्या है? रसों की जब सृष्टि हुई तब भी यह प्रश्न केन्द्र में था, नामवरजी इस सवाल से कन्नी काटकर निकल जाते हैं। इस प्रसंग में आर.बी. पाटणकर की कृति 'सौंदर्य मीमांसा' में विस्तार के साथ विचार किया है। पाटणकर मराठी साहित्य के प्रमुख आलोचक हैं और उनकी कृति 'सौंदर्य मीमांसा' को साहित्य अकादमी ने 1975 में पुरस्कृत भी किया है। नामवरजी ने बेडेकर के बहाने रस की सृजन प्रक्रिया के सवालों पर विचार किया है लेकिन रस का संबंध तो आस्वाद से है और कला के क्षेत्र में सृजन प्रक्रिया से ज्यादा व्यापक फलक आस्वाद प्रक्रिया का है। आस्वाद प्रक्रिया के सवाल कला-साहित्य के बुनियादी सवाल हैं उनसे हिंदी के मार्क्सवादी आलोचक भागते रहे हैं। रस हमारे ऐंद्रिय सुख से जुड़ा है। यही विमर्श का प्रमुख बिंदु है जिसके जरिए रचना के विमर्श को अमूर्तन में ले जाने से रोक सकते हैं।

नाटक या कला या साहित्य का लक्ष्य है 'आनंद' और रस का भी लक्ष्य है 'आनंद'। 'आनंद' के बिना कला रूप अपना विकास नहीं करते। 'आनंद' से हमें 'सुख' मिलता है यही वजह है कि 'आनंद' और 'सुख' को पर्यायवाची समझना चाहिए। मराठी साहित्य में भी अनेक बड़े विद्वानों

ने 'आनंद' और 'सुख' को पर्यायवाची माना है। नाट्यशास्त्र में यह भी माना गया है कि रचना में वैयक्तिक दुख और सुख का अनुभव करने से रस निष्पत्ति में बाधा पड़ती है।

नाट्यशास्त्र पर विचार विमर्श के दौरान अमूमन अभिनवगुप्त लिखित भाष्य का बार-बार जिक्र होता है। अभिनवगुप्त ने नाट्यशास्त्र के रचे जाने के सात-आठ सौ वर्ष के बाद 'अभिनव-भारती' नामक टीका लिखी। इसे सबसे प्रामाणिक टीका माना जाता है। अपनी टीका में अभिनवगुप्त ने अनेक बातें अपनी कही हैं उन बातों का भरत के नाट्यशास्त्र से कोई संबंध नहीं है इस पहलू को टी.जी. माईणकर ने 'दि थियरी ऑफ संधीज ऐंड संध्यंगाज' (1960) नामक कृति में विस्तार के साथ रेखांकित किया है। रा.भा. पाटणकर ने सवाल भी उठाया है कि क्या 'सुख' को सौंदर्यानुभव का आवश्यक घटक माना जा सकता है? दूसरा प्रश्न यह कि ऐसा सुख लौकिक है या अलौकिक? क्या रचनाएँ भावनाओं पर प्रभाव डालती हैं? अथवा कलास्वाद का भावना और भावनात्मकता से संबंध है? क्या रचना पढ़ते समय भाव जागृति होती है? भावना और भावनात्मकता को क्या भावनात्मक मनोदशाओं या मूड से अलग रखा जा सकता है? मनोदशाएँ कितनी अवधि तक टिकी रहती हैं? क्या इस सबका भावनात्मक स्वभाव वैशिष्ट्य प्रायः जीवन भर हमारा साथ देते हैं। वे हमारे व्यक्तित्व का भाग बनते हैं। जब हम किसी व्यक्ति को, निराशावादी और दूसरे को आशावादी कहते हैं, तब हमारे मन में उन मनुष्यों के स्वभाव वैशिष्ट्य ही होते हैं। लेकिन इसका अर्थ यह तो नहीं कि निराशावादी मनुष्य सारे समय के लिए म्लान पड़ा रहता है और आशावादी सदैव उछल-कूद करता रहता है।' (सौंदर्य-मीमांसा, पृ. 238)

दिलचस्प बात यह है कि अभिनवगुप्त जब रस पर विचार कर रहे थे तो उनके नजरिए के केन्द्र में 'सुख' या 'आनंद' नहीं था बल्कि 'मोक्ष' था। यही वजह है कि लिखा 'मोक्षफलत्वेन चायं परमपुरुषार्थनिष्ठवात् सर्वरसेभ्यः प्रधानतमः।' कहने का आशय यह कि शांत रस का फल मोक्ष होता है जो कि सबसे बड़ा फल है। अतएव इस रस की निष्ठा पुरुषार्थ में भी सबसे अधिक होनी चाहिए।

रस पर विचार करते समय तीन तत्त्वों की खूब चर्चा

होती है। 1. स्थायीभाव 2. व्यभिचारी या संचारी भाव और 3. सात्त्विक भाव। कई आलोचकों ने इस विवेचन के लिए मनोविज्ञान का सहारा लिया है। इस समूचे प्रसंग में यही कहना समीचीन होगा कि स्थायी भावों का संबंध रंगमंच से है, दृश्य अभिनय में इनकी भूमिका है। वाच्य में इनकी भूमिका नहीं होती। रा.भा. पाटणकर ने लिखा है स्थिर भावों के लिए भावनात्मक भाषा की जरूरत होती है जिसे अभिनय में बेहतर ढंग से व्यक्त किया जा सकता है। मसलन, क्रोध का वर्णन करने से वह व्यक्त होगा? उसका वर्णन किया जा सकता है। यह सही है। लेकिन जिस अर्थ में दाँत, ओंठ चबाना। मुट्टियाँ भींचना, आँखें लाल होना आदि के जरिए क्रोध व्यक्त होता है उस अर्थ में किसी कृति के जरिए क्रोध व्यक्त नहीं होगा। भावनात्मक भाषा का स्थान वर्णनात्मक भाषा नहीं ले सकती। नाटक के भावों को वाच्य के स्तर पर नहीं दिखाया जाता बल्कि उसकी अभिव्यंजना करनी होती है। नाटककार भावों की अभिव्यंजना के लिए विभावादि का उपयोग करता है। यहाँ भावों का वर्णन नहीं होता। भावों की अभिव्यंजना साधी जाती है। इसलिए नाटक में भाव व्यंजन भाषा और विभावादि का इतना महत्त्व है। यदि विभावादि का नाटक में महत्त्व है तो यह तय है ये चीजें दृश्य अभिनय के माध्यमों के प्रसंग में आज भी प्रासंगिक हैं। हमारे साहित्यालोचकों की मुश्किल यह है कि वे नाटक को केन्द्र में रखकर लिखे शास्त्र को काव्य आदि विधाओं पर लागू करके उसकी प्रासंगिकता पर विचार करते रहे हैं, खासकर नामवरजी ने भी इस कृति पर काव्यादि के संदर्भ में ही विचार किया है जो सही नहीं है। दृश्यमाध्यम की सैद्धांतिकी पर लिखी धारणाओं को मुख्य रूप से दृश्यमाध्यमों के संदर्भ में ही पढ़ा जाना चाहिए।

रस के विवेचन के क्रम में एक सवाल यह भी उठा है कि रस का किस वर्ग के साथ संबंध था? रस के जो वर्गीकरण 8 रसों में भरत ने किए उसके पीछे क्या कोई वर्गीय दृष्टि थी या फिर मनमौजी ढंग से वर्गीकरण कर दिया गया था। वर्गीय दृष्टिकोण के सवाल पर इसलिए भी विचार करना चाहिए क्योंकि रसों के सामाजिक आधार को तय करने में मदद मिलेगी। रस का गहरा संबंध दरबारी

सभ्यता के साथ था और रस कभी भी गैर अभिजनवर्ग के उपभोग की चीज नहीं था। इसलिए जितनी भी बार रस पर बहस हुई है तो वह उसकी प्रशंसा और गुणों पर ही केन्द्रित रही है। उसके वर्गीय चरित्र को लेकर चर्चाएँ नहीं हुई हैं। रस के समाज से कटे होने का बड़ा कारण यह था कि यह जन्म से अभिजन का शास्त्र रहा है। अभिजन के वैचारिक वर्चस्व को स्थापित करने का शास्त्र रहा है, यही वजह है, आमजन ने कभी भी रसों को अपनी काव्याभिव्यक्ति या नाट्याभिव्यक्ति का आधार नहीं बनाया।

रस को दरबारी लेखकों ने अपनी रचनाओं में सबसे ज्यादा इस्तेमाल किया और अभिजनों की अभिरुचि निर्मित करने के लिए उसके तमाम उपकरण निर्मित किए। इसके कारण रस के अंदर एक खास तरह की अगतिशीलता या अपरिवर्तनीयता भी है। फलतः रस के मूल अवधारणात्मक ढांचे में कोई परिवर्तन सैकड़ों सालों से नहीं हुआ। रस में अभिरुचि के स्तर सौंदर्यबोधीय विभाजन भी है जो लंबे समय से अपरिवर्तनीय है। इसका अर्थ है कि रस में ज्ञान का विकास नहीं हुआ। यह सच भी है कि नाट्यशास्त्र में वर्णित रसों के बारे में नई चीज तब आई जब अभिनवगुप्त ने अभिनव भारती नामक टीका लिखी, लेकिन रस की पूर्वधारणाओं को पूरी तरह खारिज करने की उनकी भी हिम्मत नहीं हुई।

रस पर दार्शनिक तौर पर आदर्शवादी दर्शन का असर था जिसके कारण रस की व्याख्याएँ तो हुईं लेकिन मूलगामी परिवर्तन नहीं हुआ। अभिनवगुप्त के पहले तक तकरीबन 1000 साल तक आठ रस ही प्रचलन में रहे, अभिनवगुप्त ने कहा कि नया रस शांतरस हो सकता है। लेकिन अभिनवगुप्त के बाद तो फिर से रस जगत में सन्नाटा पसरा हुआ है। इससे पता चलता है कि रसों के उपभोक्ता के रूप में अथवा सर्जक के रूप में या रस के लेखक के रूप में जो लोग काम करते रहे हैं उनमें नई अवधारणाएँ निर्मित करने की क्षमता ही नहीं है। जबकि कायदे से रस के ढांचे से नाभिनालबद्ध वर्ग को नए खोज की दिशा में प्रयास करना चाहिए लेकिन यह न हो सका। सवाल रस की व्याख्या का नहीं है बल्कि रस को बदलने का है रस जैसा है उसे वैसा ही रखने का अर्थ है कि रस की

अपरिवर्तनीयता को मानना। जबकि सच यह है कि रस की उत्पत्ति जब हुई तब से लेकर आज तक तकरीबन दो हजार साल का लंबा सफर गुजर चुका है इसके बावजूद हमने नए की खोज का काम आरंभ नहीं किया है। रस का संरचनात्मक ढांचा इस तरह का है कि उसमें नए की खोज नहीं कर सकते। वह अपरिवर्तनीय उत्पादन संबंधों से बंधा है।

रस में एक खास किस्म का यांत्रिक संरचनात्मक ढांचा है जिसमें रंगमंच का काम करता है। इसमें बाह्य हस्तक्षेप की संभावनाओं का अभाव है। रस हमारे पुराने प्राचीनकालीन सामूहिक कलात्मक अनुभवों का हिस्सा है। स्थिर भाव, स्थिर दर्शक और अगतिशील अभिनेता ये तीन इसके संरचनात्मक साथी हैं। फलतः इसकी ह्रासशील सामंती समाज में आकर भूमिका पहले की तुलना में और भी खराब हुई।

सवाल यह है कि रस को आधार बनाकर कोई मुक्तिकामी या परिवर्तनकामी नाटक क्यों नहीं लिखा गया? रस का चूँकि नाटक के क्षेत्र में इस्तेमाल होता था अतः रस ने सार्वजनिक स्पेस और निजी स्पेस का विकास क्यों नहीं किया? मध्यकाल में नाटक या रंगमंच हमारे समाज में जनमंच क्यों नहीं बन पाया? समस्त नाटक उन्हीं वर्गों पर लिखे गए जो दरबारी सभ्यता से जुड़े थे। रस में विभिन्न किस्म के भावों का वस्तुगत प्रस्तुतियाँ समाज के ऊपर आवरण डाले रखने का काम करती हैं, इस तरह की प्रस्तुतियों के कारण समाज की नाटक में यथार्थ प्रस्तुति नजर नहीं आती। समाज छद्म आवरण पड़ा रहता है। इस तरह की प्रस्तुतियाँ शोषित और शोषक के बीच के संबंध को छिपाए रखती हैं। दबे-कुचले लोगों और अभिजन के बीच अंतर्विरोधों को छिपाए रखती हैं। प्रस्तुतियों में मिथकीय चरित्रों के वर्चस्व की वजह से नाटकों के जरिए युगीन समाज को समझना बेहद मुश्किल है। यानी रसों के आधार पर ऐसा साहित्य रचा गया जो सतह पर देखने में सुंदर था लेकिन अंदर से प्राणहीन था। वह रहस्यों के आवरण में बंधा था।

रस को यदि मोक्ष का शास्त्र बनना है तो उसकी पहली सीढ़ी है नाटक में यथार्थ विषयों का प्रवेश हो। रस के

नायक के तौर पर कथानक में सामान्यजन की प्रतिष्ठा हो। ऐसे लोगों की प्रतिष्ठा हो जो समाज में हाशिए के लोग कहलाते हैं। यह विलक्षण संयोग है कि रस केन्द्रित नाटकों का समूचा चरित्र सवर्णवादी है। कथानक के मूल पात्र सवर्ण हैं और वे कथानक की धुरी हैं। असवर्ण पात्र सिर्फ दिल बहलाने के लिए दाखिल होते हैं। वे सारवान गतिविधियों में शामिल नहीं होते।

भरत के 'नाट्यशास्त्र' में रस की चर्चा रंगमंच के प्रसंग में है लेकिन कालांतर में काव्यशास्त्रियों और आलोचकों ने इसे साहित्य की विभिन्न विधाओं और खासकर काव्य के मूल्यांकन के संदर्भ में विस्तार दे दिया। इसने रसों के बारे में सबसे ज्यादा विभ्रम खड़े किए। रसों का संबंध यदि नाटक से है और नाटक का संबंध अभिनय से है, अभिनय का भाव-भंगिमाओं से और भाव-भंगिमाओं का सामयिक यथार्थ से संबंध है इस नजरिए से देखें तो नाटक-रस और यथार्थ के अन्तस्संबंध को समझने में मदद मिलेगी। लेकिन हमने पद्धति पुरानी चुनी, हम रसों की धारणाओंकी मीमांसा कर रहे हैं और उसके आगे देखने को तैयार नहीं हैं। इसके बाद तो रस और बस ही निकलेगा!

रस, भाव-भंगिमाएँ और यथार्थ के रिश्ते में रसमीमांसकों ने रसों पर खूब काम किया लेकिन यथार्थ के साथ उसके अन्तस्संबंध को छोड़ दिया। फलतः रसमीमांसा में भाष्य ही प्रमुख हो गए, व्याख्याएँ ही प्रमुख हो गयीं। इस प्रसंग में वाल्टर बेंजामिन याद आते हैं, वह कहते हैं भाव-भंगिमाएँ तो यथार्थ में होती हैं। वे तो आज के यथार्थ में अवस्थित हैं। मसलन, आपको ऐतिहासिक नाटक लिखना है तो अतीत की घटना का वहीं तक निर्वाह करना है जहां तक उसे आज की भाव-भंगिमाओं के साथ संयोजित करके पेश करने में सफलता मिले। इसका मतलब यह भी है कि ऐतिहासिक नाटक में अनुकरणात्मक भाव-भंगिमाएँ तब तक अर्थहीन होती हैं जब तक वे भाव-भंगिमा की साधारण प्रक्रिया का उद्घाटन न करें। ये भंगिमाएँ एक्शन की हो सकती हैं या फिर एक्शन का अनुकरण हो सकता है। यदि भाव-भंगिमाओं की पुनरावृत्ति होती है तो वे कृत्रिम रूप ग्रहण कर लेती हैं। वस्तुगत तौर पर देखें तो हमारी भाव-भंगिमाएँ अत्यंत उदार माहौल में बनती-

बिगड़ती हैं। अगर कोई व्यक्ति सामाजिक भूमिका के दौरान भाव-भंगिमाओं में हस्तक्षेप करता है या उनका इस्तेमाल करता है तो उसे ज्यादा से ज्यादा सर्जनात्मक ढंग से भाव-भंगिमाओं को सृजित करने की जरूरत पड़ती है।

भरत के नाट्यशास्त्र में रंगमंच और रस के अन्तस्संबंध को जिस तरह विश्लेषित किया उसमें पाठकेन्द्रित रसनिष्पत्ति पर जोर है और उससे रस का सर्जनात्मक विकास नहीं होता। यह दृष्टिकोण ठहरे हुए समाज में तो ग्राह्य है लेकिन जो समाज गतिशील है और वहां यह संबंध अप्रासंगिक हो जाता है, यही वजह है कि रसशास्त्र अगतिशील अवस्था में तो ध्यान खींचता है लेकिन ज्यों ही विकास की अगली दशा में दाखिल हुआ उसकी ओर अधिकांश लेखकों का ध्यान ही नहीं गया अथवा जिन लेखकों ने रस केन्द्रित होकर लिखा उनको अप्रासंगिकता का सामना करना पड़ा।

रस में आए ठहराव का एक बहुत बड़ा कारण है उसकी समाजनिरपेक्ष परिकल्पना और अवधारणाएँ। समाज निरपेक्ष अवधारणाएँ उन नाटकों में सही प्रतीत होती हैं जिन नाटकों का कोई सामाजिक लक्ष्य नहीं होता, जो मात्र मनोरंजन या आनंद के लिए लिखे गये हैं। अभिनवगुप्त ने जब भरत वर्णित रसों से भिन्न शांतरस को स्थापित किया तो उनके जेहन में यही धारणा रही होगी। रस का काम है लोकचेतना से जोड़ना, यानी नाटक में पात्रों की सामाजिक भूमिका में बार-बार व्यवधान पैदा किया जाय, व्यवधान के लिए ही ज्यादा से ज्यादा गानों की जरूरत महसूस की गयी। रस के प्रसंग में भरत जिस रंगमंच की परिकल्पना पेश करते हैं वहां पाठ के विस्तार पर जोर है। उसी पर केन्द्रित अभिनय पर जोर है। लेकिन अभिनेता का काम पाठ को मंच पर हू-ब-हू उतारना नहीं है बल्कि उसका काम है हस्तक्षेप करना, व्यवधान पैदा करना, क्रमभंग करना। कलाकार रससृष्टि करे इसके लिए जरूरी है कि वह भाव-भंगिमा और परिस्थितियों के द्वंद्वात्मक संबंध को उद्घाटित करे। इसी क्रम में अभिनेता के एटीट्यूड और पाठ के प्रति उसके रवैये से बहुत कुछ तय होगा। इस प्रसंग में सबसे महत्वपूर्ण है पाठ पर अभिनेता का अधिकार। पाठक को अभिनेता जितनी गहराई में जाकर आत्मसात करेगा उतना ही बेहतर सृजन कर पाएगा। इसके कारण

वह दर्शक के साथ बेहतर संबंध भी बना पाएगा।

भरत ने नाट्यशास्त्र में नाटक में रस की भूमिका पर ही मूलतः केन्द्रित किया है। उनके लिए रस और उसकी रंगमंचीय प्रक्रिया ही महत्वपूर्ण है। नाट्यशास्त्र की समूची व्याख्या इसी पहलू के इर्द गिर्द घूमती है। इसके जरिये जहां एक ओर नाटक की समीक्षा का पेट भरा गया वहीं काव्यशास्त्र के नाम पर आलोचना की क्षतिपूर्ति करने की कोशिश की गयी। इससे शास्त्र तो निर्मित हुआ लेकिन रंगमंच समृद्ध नहीं हुआ। रंगमंच की समृद्धि के लिए जरूरी है नाटक खेले जाएं, अफसोस है कि नाट्यशास्त्र के प्रभाववश नाटक कम खेले गए, लिखे खूब गए। नाटक खेले गए होते तो रंगमंच का शास्त्र आज अभावग्रस्त न होता। सवाल उठता है जहाँ नाट्यशास्त्र रचा गया वहाँ नाटक की आधुनिक समीक्षा का विकास क्यों नहीं हो पाया? जिस क्षेत्र में नाट्यशास्त्र रचा गया उस क्षेत्र में नाटक कम क्यों खेले गए?

भरत का नाट्यशास्त्र अभिनेता को दर्शक से भिन्न इकाई के रूप में देखता है। दर्शक से अभिनेता को काटकर देखने के कारण हमारे यहां रंगमंच दुर्दशाग्रस्त हुआ। दर्शक से अभिनेता को काटने का अर्थ है शरीर से प्राण निकाल लेना। जीवंत रंगमंच तब ही संभव हैं जब अभिनेता और दर्शक का संबंध बना रहे। फलतः संस्कृत साहित्य में विधा रूप में नाटक है लेकिन फॉर्म से ज्यादा उसकी कोई भूमिका नहीं है। विधागत रूप से ज्यादा उसकी कोई भूमिका नहीं है। यह ऐसा नाटक है जो पाठ केन्द्रित है, लेकिन उसमें सामयिक सामाजिक परिस्थितियों की अभिव्यंजना कहीं पर भी नजर नहीं आती। यह ऐसा नाटक है जिसका रचयिता दरबारी है। इस तरह पूरी तरह दरबारी ताकतों के नियंत्रण में है। इसी संदर्भ में यह सवाल उठता है कि नाटक पर किसका नियंत्रण है? संयोग की बात है कि संस्कृत नाटकों पर राज्य एपरेट्स का नियंत्रण था और उसकी ओर कभी समीक्षकों ने ध्यान ही नहीं दिया। इस प्रसंग में दूसरी समस्या यह पैदा हुई कि आलोचकों ने नाटक को साहित्य की अन्य विधाओं के साथ जोड़ दिया। हम सब जानते हैं नाटक दृश्य माध्यम है जबकि अन्य विधाएं दृश्य माध्यम नहीं हैं। वे श्रव्य माध्यम हैं।

इसलिए काव्य या साहित्य के साथ नाटक को जोड़कर देखना सही नहीं है, नाटक के शास्त्र को काव्यालोचना बनाना उचित नहीं है।

भरत ने नाट्यशास्त्र की जो परिकल्पना पेश की उसमें पाठ तैयार करना महत्वपूर्ण है, नाटक का सार्वजनिक प्लेटफॉर्म तैयार करना लक्ष्य नहीं है। रंगमंच का सार्वजनिक प्लेटफॉर्म बनाना लक्ष्य होता तो नाट्यशास्त्र की विचारधारात्मक भूमिका भी होती लेकिन नामवरजी ने उसकी व्यापक विचारधारात्मक भूमिका खोज ली। जो कि गलत है। भरत के लिए नाटक रसव्यंजना की विधा है, नाटक उनके लिए विश्व को व्यंजित करने का मंच नहीं है। वे अभिनय की कलात्मक व्याख्या पेश करते हैं लेकिन अभिनय तो कलात्मक व्याख्या नहीं है। अपितु यथार्थ नियंत्रण है। भरत के यहां पाठ ही निर्धारक है लेकिन अभिनय में पाठ निर्धारक नहीं है, वहां से आरंभ जरूर होता लेकिन वहां तो यथार्थ का सृजन करना लक्ष्य होता इस क्रम में व्याज में पाठ का दायित्व पूरा हो जाता है साथ में अभिनय भी हो जाता है। कहने का अर्थ अभिनेता कठपुतली नहीं होता। वह पाठ की देन नहीं है, बल्कि सृजन की देन है।

भरत जिस रंगमंच की परिकल्पना करते हैं उसके प्रसंग में सवाल उठता है कि दर्शक जब नाटक देखने जाता है तो क्या उसे नाटक के बारे में पहले से जानकारी होती है? प्राचीन और मध्यकाल में जिस तरह के महाकाव्यात्मक नाटक लिखे गए उनमें मूल कथानक की दर्शक को पहले से जानकारी हुआ करती थी। इस प्रसंग में बर्तोल्ट ब्रेख्त का स्मरण करना समीचीन होगा, उनका मानना है कि ऐतिहासिक घटनाओं पर केन्द्रित नाटकों में रंगकर्मी को यह लाईसेंस दिया जाना चाहिए कि वह अपने महान निर्णय कुछ इस तरह पेश करे कि लगे कि वे इतिहास की मुख्यधारा के अनुरूप हैं। साथ ही 'ऐसा भी हो सकता था, वैसा भी हो सकता था', इस फ्रेमवर्क को न भूले। उसका अपनी रचना से वैसा ही संबंध होना चाहिए जैसा नृत्य शिक्षक का अपने शिष्य से होता है। उसका पहला लक्ष्य होता है उसके बंधनों को जहाँ तक संभव हो ढीला करें। उसे ऐतिहासिक-मनोवैज्ञानिक रूढ़ियों से मुक्त करे। ब्रेख्त का मानना है परिस्थितियों को स्वयं बोलने दो, इसी से वे

एक-दूसरे से द्वंद्वात्मक मुठभेड़ करती हैं। नाटक के तत्त्व तार्किक ढंग से एक-दूसरे के खिलाफ संघर्ष करते हैं।

अभिनवगुप्त ने जब भरत वर्णित 8 रसों से भिन्न नौवां शांत रस पेश किया तो प्रकारान्तर से रसों के लक्ष्य पर ही प्रश्न लगाया। भरत का लक्ष्य था आनंद की सृष्टि करना, इसके विपरीत अभिनवगुप्त का लक्ष्य था वैराग्य यानी लोकचेतना पैदा करना। शांत रस को पेश करके अभिनवगुप्त ने रसों की प्रामाणिकता पर भी प्रश्नचिह्न लगाया था। साथ ही रस विशेषज्ञ या क्रिटिक की आलोचना में चली आ रही वरीयता का भी कोई महत्त्व नहीं था। रस विशेषज्ञों की राय साहित्य में लगातार अप्रासंगिक बनी रही, इसका प्रधान कारण है रस का समाज से कटा होना। रस के नाम पर या काव्यशास्त्र के ज्ञाता या विशेषज्ञ के नाम पर जो आलोचक सामने आया वह समाज से पूरी तरह कटा हुआ था। यही वजह है कि उसका समाज पर कोई असर नहीं हुआ।

भरत के नाट्यशास्त्र में पारदर्शिता पर जोर है लेकिन

इसे सरल प्रस्तुति न समझा जाए। पारदर्शिता वस्तुतः सरलता का विलोम है। पारदर्शिता में निर्माता की वास्तविक कलात्मक क्षमता का उद्घाटन होता है। भरत के लिए दर्शक की भूमिका मात्र देखने तक है, वे इसके आगे सोचते ही नहीं हैं। यह ऐसा दर्शक है जो नाटक देखने पर ही कुछ क्षण के लिए सोचता है। इस तरह के नाटक का लक्ष्य जनता के भावों, विचारों और भावनाओं को अभिव्यक्त करना नहीं है। संस्कृत नाटकों में चिंतनशील हीरो नहीं मिलेगा। बल्कि विस्मयकारी हीरो मिलेगा। संस्कृत नाटकों में जो कथानक होता है वह परिस्थितियों को खोलने पर जोर नहीं देता। परिस्थितियाँ वहाँ सिर्फ संदर्भ के रूप में ऊपर से चिपकायी हुई प्रतीत होती हैं। नाटककार परिस्थितियों को जब तक खोलता नहीं है तब तक वह समाज का उद्घाटन नहीं कर पाता। समाज का उद्घाटन किए बगैर यह संभव ही नहीं है सामाजिक परिवर्तन हो।

संपर्क:

ए-8, पी 1/7, सी.आई.टी. स्कीम-VII एम
कोलकाता-700054, मो. 09331762360

अंधकारों का अंशलेख : गीतांजलि श्री की कहानी 'बेलपत्र'

विमल वर्मा

संपादक, चंद्रयान

कवयित्री अनामिका जी ने लिखा है, “साहित्य यातना के नरक-कुण्ड से ही धूँ-धूँ करता उठता है और आकाश तक जाता-जाता परिशीतक मेघ बन जाता है। कहीं कोई दूरी है- अतृप्ति- ‘जो होना चाहिए’ और ‘जो हो रहा है’ के बीच की महाखाई पट नहीं रही तो एक बेचैनी जगती तो है और आदमी कलम उठाकर अपने वैकल्पिक विजन के हिसाब से, मौजूद विश्व विडम्बनात्मक ताने-बाने के समकक्ष अपनी एक नई दुनियाँ खड़ा करता है... इसी दृष्टि से रचना-सृष्टि और मौजूदा व्यवस्था की आलोचना है।”

इस नयी दुनिया का सृजन लेखक की सर्जनात्मक अनुभूति होती है। रचना भाषा में रूपायित होती है। इसलिए वह भाषा भी रचनाकार की सृजनशील चेतना है जो भाव, परिस्थिति, व्यक्ति के उद्वेलन का नवरूपायन करती है। अतएव भाषा के माध्यम से ‘आत्म’ का यह रचाव एक तरह से नये देशकाल का ज्ञान भी है और उसका रचाव भी।

सम्प्रति रचनाशीलता के प्रासंगिक उन्मेषों ने महावृत्तान्त को भस्मीभूत करके ‘अन्यत्व’, ‘भिन्नता’, ‘अस्मिता’ की फसल खड़ी की है। यहां ‘रीजन’ तानाशाह बन गया, साहित्य स्वायत्त और सामाजिक सरोकारहीन बन गया। महावृत्तांत का प्रतिवादी रूप ‘आइडेंटिटी’, ‘जेन्डर’ के रूप में आंदोलित हो चुका है। ऐसी स्थिति में एकीभूत संभावना को टटोलने की जरूरत है। वह पूर्ण स्वायत्त न होकर उत्तर संस्कृति सापेक्ष स्वायत्तता होगी, जिसकी रीढ़ इतिहास होगा।

फिलहाल हमारी मुश्किलें अनेक हैं। कथा-विन्यास में हमारा कठोर वर्तमान अतीत के अतीतपन और उसकी समस्त वर्तमानताओं को इस तरह घेर कर खड़ा है कि परिस्थिति और संबंध के दबावों का आतंक महाभयानक होता जा रहा है। यथार्थ की छवि पात्रों की व्यक्तिगत धारणाओं एवं मनोदशाओं से छन कर हमें आंतरिक रूप से विभाजित कर रही है। और इस अहसास से उपजी उद्विग्नता पूरे संश्लेष में दरार पैदा कर रही है। इस ‘आत्म’ और ‘अन्य’ के रिश्ते को समझने के लिए ‘गीतांजलि श्री’ के ‘बेलपत्र’ कहानी की संरचना पर विचार करेंगे।

“देखो, होगा गोबर तुम्हारे लिए पाक, मेरे लिए घोड़े की लीद।”

“ओम के अंदर कुछ हिल गया, “फातिमा पागल हो जाओगी, इस तरह करोगी तो हर इशारे के दो में से एक ही मतलब होंगे, हिंदू या मुसलमान!”

“कॉलेज की तस्वीर धुंधली-सी झलक रही थी।... होस्टल लाउंज में ही अपने अब्बा से लड़ पड़ी थी, ‘समाज... धर्म धमकाइए मत मुझे... अगर सारी की सारी दुनिया भी घटिया नियम अख्तियार करे तो वे सही नहीं हो जायेंगे।”

“सबेरे आँख खुली तो फातिमा नमाज़ पढ़ रही थी।”

“ये क्या? ओम के तन बदन में आग लग गयी, उसने झपट कर जानामाज़ खींच ली और फातिमा को घसीट कर खड़ा कर दिया, ‘ये क्या कर रही हो?’ वह दाँत पीस कर बोला ‘अब यही कसर बाकी है?’”

“फातिमा सट्-सट् साड़ी फड़फड़ाती रसोई में घुस गयी। ...सारा दर्द, सारी कुंठा उसने अब इसी एक बिंदु पर न्यौछावर करने की कसम खा ली थी, अपनी एक पहचान पर, क्योंकि उसे लग गया था कि उसे

कोई पहचानता नहीं है, मानता नहीं है या तो बस बर्दाश्त करता है या फिर ज़लील करता है, उसे अपनी अस्मिता का अहसास हो आया, ठीक है, वह भी दिखा देगी वह क्या है।”

“यही तो मैं समझ चुकी हूँ”, फातिमा चीख पड़ी, आपे में नहीं रही, “कि यह छोटी-छोटी लड़ाइयाँ ही असली हैं। बड़ी लड़ाई लड़ना आसान है, उन्हें गर्व से लड़ते हैं हम, अभिमान से मर मिटते हैं। पर यह छोटी लड़ाइयाँ ... कीड़े की तरह घिनौनी, दीमक की तरह लग जाती हैं, खोखला करती जाती हैं... इतनी छोटी होती है कि बड़ी स्वाभिमानी लड़ाइयों से जोड़ कर देखना दुर्लभ हो जाता है... तुम्हारी लड़ाई बड़ी है, लड़ो और चाटो बड़ी लड़ाई की बड़ी जीत को, उसकी तो हार ही भी घमंडी रहती है, पर ... मैं मुझे इन छोटी-छोटी ने ... बड़ी के लिए फुर्सत नहीं छोड़ी...ये ...”

ऊपर हमने इस नरेटिव से कुछ निर्देश प्रस्तुत किए हैं, जिसमें विषयी विषय में रूपांतरित होकर उपस्थित होता है। यह भी सच है कि रिश्तों के समुद्र में बहुत गहराई होती है। कमजोर लोग उसमें डूब जाते हैं। यहां पति-पत्नी की खुली जीवन-यात्रा में रहस्य पनपा ही नहीं गहराने भी लगा। संबंधों की जटिलता सीमाओं का अतिक्रमण तो नहीं कर पायी, इसलिए फातिमा अपने आक्रोश का शिकार स्वयं बन गयी। जैसे पात्रों के मन में लगी आग अपनी तहों को धीरे-धीरे बदलती चली गयी।

नरेटर अपने तलघर में रचना के साथ लगातार अपनी कई-कई संज्ञाएं छिपाये रहता है, वह अपने बहाने या दूसरों को, तथा दूसरों के बहाने अपने को खोजता है।

नरेटिव में ‘आत्म’ और ‘अन्य’ के अन्तर्जाल के अन्तरणशील सिलसिले में जो विपर्यास है वही इसकी सबसे बड़ी खूबी है, वही खूबी इसे महत्वपूर्ण बना देती है।

इस कहानी में हमारे जीवन के कुछ कड़वे तथ्य मिलते हैं, जिनसे रचना व्यवहार के समय की स्थिति अपने अंतर्विरोधों के चलते कुछ सवाल खड़ा करती है। वे ये हैं कि आख्यान की जो जीवंत विशिष्ट सत्ता खड़ी की गयी है, उसके नेटवर्क में अवचेतन की दबी, छिपी, दुनिया का कलात्मक रूपांतरण। यहां कठिनता और निःसहायता के स्वर, विच्छिन्नता, अस्मिता का लोप, संवेदनशीलता का

क्षरण, अलगाववाद, अमानवीयकरण की प्रक्रिया के बहुविध भयावह चेहरे क्या आज के सेकुलर परिवेश के समानान्तर एक मौलिक व्याख्याकृत भौतिक निष्कर्ष की ओर नहीं ढकेलते हैं। रचनाकृत काल और स्थान की परिस्थितियों में लेखिका ने विशिष्ट भावनाओं, भ्रमों, भ्रांतियों, धारणाओं का जो ढांचा खड़ा किया है, उसमें व्यक्ति की स्थिति और उसकी चेतना की जटिलताएं क्यों प्रमुख हो उठीं? यद्यपि भाषा के अन्तर्ग्रथन तथा अनुभवों के अन्तर्साक्ष्य में संस्कार और संवेदन के बीच जीवंत क्रिया-प्रतिक्रिया में दुविधा और द्वन्द्वात्मकता के एकीभूत प्रयत्न-प्रक्रिया में, घनीभूत अनुभवों के माध्यम से जो मनस्ताप उजागर होते हैं, उन संबंधों में होने और टूटने के तर्क संबंधों में कोमलता, तनाव, स्थितियों की विडंबना, त्रासद अभिव्यंजनक नाटकीय विन्यास जैसे लगते हैं। यह विघटन और आंतरिक अवैधता सब कुछ मिलाकर पाठकीय बोध में उद्वेलन पैदा करते हैं कि हम अपने ही आधार वस्तु के प्रति इतने तार्किक हो उठे हैं कि तार्किकता अतार्किकता में बदल जाती है।

नरेटिव में जिस संकट की अनिवार्यता प्रदत्त की गयी है वहां केवल पति-पत्नी की ही नहीं बल्कि सामाजिक संबंधों, पारिवारिक संबंधों की दुविधा और संस्कारों के केंचुल में झांकता समाज है। यह वास्तविक अनुभव है कि जीवन लघु एवं बृहद आकारों में व्यक्ति के अंतर्विरोधी संस्कारों एवं उनसे उपजे द्वन्द्वों में विकसित होता है। कुछ लोग जड़ीभूत संस्कारों को झटके से तोड़ देते हैं। परिणामस्वरूप कहानी अत्यंत यांत्रिक बन जाती है। परंतु गीतांजलि श्री ने परिवेश और स्थानीय सत्य की सीमाओं को ध्यान में रखकर नरेशन द्वारा कथा-केन्द्र का निर्माण करने वाली सहायक भावात्मक रुझानों की संरचना द्वारा पाठकों को गहरी आंतरिकता के साथ उनके प्रभावों की पहचान करायी है। उदाहरण के लिए- “फातिमा की आँखों में गांठें भरी पड़ी थीं, कैसे सुलझाएं, इतनी उलझ चुकी थीं कि ओम को लगा कि अब चाहे सुलझाने के लिए खींचों, या छोड़ दो... नतीजा एक ही होगा- टूट जायेगी।”

कहानी का अंत ‘जानामाज का कोना मोड़ कर फातिमा फिर बाहर निकल गयी। सरपट-सरपट भागती सी चाल में जा रही थी, लेकिन ऐसे भागी जैसे किसी काम की जल्दी हो और गाड़ी छूट रही हो, बल्कि ऐसे जैसे किसी से

भाग रही हो। भयभीत-सी बौखलायी-सी चेहरे के हर कण को किसी अंदर छिपी बेचैनी... लिया हो कि कोई उड़ता भाव न आ जाये। किसी को मालूम न हो जाए।... फीते में बंधी रस्सी की तरह उसका चेहरा सिकुड़ गया।'

यहां पाठक बने-बनाये परिणामों पर न पहुंच कर यथार्थ के बहुत ही सांकेतिक अंत तक पहुँच जाता है।

कहना न होगा कि हमें ध्यान रखना चाहिए कि संस्कृति की संरचना को प्रत्यक्षतः वस्तुगत तर्क संगतता में देखना भूल होगी। उसके निर्माण और विकास में अन्तर्विरोधी प्रक्रियाओं की समझ पैदा करनी होगी।

कृति समानांतर एक मौलिक व्याख्याकृत भौतिक निष्कर्ष की ओर नहीं ढकेलती है। रचना कृतकाल और स्थान की परिस्थितियों में लेखिका ने विशिष्ट भावनाओं भ्रमों, भ्रांतियों, धारणाओं का ढांचा खड़ा किया है, उसमें व्यक्ति की स्थिति उसकी चेतना की जटिलताएं क्यों प्रमुख हो उठीं? यद्यपि भाषा के प्रश्न में तथा अनुभवों के अन्तर्साक्ष्य में संस्कार और संवेदना के बीच जीवंत क्रिया-प्रतिक्रिया में, दुविधा और द्वन्द्वात्मकता के एकीभूत प्रयत्न-प्रक्रिया में, घनीभूत अनुभवों के माध्यम से जो स्तर-स्तर उजागर होते हैं, उन संबंधों में होने और टूटने के तर्क संबंधों में कोमलता, तनाव, स्थितियों की विडंबना, त्रासद अभिव्यंजक नाटकीय विन्यास जैसे लगते हैं। यह विघटन और आंतरिक अवैधता सब कुछ मिलाकर पाठकीय बोध में उद्घेलन पैदा करते हैं कि हम अपने ही आधार वस्तु के प्रति इतने तार्किक हो उठते हैं कि तार्किकता अतार्किकता में बदल जाती है।

नरेटिव में जिस संकट की अनिवार्यता प्रदत्त की गयी है, उसका पति-पत्नी ही नहीं बल्कि सामाजिक संबंधों की दुविधा और संस्कारों की केंचुल में फंस जाना। यह वास्तविकता एवं उनसे उपजे द्वन्द्वों में विकसित होता है। बहुत लोग संस्कारों को झटके से तोड़ देते हैं। परिणाम स्वरूप कहानी अत्यंत यांत्रिक बन जाती है। परंतु गीतांजलि श्री ने परिवेश और स्थानीय सत्य की सीमाओं को ध्यान में रखकर नरेशन द्वारा कथा-केन्द्र का निर्माण करने वाले सहायक भावनात्मक रुझानों की संरचना द्वारा पाठकों को गहरी आंतरिकता के साथ उन प्रभावों की पहचान करायी है। उदाहरण के लिए "फातिमा की आँखों में गाँठें भरी पड़ी थीं, कैसे सुलझाएँ, इतनी उलझ चुकी थीं कि ओम को

लगा कि अब चाहे सुलझाने के लिए खींचों, या छोड़ दो, आप ही कसती जाने दो, नतीजा एक ही होगा-टूट जायेगी।"

यहां पाठक बने-बनाये परिणामों पर न पहुंच कर, कलात्मक दृष्टि से प्रवहमान यथार्थ के बहुत ही सांकेतिक अंत तक पहुँच जाता है।

कहना न होगा कि हमें ध्यान रखना चाहिए कि संस्कृति की संरचना को प्रत्यक्षतः वस्तुगत तर्क-संगतता में देखना भूल होगी। उसके निर्मित होने, उसके विकास की प्रक्रियाओं की समझ पैदा करनी होगी।

अधिरचना की विविध परतों एवं विविध आयाम जो नए-नए रूपों में आकार ग्रहण करते हैं, उन्हें आधार-प्रक्रिया के अन्तर्गत मौजूद शक्तियों और उनकी आपसी टकराहटों, बदले और बदलते हुए रूपों में अभिव्यक्त किये गये हैं। गीतांजलि श्री ने माध्यमिकता की अवधारणा द्वारा गतिरोधों की तलाश सामाजिक विकास की ऐतिहासिक प्रक्रिया में तलाशा है। यहां देरिदा की यह उक्ति "Play is distance of presence." अप्रासंगिक नहीं लगती।

नरेशन में जो स्ट्रक्चर निर्मित हुआ है, उसे आत्मसात कर यह सच हो सकता है कि "A structure is also a institution derived from 'statula' meaning, law, regulation."

नरेशन में फातिमा और ओम के व्यक्तित्व की भावनात्मक संवेदनात्मकता को विस्तार देकर संबंधों की विभीषिका को अनेक परतों को उघारा गया है। विरोध कर फातिमा ने अपने ही आधार वस्तु के प्रति तार्किक हो उठती है। परिणाम स्वरूप दुविधा और द्वन्द्वात्मकता की एकीभूत प्रक्रिया में उसके अपने होने और टूटने का तर्क संबंधों के क्षेत्र में संस्कार और संवेदन के बीच जीवंत क्रिया-प्रतिक्रिया में स्थितियों की विडंबना और उससे उपजी त्रासदी पाठकों के इस विश्वास को बल देती है कि नरेटर ने आंतरिक द्वन्द्वों के माध्यम से साहित्य को व्यवहार के रूप में रचित किया है। फातिमा के अपने ही आत्म के दो फांक हो जाते हैं।

ओम ने कहा- "फातिमा, कुछ तो सोचो... सारा जग इटलायेगा कि उन्हें पहले ही पता था दूध पानी (हिंदू, मुसलमान- ले.) का मेल कब हो पाता है।... हमने एक-दूसरे से प्यार किया है... मज़हब से परे... तुमने क्यों ठान लिया है कि दुनिया के रचे झूठे भंवर में फंसे हम... तुली

हुई हो हमें हिंदू मुसलमान बनाने में... फातिमा तुम जहर को मरहम समझ रही हो। प्लीज जिससे लड़कर निकल आये थे उसी गड्ढे में गिर जाना चाहती हो?... हम तो बेइंसाफी से लड़ने वालों के लिए एक ताकत बन गये थे... सिंबल... सिंबल ऑफ विक्टरी...”।

“फातिमा तिलमिला उठी, “हां-हां सिंबल हैं बस सिंबल बन के रह गये हैं मुर्दा सिंबल... जैसे तिरंगे झंडे पर स्याही का चक्र... ओम... मैं इंसान हूँ फातिमा नहीं... सुना? समझे? सुन लो ओम मुझे मेरी दुनियाँ चाहिए, इंसानों वाली... यू यू अंडरस्टैंड... जिसमें तरह... तरह के रिश्ते हैं, दूर के, करीब के... मुझे चार जिगरी दोस्तों के सहारे नहीं जीना है ओम... तुम बेवकूफ हो... जिंदगी एक ज़रा से ‘इंटीमेट’ घेरे में नहीं बितायी जाती, हर वक्त यह ‘इंटीमसी’ सब इतने करीब... सब एक-दूसरे के बारे में सब कुछ जानते हुए... ओम मेरा दम घुटता है।”

“वह सच ही बहुत डरने लगी थी। बेकार में ही घबराहट की लहर बदन में सिहर उठती। रातों की नौद खुलती तो वह जानी-पहचानी आवाजें-नल से गिरती टप-टप बूँदें, हवा से धीमे-धीमे खड़खड़ाती खिड़की, दूर सड़क पर जाती ट्रक की आवाज... वह अंधेरे में ही डरी झाँकने लगती है कौन है? क्या है?” इस तरह के भाषा एंक्राइटी और न्यूरोसिस में ढाली गयी है। उसका मानसिक परिवेश चित्त की अवस्थाओं के संवेदनशील सूक्ष्म चित्रण मानो आख्यान की एक जीवंत विशिष्ट सत्ता मेन्ताज में विन्यसित कर दी गयी है। यहां अवचेतन की दबी छिपी दुनिया को कलानुभवों में रूपांतरण कर नरेटर ने एक ओर जहां फातिमा की कठिनता में द्वित के बिम्ब निर्मित किये हैं, वह उभय-संभव तनाव प्रभाव उसकी अस्मिता का लोप रचता है, साथ ही मनोवैज्ञानिक अलगाववाद और संवेदनशीलहीनता का धुंधलका भी खड़ा करता है।

यह रचाव पाठक को यह एहसास कराता है कि मनुष्य भी एक प्रक्रिया है। फातिमा के लिए तो अत्यंत निकट है वह अत्यंत दूर है। इस दूरी और निकटता की संश्लिष्टता अन्यता और अनन्यता नरेटिव की गतिकी में, परिवेश के सूक्ष्म निरीक्षण से उत्पन्न आकर्षण और विकर्षण की भूमिका निभाती है। फातिमा और ओम के टूटने की प्रक्रिया गहरा आघात है। आस्तित्विक अवसाद की, भावनात्मक पक्षाघात,

एकत्व में द्वित की ध्वनि परस्पर प्रतिलोम दिशा में चक्कर खाने लगते हैं।

मैंने ऊपर संस्कार और संवेदना के द्वन्द्व की चर्चा की है। अज्ञेय जी ने लिखा है, “सामाजिक यथार्थ और मानवीय यथार्थ भिन्न-भिन्न हैं। मानवीय यथार्थ विषयों और विषयी के आपसी संबंध से निर्मित होता है, फिर यहीं से वह सामाजिक रूप लेता है, तब भी सामाजिक यथार्थ मानवीय यथार्थ से पहले ही पुराना पड़ जाता है।

लेकिन समाज से अलग रह कर हम मानव कैसे बन सकते हैं। विषय और विषयी का संबंध तो सामाजिक संबंध में ही समाविष्ट रहता है। अज्ञेय ने आगे लिखा है- “यथार्थ बाहर होता है, सतह पर होता है... यथार्थ इकहरा या एक स्तरीय होता है। जो दीखता नहीं है, वह यथार्थ नहीं है- यह एक बड़े प्रकार का अंधापन है, जिसे यथार्थबोध का नाम दिया जा रहा है।” यह कोरा अनुभववाद है। द्वन्द्वात्मक दृष्टि से यथार्थ को देखने का मतलब यह है कि उसमें उसका अतीत और भावी रूप भी सम्मिलित रहता है। हाँ वह प्रत्यक्ष नहीं दीखता। हमारे होने की प्रक्रिया में संस्कार अपना रूप जरूर बदलता रहता है। वह स्थान में अवस्थित होकर काल में विकसित होता है। संवेदन और यथार्थ में अन्तर्क्रिया होती है। इसी क्रम में संज्ञान में, स्मृति, कल्पना तर्क-बुद्धि जैसी चेतना का निर्माण होता है।

उसी लेख में अज्ञेय ने यह भी लिखा है कि ‘जिस यथार्थ की ओर मैं अधिकाधिक बढ़ा, वह -‘बाह्य’ या ‘भौतिक’ या ‘सामाजिक’ यथार्थ से पहले अभ्यांतर, मानव अथवा मनोवैज्ञानिक यथार्थ था।’ यह फ्रायडिय अवधारणा है। सेचनेव, पावलोभ इस मान्यता को बहुत पहले ही गलत सिद्ध कर चुके हैं।

चूँकि फातिमा एक मुस्लिम परिवार में जन्मी थी। वहीं से संस्कार ग्रहण किया था। इसलिए इस्लाम धर्म के जन्म और उसके विकास के बारे में चर्चा जरूरी है लेकिन उसके लिए यहां अवकाश नहीं है। पर कुछ बुनियादी बातों पर ध्यान देना जरूरी है।

“जहाँ आर्थिक परिवर्तन उत्पादन के साधनों या पद्धतियों में परिवर्तित होता है। वहाँ आमतौर पर इसके सामाजिक परिणाम होते हैं और ये परिणाम फिर एक धार्मिक परिवर्तन को जन्म देते हैं... जैसा कि हमने देखा, इस्लाम ऐसे ही

आर्थिक परिवर्तनों की पैदावार था।” (डब्ल्यू माँटगुमरीवाट, इस्लाम एंड इंडियन ऑफ इंटिग्रेशन ऑफ सोसाइटी, पृ. 33)

“अपने जन्म और अपने विकास दोनों के एतवार से कोई धर्म एक सामाजिक संवृत्ति होता है। पैगम्बर अपने ही एक विशेष ढाँचेवाले समाज के लोगों में धर्म प्रचार करता है। समाजशास्त्री उस समाज के वर्गों का अध्ययन करता है, जिसकी पैगम्बर फौरी तौर पर दुहाई देता है, उन वर्गों का अध्ययन करता है, जिनको वह अपने धर्म-प्रचार के दौरान संबोधित करता है। जहाँ तक उसका ज्ञान के समाजशास्त्र से सरोकार होता है, वह पैगम्बर द्वारा प्रस्तुत विचारों और हर वर्ग के विशेष हितों के आपसी संबंध का भी अध्ययन करता है।” (डब्ल्यू माँटगुमरीवाट, “द सोसिलिज्म एंड इफेक्ट रिफ्लेक्शंस आन द थ्योरी ऑफ इस्लाम, पृ. 31)

गौर करने की बात है कि इस्लाम धर्म का उदय सामंतवाद के पहले हुआ। उत्पादन के संबंध बदल गये, परंतु उसके अनुकूल सामाजिक चेतना का विकास नहीं। आज साम्राज्यवाद परिवर्तित पूँजीवाद चेतना के पूर्ण विकास को भी अपने वर्ग हितों के विरुद्ध समझता है। भारत में मुस्लिम और हिंदू दोनों समाज अपने ही कठमुल्लापनों, मूल्यों और रुझानों के बोझ से दबे धार्मिक समाज हैं। पाठक जब तक पूरे समाज को उसके ढाँचे, रुझानों, उसके जीवन-मूल्यों की प्रणालियों, सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों और संस्थानों को नहीं समझेगा, तब तक वह फातिमा और ओम के ट्रेजिक रिश्तों को भी नहीं समझ पायेगा। अतएव अपने देश के, समाज के ताने-बाने, सामाजिक संरचना तथा राजनीतिक प्रक्रिया के पारस्परिक संबंधों और उनके तात्त्विक पहलुओं पर गंभीरता से विचार करने की जरूरत है। गीतांजलि श्री ने इस कहानी से इसी ओर इंगित किया है। आज जो आंदोलन हो रहे हैं; उनकी सर्वमान्य विशेषतः उनमें शामिल होने वाले उनके ब्लॉक, उनके वर्गों से निर्धारित होती है। कुल मिलाकर आज तो यही लगता है कि मौजूदा जर्जर तंत्र को बचाये रखने की भूमिका अत्यंत

प्रबल है। भारतीय हिंदू समाज आज भी पुरुषतांत्रिक ब्राह्मण समाज से अभिशप्त है। अतएव फातिमा उससे ‘आइडेंटिटी ग्रुप’ की आत्मीयता नहीं पा सकी। इसलिए वह अपने पुराने संस्कारों की चपेट में फिर आ गयी। यद्यपि पूजा या नमाज एक छद्म चेतना ही है परंतु उसे मार्क्स ने जहाँ अफीम कहा है वहीं उसे पीड़ितों की आह भी कहा है। अफीम शब्द के व्यवहार का तात्पर्य यह है कि पीड़ित मनुष्य परिवर्तन के सामने अपने को असमर्थ पाकर वर्तमान परिस्थिति के सामने आत्मसमर्पण कर देते हैं। उसी में अपनेपन को भुला देते हैं।”

“धर्म मनुष्यों के मस्तिष्क में उन बाह्य शक्तियों के काल्पनिक प्रतिबिंब के सिवाय और कुछ नहीं होता जो उनके दैनिक जीवन को नियंत्रित करती है।” (एंगेल्स-ड्यूहरिंग मत-खंडन)

आज विचारधारा के रूप में धर्म का प्रभुत्ववादी प्रतिक्रियावादी विचार, शासक-शोषक वर्ग के हित में मनुष्य के दिमाग में जड़ जमा चुका है। उसका पर्दाफाश करना भी संघर्ष का एक हिस्सा है। घृणा की संरचना को समझने में यह कहानी पाठकों को मदद करती है। फातिमा में अतीत का प्रेत कैसे जाग गया उसकी समझ ही पाठकों को इस स्थिति से उबरने की ओर प्रेरित करेगी।

लेखिका ने इस कथा-प्रसंग में एक गंभीर प्रश्न उठाया है। यह छोटी-छोटी लड़ाइयाँ (ग्रुप आइडेंटिटी पाने की) ही असली हैं बड़ी लड़ाई लड़ना आसान है। उन्हें गर्व से लड़ते हैं हम, अभिमान से मर मिटते हैं। पर यह छोटी लड़ाइयाँ... कीड़े की तरह घिनौनी, दीमक की तरह लग जाती हैं। खोंखला कर जाती हैं... इतनी छोटी होती हैं बड़ी स्वाभिमानी लड़ाइयों से जोड़कर देखना दुर्लभ हो जाता है।...” इन छोटी लड़ाइयों की समस्याओं पर सिमेन दबुआ से लेकर इरीगरी मिलेट तक ने बहुत कुछ लिखा है। ग्राम्शी ने सांस्कृतिक क्रांति की बात की है। परंतु बहस अभी भी अधूरी है। सांस्कृतिक क्रांति के साथ-साथ राजनीतिक क्रांति कैसे संपन्न की जाय वह विकट प्रश्न है।

संपर्क:

एच/13 एल. आई.जी., 8/1 आर.पी. रोड, काशीपुर,
कोलकाता-700002 (प. बं.), मो. 09038340568

उत्तर आधुनिक समय में स्त्री

पूनम सिन्हा

प्रोफेसर बी.आर.ए. बिहार विश्वविद्यालय (हिंदी विभाग)

व्यक्ति का यौन भेद (सेक्स) उसकी जैविक संरचना द्वारा तय होता है। स्त्री का स्त्री होना स्वयं उसके द्वारा तय नहीं होता है। स्त्री होने के कारक वह स्वयं नहीं। फिर इस आधार पर भेद-भाव कहाँ तक उचित है? इसी असमानता की ओर ध्यान दिलाने के लिए संयुक्त राष्ट्र ने अन्तर्राष्ट्रीय महिला वर्ष की घोषणा की थी। यह पूरी दुनिया में विभिन्न क्षेत्रों एवं स्तरों पर स्त्रियों के प्रति की जा रही असमानता एवं उस कारक तत्वों की ओर ध्यान दिलाने की संयुक्त राष्ट्र की कोशिश थी।

औरत 'प्रजनन' के द्वारा श्रम करने वालों का उत्पादन करती है। घर में जो काम वे करती हैं, वे ज्यादा महत्वपूर्ण हैं, पारिश्रमिक के एवज में किये गये कार्यों से। किन्तु, घर में किये गये कार्यों के लिये उन्हें कोई मजदूरी नहीं मिलती। सिर्फ अपने रख-रखाव का पारिश्रमिक मिलता है। अतः स्वाभाविक रूप से स्त्रियाँ सिर्फ प्रजनन यानि पुनरुत्पादन की भूमिका से आगे उत्पादन के क्षेत्र में प्रवेश करने लगीं। आर्थिक स्वायत्तता स्वतंत्रता की तरफ स्त्री का पहला कदम है, किंतु चुनौतियाँ सिर्फ इतनी ही नहीं। महादेवी वर्मा ने 'शृंखला की कड़ियाँ' में लिखा है— 'सामाजिक व्यवस्था के दो आधार हैं आर्थिकता और स्त्री-पुरुष संबंध।' स्त्री-विमर्श इन्हीं दो बिंदुओं के अंतर्गत केन्द्रित है।

महिला आंदोलनों की स्त्री सशक्तिकरण में महत्वपूर्ण भूमिका रही है। किंतु इन आंदोलनों पर भी कमोबेश जाति, संप्रदाय एवं दलगत रूढ़ियों का प्रभाव है। सिर्फ संगोष्ठियों में शिरकत एवं बहस करके स्त्रियाँ अपने को सशक्त नहीं बना सकतीं। जाति, धर्म, संप्रदाय आदि से ऊपर उठकर उन्हें जमीनी संघर्ष करना होगा।

पेड़ की जड़ में यदि दीमक लग जाये, तो उसकी डालियों के उपचार से तो पेड़ सुरक्षित नहीं रह पाएगा। स्त्री-विमर्श के पूर्व सम्पूर्ण व्यवस्था में सुधार लाना होगा। व्यवस्था में सुधार होने पर हाशिये पर स्थित सभी लोग, मसलन स्त्री, दलित आदिवासी आदि विमर्श के केन्द्र में आ जायेंगे। संकुचित, खंडित एवं एकांगी दृष्टि से महत् उद्देश्य की प्राप्ति नहीं हो सकती है। मानवतावादी दृष्टि की जड़ बहुत बड़ी होती है। बकौल मृणाल पांडे 'बिना मानसिक परिष्कार के सिर्फ विरोध के लिए किए गए विरोध से कोई रचनात्मक राह पैदा करना नामुमकिन है। नारीवाद नकली नाटकीय जुझारूपन के तेवर त्यागकर एक उदार संवेदनशीलता और संतुलित बुद्धि से अपने और उस परिवेश का जायजा लेगा जो आज ज्यादा से ज्यादा पैसा कमाने की छातीफाड़ अमानवीय और जीवन विरोधी स्पर्धा में पगलाया हुआ है। इसके लिए जरूरी बनेगा कि नारीवाद सिर्फ राजनीति ही नहीं, अर्थजगत, तकनीकी विज्ञान और मीडिया सभी के

प्रतिनिधियों से जुड़े, अपने कुछ झूठे पूर्वग्रहों को साहसपूर्वक त्यागे और पूरी मानवजाति के पक्ष में खड़े होने और विहंगम पड़ताल करने का ठोस आधार बनाए।' (हंस, जनवरी-फरवरी, 2000, पृ. 166)

इस उत्तर आधुनिक समय में स्त्री के व्यक्तित्व-विकास से संबंधित बहुत सारे पारंपरिक विचारों को तथाकथित नारिवादियों ने पुरातनपंथिता का सूचक मान लिया है। जरूरी नहीं कि हम सभी रूढ़ परंपराओं को स्वीकार कर लें। जीवन के लिए अनुपयोगी परंपराएँ काल के प्रवाह में स्वतः नष्ट हो जाती हैं। पर वैसी बातें, जो हमें आज के बाजारवादी संस्कृति के भँवरजाल से निकालने में सहायक हों, स्वीकार करने में ही कल्याण है। वैश्वीकरण एवं उससे उत्पन्न बाजारवाद ने स्त्री-जीवन को भी अत्यधिक प्रभावित किया है। इस बाजारवाद में प्रत्येक वस्तु 'माल' और 'पण्य' है। स्त्रियों का एक वर्ग ऐसा भी है, जिसके लिए उसकी देह 'उत्पाद' है और बाजार अपने मुनाफे के लिए उसका इस्तेमाल कर रहा है। देह को 'उत्पाद' मानकर, ब्यूटी एजेंटों के चक्कर में पड़कर एवं अपनी बौद्धिक/आध्यात्मिक विरासत की अवहेलना कर स्त्री कैसी शक्ति, कैसी स्वतंत्रता प्राप्त करेगी? पुरुषों से स्त्रियों की बराबरी का मतलब स्त्रियों का अपने नैसर्गिक विशिष्ट गुणों को छोड़ना नहीं है। बराबरी की होड़ में अपने व्यक्तित्व में पुरुष-भाव का आरोपण हास्यास्पद है। फिर लड़ाई कैसी और किससे? पुरुषों की जिन प्रवृत्तियों से उनकी लड़ाई है, उन्हें अपनाकर स्त्रियाँ प्रतिगामी तो बनेंगी ही, निरंकुशता भी फैलाएँगी। दादा धर्माधिकारी ने 'गाँधी मार्ग' में लिखा है, 'विकसित स्त्री का अर्थ नकली पुरुष नहीं है।' 'नये युग की नारी' शीर्षक पुस्तक में दादा धर्माधिकारी की उक्ति है, 'नियति ने और ईश्वर ने स्त्री के व्यक्तित्व में ताला लगाकर उसकी चाबी चुपचाप स्त्री के ही आँचल में बाँध दी है। स्त्री खोयी-खोयी सी दुनिया भर में उस चाबी को खोज रही है। सब जगह, सिवाय अपनी अन्तरात्मा के।'

पुरुष द्वारा निर्धारित/ आरोपित भूमिका से मुक्त होकर स्त्री को अपने दिमाग का पुनर्गठन करना होगा। गाँधी जी ने कहा है, 'युगों से किसी-न-किसी पुरुष ने स्त्री पर अपना

प्रभुत्व रखा है और इसीलिए स्त्री अपने को पुरुष से नीचा समझने लगी है।' देश के स्वाधीनता-आंदोलन में गाँधी ने स्त्रियों को सक्रिय राजनीति से जोड़ा। शिक्षित एवं अशिक्षित दोनों प्रकार की स्त्रियों ने स्वतंत्रता-संग्राम में हिस्सा लिया। इनमें से कुछ स्त्रियाँ ऐसी थीं, जिन्होंने घर की चारदीवारी से कभी पैर बाहर नहीं निकाले थे। शराब की दुकानों पर पिकेटिंग करना, विदेशी कपड़ों की होली जलाना, पुलिस की लाठियाँ खाना, जेल जाना इन सभी विरोधी कार्यों में स्त्रियों ने हिस्सा लिया। इस प्रकार स्त्रियों ने औपनिवेशिक दासता और पितृसत्तात्मक व्यवस्था द्वारा प्रदत्त दासता, दोनों पर प्रहार किये। स्वतंत्रता-आंदोलन में भाग लेने के कारण स्त्रियों के मन में यह विश्वास जगा कि वे कमजोर नहीं हैं। घर से निकलने के कारण रूढ़िवादी विचारधारा, पर्दा-प्रथा से मुक्ति के अवसर प्राप्त हुए, स्त्री को अपनी ताकत का एहसास हुआ। पुरुष नियंत्रण में काफी आयी। स्त्री की राजनीतिक महत्वाकांक्षा का जन्म हुआ। स्त्री की मुक्ति के लिए गाँधी की कोई अलग योजना नहीं थी। नारी के त्याग, क्षमा, दयालुता, सहिष्णुता आदि मानवोचित गुणों का उपयोग गाँधी ने अपने अहिंसक आंदोलन में किया। गाँधी जी ने स्वीकार किया कि 'स्वराज पाने में भारत की औरतों का हिस्सा आदमियों के बराबर ही है बल्कि शांतिपूर्ण संघर्ष में स्त्रियाँ कई मील आगे रही हैं।' उनका विश्वास था कि 'सामाजिक परिवर्तन के लिए स्त्री को स्वयं उपक्रम करने होंगे।' यद्यपि स्वतंत्रता आंदोलन में स्त्रियों की स्थिति और भागीदारी के संबंध में गाँधीजी के विचारों और भूमिका-वितरण के संबंध उन पर आक्षेप लगे हैं। 'स्वतंत्रता-आंदोलन में स्त्रियों की भागीदारी के विषय में गाँधी पर आरोप है कि भूमिकाओं के बँटवारे में उन्होंने परंपरागत कार्य-विभाजन पर ही जोर दिया। निर्णायक भूमिकाओं और संगठन की भूमिका से उन्हें दूर रखा गया। नेतृत्व एवं निर्णय की क्षमता से दूर रखे जाने के कारण स्त्रियों ने न केवल विरोध किया, वरन् कई स्थानों पर उन्होंने विद्रोह भी किया। सविनय अवज्ञा आंदोलन नामक आंदोलन में प्रखर एवं प्रत्यक्ष भागीदारी से स्त्रियों को दूर रखे जाने के विचार पर कमला देवी चट्टोपाध्याय, दुर्गाबाई देखमुख, खुर्शीद बैन नैरोजी एवं अन्य महिलाओं का क्षोभ दर्ज करने

लायक था। उन्हें दुःख था कि गाँधी ने स्त्रियों को आंदोलन में दूसरे दर्जे की भूमिका दी। यह क्षोभ यहाँ तक बढ़ा कि 1931 में पृथक महिला कांग्रेस आंदोलन में भागीदार स्त्रियों ने निरंतर संघर्ष करके चुनौतीपूर्ण भूमिकाओं की मांग की, किन्तु पितृसत्तात्मक दृष्टिकोण के कारण आंदोलनकारी नेताओं ने, जो संगठनात्मक पदों पर काबिज थे, स्त्रियों की योग्यताओं पर शक किया और निर्णायक भूमिकाओं, संगठन के उच्च पदों से उन्हें दूर रखा। स्वयं गाँधी ने स्वीकार किया कि 'कांग्रेस में पुरुष स्वतंत्रता-संग्राम में स्त्रियों को समान स्तर पर नहीं देख पा रहे हैं। वे अपने आपको स्वामी एवं लार्ड समझते हैं। स्त्री को मित्र अथवा साथियों के रूप में स्वीकार नहीं करते।' इन दोहरे-तिहरे संघर्ष के बावजूद स्त्रियों के संघर्ष को स्थानापन्न का संघर्ष माना गया एवं उनकी भूमिका को अनुगामी व सहयोग की सीमा में स्वीकार किया गया। (स्त्री-चिंतन की चुनौतियाँ, रेखा कस्तवार, पृ. 74-74)

स्त्री की आज तक की विकास-यात्रा को देखते हुए कह जा सकता है कि उन्होंने विभिन्न क्षेत्रों में ऊँचाई प्राप्त की है। तुलनात्मक रूप से ऐसी स्त्रियों की संख्या बहुत ही कम है। अपने प्रति प्रचलित पूर्वग्रहों को तोड़कर उन्होंने इतना तो साबित कर ही दिया है कि जीवन-जगत का ऐसा कोई क्षेत्र नहीं, जहाँ वे सफलता का परचम नहीं लहरा रही हैं। बावजूद इसके, स्त्री-देह का वैभव अब भी आकर्षण का मुख्य केन्द्र है। 'एडवर्टाइजिंग स्टैंडर्ड्स काउंसिल ऑफ इंडिया' का निर्देश है कि 'विज्ञापन में महिलाओं का चित्रण ऐसा हो, जो उनके आत्मसम्मान और गरिमा को बनाए रखे।' लेकिन तमाम विज्ञापन कंपनियाँ इस निर्देश की धज्जियाँ उड़ा रही हैं। किसी चैनल को रेटिंग बढ़ाने में स्त्री-देह ही उन्हें सबसे मुफीद लगती है। शिवकुमार मिश्र कहते हैं- 'इन विज्ञापनों को देखकर लगता है सचमुच हिंदुस्तान नई सदी में पहुँच गया है। कदाचिद् ही कोई विज्ञापन हो जिसमें नारी और नारी देह का व्यावसायिक इस्तेमाल नहीं होता हो।' स्त्रियाँ भी इसमें बढ़-चढ़कर हिस्सा ले रही हैं। भूमंडलीकृत बाजारवाद ने स्त्री को उत्पाद में बदलकर उसे निष्प्राण बना दिया है। स्त्री सिर्फ देह ही नहीं आत्मा भी है। दाँत साफ करने के लिए एक

पाउडर के विज्ञापन में कहा जाता है कि 'देह के लिए इतना कुछ दाँत के लिए कुछ भी नहीं?' इसी तर्ज पर कहा जा सकता है कि 'देह के लिए इतना कुछ आत्मा के लिए कुछ भी नहीं?' गौरतलब है कि मानव-सभ्यता के लिए उपनिवेशवाद हमेशा अपमानजनक रहा है, चाहे वह किसी राष्ट्र का हो या स्त्रीदेह का। पूँजीवादी व्यवस्था के विश्व बाजार में स्त्री देह भी उपनिवेश ही है। अब स्त्री को स्वयं निर्णय करना है कि अपनी देह की खुदमुख्तार होते हुए अपने व्यक्तित्व को सम्मानजनक बनाना है अथवा मीडिया के माध्यम से अपनी देह को बाजार का उपनिवेश बनाना है। विश्व बाजार के खुलेपन के कारण आज भारत में भी सौंदर्य का औद्योगीकरण तेजी से हो रहा है। व्यापार एवं उद्योग के नाम पर ही इंग्लैंड ने भारत पर डेढ़ सौ साल से अधिक राज किया। प्रसिद्ध लेखक सुरेन्द्र वर्मा के उपन्यास 'दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता' के फ्लैप पर अंकित है, 'उपभोक्ता समाज में जीने की एक ही शर्त है- अपनी किसी योग्यता को बाजार में बेच पाना। छोटे बाजार में छोटी कीमत, बड़े बाजार में ऊँची कीमत। अच्छी कीमत पाने के लिए बाजार की समझ जरूरी है। ऊँची कीमत से ही सरप्लस, अधिशेष, बनेगा और धन संचय हो सकेगा। इससे सुख और ऊँची जीवन शैली तो प्राप्त हो जाता है, लेकिन बाजार अपनी पूरी कीमत वसूलता है चाहे गन्ने की तरह निचोड़ना ही क्यों न पड़े।' इस कथन की चरितार्थता में मनुष्य के जीवन में न तो कोई लोकल, नैतिक मूल्य और न ही सामाजिक सहजीवन की कोई संभावना या अनिवार्यता दिखती है। वैसे भी स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद बढ़ते हुए शहरीकरण एवं औद्योगीकरण के कारण संयुक्त परिवार टूटने लगे एवं लोगों की एक-दूसरे के सुख-दुख में भागीदारी सिमटने लगी। इसका सबसे अधिक खमियाजा बूढ़ों एवं बच्चों को भुगतना पड़ा है/ पड़ रहा है।

स्त्री-जीवन की समस्याएँ अनगिनत हैं, उत्तर आधुनिक समय में समाधान के रास्ते बीहड़ एवं जटिल। विवाह संस्था, समलैंगिकता, लिव इन रिलेशनशिप, कन्या-भ्रूण हत्या आदि मुद्दों पर खुली बहस की जरूरत है। सत्तर के दशक में लगता था कि लड़कियों में शिक्षा के प्रसार के कारण निकट भविष्य में विवाह की प्रक्रिया दहेज रहित

होगी। पर बाजारवाद की आँधी में तो बचे-खुचे मूल्य भी उड़ गये। आज आर्थिक रूप से स्त्रियों की आत्मनिर्भरता आशा जगाती है किन्तु उनका प्रतिशत निराशाजनक है। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन (संयुक्त राष्ट्र) के अनुसार दुनिया की 98 प्रतिशत पूँजी पर पुरुषों का कब्जा है। पुरुषों के बराबर आर्थिक और राजनीतिक सत्ता पाने में औरतों को अभी हजार वर्ष और लगेंगे। कहा जा सकता है कि पिछले बीस वर्षों में निर्णायक भूमिकाओं में स्त्रियाँ भी नमूदार हुई हैं, किन्तु ऐसी स्त्रियों की संख्या एक प्रतिशत भी शायद ही हो। अलग-अलग वर्ग की स्त्रियों की अलग-अलग समस्याएँ एवं समाधान हैं। सीमांत समाज की स्त्रियों की समस्याएँ ज्यादा तकलीफदेह हैं। सभी वर्ग की स्त्रियों को एक साथ मिलकर एवं सहयोगी पुरुषों की सहभागिता स्वीकार कर स्त्री-हित की लड़ाई लड़नी होगी। आक्रमकता किसी भी आंदोलन को कुंद कर देती है। इतिहास गवाह है कि स्त्री-दशा में सुधार के लिए पुरुष भी निरंतर संघर्ष करते रहे हैं। अतः उनके सहयोग का बहिष्कार नहीं स्वीकार करना होना चाहिए।

अतः हक की लड़ाई में दृष्टि की समग्रता अनिवार्य है। सच है कि अपने-अपने हिस्से की लड़ाई सबको लड़नी होती है, किंतु आपसी तारतम्य होने पर संघर्षों की विभिन्न इकाइयाँ शृंखला का रूप धारण कर मजबूत हो जाती हैं।

ध्यान यह रखना है कि नीति की लड़ाई में नीयत में खोट न हो। अन्यथा कोई भी आंदोलन तात्कालीनता के गर्त में समाकर असमय काल कवलित हो जाता है। बहुधा हम देखते हैं कि स्त्री की सुरक्षा, सुविधा एवं सम्मान के लिए बनाये गये बहुत-से कानूनों का दुरुपयोग व्यक्तिगत राग-द्वेष के लिए किया जाता है।

स्त्रियों का एक प्रमुख हथियार उनकी कलम है। अपनी पूर्वजाओं में बौद्धधर्म की थेर संप्रदाय की स्त्रियों की 'थेरीगाथा', अज्ञात स्त्री की 'सिमंतनी उपदेश', मराठीभाषी ताराबाई शिंदे की पुस्तक 'स्त्री-पुरुष तुलना' एवं महादेवी वर्मा की 'शृंखला की कड़ियाँ' स्त्री मुक्ति के लिए मील की पत्थर हैं।

जेमेसन अपनी पुस्तक 'द पालिटिकल अनकांशस' में कहते हैं कि सत्ता को अपने प्रति किये गये विरोध की अनुगूँज को सुनने की आदत नहीं होती। स्त्री के संदर्भ में भी यही सत्य है। अनुगूँज तो सुननी ही पड़ेगी, क्योंकि अनुगूँज तो उठ रही है, उठती रहेगी। अज्ञेय की पंक्तियाँ याद आती हैं-

“न दो प्यार/खोलो न द्वार/ ... इस अंधी दीवार में :
पा लूँगा दरार मैं कोई/ हो न सकूँगा पार- / न हो: मैं बीज
उसी में डालूँगा: वह फूटेगा : फिर डार- डारसे उसकी/
झूमेगा फल-भार...।”

संपर्क:

बी.आर.ए. बिहार विश्वविद्यालय
मुजफ्फरपुर- 842 001, मो. 09470444376

स्त्रीवाद निःसंदेह एक राजनीतिक मुद्दा है

डॉ. आरती

संपादक (समय के साथी)

स्त्रीवाद या नारीवाद का केन्द्रीय मुद्दा पुरुष से विद्रोह नहीं है। यही तमाम नारीवादिने कहती/कहते रहें; बेट्टी फ्रीडेन भी यही कहती हैं- 'स्त्री मुक्ति आंदोलन पुरुष विरुद्ध मोर्चा नहीं है। वे (पुरुष) हमारे संभावित मित्र हैं। इसका केन्द्रीय मुद्दा स्त्री-चेतना का विकास है। वे स्त्रियाँ मुख्य रूप से इसका हिस्सा होनी चाहिए जो मजहबियों, जुनूनीमुल्यवादियों, परंपरा पोषकों के दमन और शोषण की शिकार हैं जो विज्ञान, मनोविज्ञान को दरकिनार कर सदियों के दुराग्रहों से ग्रसित हैं। वे स्त्री को भी उन्हीं काराओं में जोर जबरदस्ती, भय दिखाकर खींचते रहते हैं। यहाँ उद्देश्य बीमार प्रथाओं के विरोध से है बल्कि धर्म और मूल्यों के विरोध से।

स्त्री-चेतना की प्रस्थान बिंदु पर पहला स्त्री दिमाग, मन रहा है जिसमें पहले-पहल असंतोष जागा। अपनी स्थिति के प्रति; अपने आब्जेक्टपने के प्रति। अन्या, सेकेण्ड सेक्स दूसरे दर्जे का प्राणी की तरह पुरुष स्थिति से भिन्न स्त्री-स्थिति के प्रति असंतोष पनपा फिर एक्शन और फिर कोई घोषणा-मुक्ति की घोषणा। ऐसी ही एक पहल अमेरिका में चाय पीते-पीते पाँच स्त्रियों ने कर डाली। अमेरिका स्वतंत्र हुआ, पुरुषों को सत्ता मिली और चयन का अधिकार- स्त्रियाँ दोनों से ही बेदखल। 1848 का वर्ष जब 'कम्युनिस्ट मैनीफेस्टो' प्रकाशित हुआ था उसी के समानांतर 13 जुलाई 1848 को ही पूरी पाँच महिलाएं चाय पीते हुए अपने अधिकारों का घोषणापत्र खुद ही प्रकाशित करती हैं, जिससे एक दिन दुनियाभर की औरतों के चयन की, अभिव्यक्ति की, आजादी की पैरोकारी की।

उन्होंने इस आशय का विज्ञापन की (अमेरिकी स्वतंत्रता की घोषणा के मूल्यों को अमेरिकी महिलाओं पर भी लागू किया जाये) दो दिन बाद 'सेनिका काउंटी कूरियर' पत्र में प्रकाशित हुआ जिसमें जल्द ही होने वाले सम्मेलन का ऐलान किया गया था। यह सम्मेलन 9 जुलाई 1848 को सेनिका फाल्स में हुआ। जिसमें स्त्रियों की सामाजिक, नागरिक एवं धार्मिक परिस्थिति और उनके अधिकारों पर पहली बार विचार विमर्श हुआ।

यह स्त्रीवाद का प्रथम चरण था। विश्व का सबसे बड़े महिला संगठन (National Organisation of Women) की स्थापना भी ऐसे ही एक भोज के दौरान हुई।

गहराई से देखें तो स्त्री के विरोधी पलड़े पर पुरुष वहीं खड़ा है जहाँ सत्ता खड़ी है। स्त्री का समूचा शोषण, शोषण के तौर-तरीके (परंपराएँ, प्रथाएँ, धार्मिक कानून) सत्ता के प्रतिदायक हैं। इस प्रकार स्त्रीवाद समूल में निजी या लिंगवाची विषय ना होकर राजनीतिक विषय है। बुनियादी अर्थों में यह सामाजिक परिवर्तनों और मानवाधिकारों के आंदोलनों से संपृक्त होकर ही अपने उद्देश्यों को पूरा कर सकता है। शोषितों, वंचितों की तरह ही स्त्रीवाद की जड़ें

निःसंदेह साम्यवाद के भीतर है।

स्त्री को लेकर मार्क्स की इच्छा थी कि वह श्रम करे। यदि वह श्रम (घर से बाहर) करेंगी तो नियंत्रित होने वाली शक्ति से बदलकर नियंत्रणकारी शक्ति बन जाएगी। परिवार संस्था का पुनर्निर्माण भी होगा और स्त्री संबंधों को भी एक नया धरातल मिलेगा। मार्क्स के विचारों से प्रभावित होकर कई महिलाएँ क्रांति के मैदान में उतरतीं। नए संबंधों की व्याख्या करनी चाही। यहाँ क्या महसूस किया? इस संदर्भ में फ्रांसीसी महिला ज्याँ डेरियन का प्रसंग जरूरी है— डेरियन अपने पुरुष साथियों के साथ बिखरी हुई मजदूर यूनानियों को लेकर महासंघ बनाने की योजना पर काम कर रही थीं। वे 'द ओलीनियम डेम फेम्मे' नारीवाद पत्र में नियमित स्तंभ भी लिखा करती थीं। एक दिन पुलिस ने यूनियन के अन्य साथियों समेत उन्हें पकड़ लिया। मुकदमे से पहले वकील जो, उनसे मिलने आया ने जो कहा कहा, वह चौंका देने वाला था। वकील के अनुसार— 'वे महासंघ बनाने में अपनी भूमिका उल्लेख न करे अन्यथा यूनानियों को एक सूत्र में पिरोने की योजना को अधिकारियों की स्वीकृति नहीं मिल पाएगी, क्योंकि वे नारीवादी हैं।' यहाँ व्यवहार में मार्क्सवाद के भीतर, नारीवादी होना अस्पृश्य होने जैसा था। पुरुष के मुकाबले स्त्री ने सामाजिक, वर्गीय योगदान पर भी एक बड़ा प्रश्नचिह्न। यह घटना मजदूर, क्रांति के भीतर स्त्री को अपनी असली जगह दिखा देने के लिए पर्याप्त थी। डेरियन ने सच के साथ समझौता इसलिए किया कि मजदूर महासंघ की योजना साकार हो सके। इस घटना के बाद पेरिस कम्यून में महिला योद्धाओं के अनुभव भी आंदोलनों के भीतर लैंगिक भेदभाव से भरे पूरे रहे। इन महिला योद्धाओं के साहस और कर्तव्यनिष्ठा की प्रशंसा स्वयं कार्लमार्क्स ने की थी। कम्यून में करीब आठ सौ स्त्रियाँ हथियार बंद होकर घर से निकलीं। इन्होंने क्रांति के लिए ही जीवित रहने का संकल्प लिया। और तमाम रोड़ों को पार कर, शत्रुओं का निडरता के साथ सामना किया। तत्कालीन क्रांतिकारी और पत्रकार आंद्रेलुई लिखती हैं कि— इन महिलाओं का संघर्ष दोतरफा था। एक ओर वे वर्साई के शत्रुओं से लड़ रही थीं तो दूसरी ओर अपनी ही कतारों के पुरुषों की मानसिकता से। इस आंदोलन के बाद

भी वही हुआ। जिस क्रांति ने उन्हें निष्क्रियता के बाहर निकाल, उद्देश्य पूरा हो जाने पर क्रांतिकारी कतारों का यौन विभाजन, उनकी अधीनस्थ भूमिका पर शब्दाघात करता रहा। ये प्रहार उनकी उभरती भूमिका के लिए हमेशा घातक सिद्ध हुए हैं। इसीलिए क्रांतियाँ सार्विक मुक्ति का दावा करने के बावजूद पुरुष केन्द्रित रह जाती हैं और आधे-अधूरे प्रयास के वाहक भी। तेलंगाना में पेरिस कम्यून के लगभग 175 वर्ष बाद चंद्र राजेश्वर राव ने एक स्त्री संगठन की आधारशिला रखी और ब्रिटिश उपनिवेशवाद एवं निजाम के रजाकारों के खिलाफ सशस्त्र संघर्ष का ऐलान कर दिया। तेलंगाना की इस क्रांति में मल्लू स्वराज्य और बजरानी जैसी महिलाओं ने मिशाल कायम की थी। लेकिन इसके बाद भी लिंगभेद की शिकार हुई और पुरुषों की बराबरी का दर्जा पाने में असमर्थ रहीं। राजेश्वर राव ने स्वयं स्वीकार किया कि 'जब स्त्रियाँ आई तो हमने उन्हें हाथोंहाथ लिया लेकिन हमने उन्हें आगे बढ़ने हेतु प्रेरित करने के लिए कुछ नहीं किया। इन महिलाओं के साथ यदि सहयोग किया जाता, पार्टी के दरवाजे उनके लिए खोले जाते तो निश्चित उनके कार्यों का फायदा पार्टी और विचारधारा दोनों को मिलता।

यदि मार्क्सवाद का सतर्कता सहित अध्ययन किया जाय तो स्पष्ट होगा कि उसके बुनियादी अस्तित्व में ही समाजवाद और नारीवाद के परस्पर संबंध की संभावनाएँ निहित हैं। यद्यपि ध्यान देने की बात है कि मार्क्सवाद स्त्री शोषण खत्म होने के लिए साम्यवाद का इंतजार करने को कहता है। दूसरी तरफ उसका संकेत क्रांति की ओर जाता है कि बगैर क्रांति बदलाव संभव नहीं। तो क्या साम्यवाद आने पर मुक्ति स्त्रियों को उपहार की तरह मिल जाएगी? लगभग यही धारणा उन्नीसवीं सदी के प्रारंभिक चरण तक प्रसिद्ध नारीवादियों विलियम थाम्पसन, मेरी वोल्स्टनक्राफ्ट, फ्लोरा टिस्टन, अन्ना विलहर आदि ने बना रखी थी। इस धारणा को तोड़ने में बेवेल की पुस्तक 'वूमेन एण्ड सोशलिज्म' ने क्रांतिकारी भूमिका निभाई। एंगेल्स और बेवेल के विचारों ने नारीवाद की मृत देह में हिम्मत जगाई। इस पुस्तक का ही प्रभाव था कि 1891 में जर्मनी की राजनैतिक पार्टियों में स्त्रियों की समानता को स्वीकृति मिली। बेवेल ने स्त्रियों को

आगाह किया कि- 'जिस तरह मजदूरों को पूँजीपतियों से उम्मीद नहीं रखनी चाहिए उसी तरह स्त्रियों को पुरुषों की तरफ कोई आशा नहीं बाँधनी चाहिए।' बेवेल का कथन स्पष्ट करता है कि पूँजीपतियों की भाँति पुरुष (कामरेड पुरुष भी) स्त्री के दमन और शोषण की अनुभूति के लिए तैयार नहीं है। उन्होंने जोर देकर कहा कि मार्क्सवादी सिद्धांतकार यौनिकता, प्रजाति और वर्गभेद के अंतर्विरोधों को हल करने के बजाय उन्हें छिपा देते हैं। यह प्रक्रिया नए समाज की रचना में अवरोधक की भूमिका निभाती है। स्त्री की प्रगति को समूचे समाज की प्रगति मानते हुए भी उन्होंने यौन उत्पीड़न को अपने अध्ययन का विषय नहीं बनाया। मार्क्स का पूरा ध्यान श्रम और पूँजी पर ही केन्द्रित रहा। उत्पीड़न के प्रश्नों को हल किए बिना स्त्री विषय पर आगे नहीं जाया जा सकता। स्त्री वर्ग सीमा से परे केवल श्रमिक है, शोषित है, उत्पादनकर्ता है और यौन शोषण उसका अहम पहलू। वह दोतरफा शोषण की शिकार है- पहला कि, उसके श्रम का, घरेलू श्रम का कोई मूल्य निश्चित नहीं। दूसरा, यौनिक विभाजन और शोषण उसकी उत्पीड़ना का कारण है। मार्क्सवाद ने इन प्रश्नों को टटोला, सुलझाया नहीं बल्कि आगे जाकर दरकिनार किया जिसका परिणाम नारीवाद का जन्म है। नारीवाद की भी प्राण वायु मार्क्सवाद में निहित है, यह सत्य है कि वह मार्क्स के चिंतन से पल्लवित, फलित है। यद्यपि कि मार्क्स के चिंतन ने मानव इतिहास और समाज के सभी पहलुओं का व्यापक विश्लेषण प्रस्तुत किया। इस चिंतन ने आगे बढ़कर श्रम, शोषण, लिंगभेद, वर्णभेद से जुड़ी क्रांति की अवधारणाओं को स्पष्ट परिभाषाएँ दीं। बेवेल के विचारों को खोलने का काम एंगेल्स की पुस्तक 'परिवार, निजी-संपत्ति और राज्य की उत्पत्ति' करती है। इस पुस्तक में उन्होंने रोजगार को स्त्रियों की मुक्ति का प्रस्थान बिंदु बताया। एंगेल्स ने कहा कि वे (स्त्रियाँ) सार्वजनिक उद्यम में आएँ। इसके पूर्व 1845 में 'इंग्लैंड में मजदूर वर्ग की दशा' पुस्तक में एंगेल्स ने स्त्री मजदूरों की दयनीय स्थिति से संवेदित होकर रोजगार को औरतों से, उनके औरतपन के छीने जाने का कारण बताया था। जिसे सुधार कर उन्होंने माना कि श्रम (घरेलू श्रम के अलावा) की दुनिया में कूदकर ही स्त्री

अपने आपको और अपने शोषणों की पहचान करेगी। आज नारीवाद की अवधारणा को देहवाद कहकर नाक-भौं सिकोड़ने वाले, वर्गीय क्रांति में स्त्री यौनिकता के प्रश्नों को आड़े मानने वाले, मार्क्स की प्रतिस्थापनाओं पर ध्यान दें। मार्क्स ने अपने अध्ययनों में, जैसे 'इकोनोमिकल एण्ड फिलोसोफिकल मैन्यूस्क्रिप्ट', 'जर्मन आइडियोलॉजी', 'हॉली फैमिली' से लेकर 'दास कैपिटल' तक लगातार स्त्री मुक्ति को श्रम से जोड़ा और कहा कि उत्पादन में स्त्री के जुड़ने से तीन बड़े परिवर्तन होंगे। पहला, पुरुष और स्त्री के संबंध उच्चतर स्तर पर पहुँचेंगे, दूसरा-एक नए तरीके से परिवार का जन्म होगा और तीसरा- श्रमिक स्त्री का अपने बाह्य जगत पर नियंत्रण स्थापित होगा। साथ ही मार्क्स की स्थापनाओं से स्पष्ट होता है कि वे उत्पादन के सामाजिक संबंधों के साथ ही प्रजनन के सामाजिक संबंधों के बदलने से उत्पन्न शोषणमुक्त समाज की तस्वीर पेश करना चाहते हैं। मार्क्स और एंगेल्स के साथ ही स्त्री अधिकारों के प्रश्नों के संदर्भ में अगस्त बेवेल की वैचारिकी, कार्यप्रणाली और उनके लेखन का विशेष योगदान है। उनकी पुस्तक 'नारी और समाजवाद' ने फर्दीनांद लॉसाल के प्रतिगामी विचारों को पनपने से रोका। उन्होंने स्वयं भी सामने आकर लॉसाल पंथियों के पूर्वाग्रहों का विरोध किया। वे (लासालपंथियों) रूसो-अरस्तु और उनके समर्थकों की तरह औरतों को जन्मजात ही पुरुषों से हीन मानते थे। वे उनके किन्हीं भी राजनैतिक-सामाजिक अधिकारों के विरुद्ध थे। उनके विचारों का बेल्लेम और उनके समर्थकों ने पार्टी के भीतर ही संघर्ष करके पराजित किया। आज नारीवादियों के अधिकारों के संरक्षण के लिए भी पार्टी और यूनियनों के भीतर ऐसे विरोधों की जरूरत है। गेवल के समय में जो स्थिति जर्मनी में अंतः वैचारिक टकराव की थी वही स्थिति उसी समय में यूरोप और अमेरिका की सोशलिस्ट पार्टियों में भी थी। यह समय रूस में समाजवादी क्रांति का था जिसका प्रभाव अन्य देशों पर भी पड़ा। लेनिन ने इसी समय तीसरे कम्युनिस्ट 'अंतर्राष्ट्रीय महिला आयोग' के कार्यों का प्रारूप भी पेश किया। इस प्रारूप के अनुसार सबसे महत्वपूर्ण बात थी कि, लेनिन ने महिलाओं की गुलामी को समाप्त करने के लिए, कम्युनिस्टों के नारी आंदोलन को सर्वहारा के वर्ग-संघर्ष और

क्रांति के साथ जोड़ने की जरूरत पर बल दिया था।

लेनिन ने यह भी कहा कि 'हमारी विचारधारात्मक अवधारणाओं से ही हमारे सांगठनिक विचार पैदा होते हैं। हम कम्युनिस्ट महिलाओं का कोई अलग संगठन नहीं चाहते, महिला कम्युनिस्ट को पुरुष कम्युनिस्ट की तरह ही पार्टी के अधिकार एवं कर्तव्य हासिल है।' साथ ही लेनिन ने वर्किंग ग्रुप, आयोगों, समूहों, कमेटियों के रूप में पार्टी के अलग अंग बनाने की जरूरत पर भी जोर डाला था ताकि वे स्वतंत्र रूप से स्त्री सर्वहारा के हितों पर ध्यान दे सकें। जिस समय लेनिन अपने विचार रख रहे थे उस समय रूस में भी पार्टी और यूनियनों में महिलाओं की संस्था बहुत कम थी। साथ ही उनके विचारों का पार्टी के भीतर के शुद्धतावादी पुरुषों ने विरोध किया। ध्यान देने की बात है कि लेनिन ने यहाँ कामगार, किसान महिलाओं के साथ ही वे महिलाएँ जो संपत्ति रखती हैं यानी उच्चवर्ग की महिलाओं को भी शामिल किया। मेरी एलाइस की पुस्तक 'फेमीनिज्म एण्ड द मार्क्सिस्ट मूवमेंट' में लेनिन के कार्यों की सराहना की गई है। उन्होंने कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में कामगार महिलाओं के जन आंदोलन को सक्रिय करने की जरूरत पर बल दिया। साथ ही सारी दुनिया में समाजवादी नारी आंदोलन को विकसित किया जाय इस हक में क्लारा जेटकिन के प्रस्ताव अंतराष्ट्रीय कांग्रेस को बुलाने के प्रस्ताव को भी समर्थन दिया। तीसरे कांग्रेस में महिलाओं के विषय में एक प्रस्ताव, पास किया गया- 'महिलाओं के बीच प्रचार कार्य की थीसिस' जिसमें कहा गया कि यदि कम्युनिस्ट क्रांति के पक्ष में महिलाओं को लामबंद नहीं कर पाते तो प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ उन्हें क्रांति के विरुद्ध संगठित करने

की कोशिश करेगी। यहाँ महिलाओं को इकट्ठा करने के कई प्रस्ताव भी पेश किए गए थे। मार्क्सवादी नारीवाद दृष्टिकोण को आगे बढ़ाने की जरूरत पर जोर देते हुए कोलोन्ताई ने कहा कि सिर्फ आर्थिक ढाँचा बदल जाने से सांस्कृतिक अधिकार में स्वतः कोई परिवर्तन नहीं आएगा।

इस प्रकार देखा जाय तो मार्क्सवाद के पास नारीवादी प्रश्नों को उठाने और क्रांति में सहयोग देने की पूरी विरासत मौजूद है। इसका सकारात्मक पक्ष था कि रूस में पृथक साम्यवादी सत्ता स्थापित होने पर लेनिन ने इन प्रश्नों को सुलझाने की पहल की, जो, पूर्व नारीवादियों ने उठाए थे जिन्हें मार्क्स का भी समर्थन प्राप्त था। यह सच है कि मार्क्सवादी विचारधारा के पास ही ऐसी अंतर्दृष्टि है जो स्त्री प्रश्नों पर सुनियोजित काम करने में सहयोगी होगी। क्योंकि स्त्री के उत्पीड़न का मामला इतना विसंगतियों से भरपूर है कि उसका उपाय सरल और तात्कालिक नहीं हो सकता। अन्य सामाजिक समस्याओं के साथ-साथ, विशेषकर, मजदूर, किसानों, दलितों, आदिवासियों के प्रश्नों के साथ-साथ वैचारिक प्रतिबद्धताओं के आइने में शनैः शनैः प्रश्नों से जूझने की आवश्यकता महसूस करता है। केवल मार्क्सवाद ही वह धरातल हो सकता है जो क्रांति (सामाजिक एवं ऐतिहासिक) के बीज को पनपने का अनुकूल माहौल बनाता है। यह मानव इतिहास और समाज का व्यापक विश्लेषण करने वाली विचारधारा है। लेकिन जैसा कि पूरे विश्लेषण में जरूरत महसूस की गई कि आज के मार्क्सवाद के भीतर वह माहौल बनाने की आवश्यकता है जहाँ, क्रांति के बीज फलफूल सके। पुनर्विचार की आवश्यकता है यहाँ ताकि संगठन शक्तियाँ और सुदृढ़ हों।

संपर्क :

509, जीवन विहार, पी एंड डी चौराहे के पास, भोपाल

मो. 9713035330

सफलता और सार्थकता के द्वंद्व में समरसीभूत अभिनव बाणभट्ट की 'सुचरिता'

डॉ. मीना कुमारी

हिंदी विभाग, का. हि. वि.वि.

भारतीय जन-जीवन पर गहरी पकड़, सामाजिक सरोकार और प्रतिबद्धता, स्त्रियों की आकांक्षाओं, उनकी समस्याओं एवं स्वातंत्र्य-कामना का समरसीभूत चिंतन तथा देश के इतिहास के विशिष्ट कालखण्डों की सशक्त पुनर्रचना आचार्य द्विवेदी को अद्वितीय एवं अपूर्व उपन्यासकार बनाती है। उनके उपन्यास विशद् सांस्कृतिक चेतना के जीवन्त दस्तावेज़ हैं जिसमें सांस्कृतिक भव्यता, आध्यात्मिक दिव्यता एवं शिवता के वितान में समाज के तिरस्कृत एवं उपेक्षित वर्गों की अंगारी पीड़ा एवं संघर्ष के स्फुलिंग धधकते हैं। द्विवेदी जी अपने संस्कार एवं चिंतन के बल पर यह देख पाते हैं कि सांस्कृतिक-धार्मिक रूढ़ियों और कर्मकांड की भव्योदात्त अट्टालिकाओं ने स्त्री-अस्मिता एवं स्त्री-स्वातंत्र्य के प्रकाश को तमिस्रा में बदलने का भयंकर षड्यंत्र किया है। वे स्त्री-जीवन के अन्तर्द्वन्द्व, मनोव्यथा, खीझ, छटपटाहट, भावुकता सभी को स्त्री-मन के गहन विवर में जाकर पकड़ते हैं। आधुनिक जीवन की समस्याओं को परखकर उसके उद्घाटन के लिए उन्होंने अपने उपन्यासों में तद्युगीन समय-समाज की ऐसी स्त्रियों को अपने कथानक का केन्द्रीय विषय बनाया है जो स्वभाव एवं प्रकृति से स्वाभिमानी हैं, अपने अस्तित्व के लिए जागरुक तथा स्वतंत्रता ही पक्षधर हैं। जीवन के प्रति सार्थक दृष्टि, जनता और समाज के हितों के प्रति प्रतिबद्धता, नारी के प्रति गहन संवेदनशीलता, सामाजिक-राजनीतिक विषमताओं से जूझने का जज़्बा जहाँ उनके उपन्यासों की खूबियों को प्रत्यक्षीकृत करता है, वहीं भाव और भाषा का सहमेल युगीन जटिलताओं को पूर्णरूपेण उजागर करने में भी सर्वथा समर्थ सिद्ध हुआ है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के उपन्यास 'बाणभट्ट की आत्मकथा' की प्रमुख स्त्री-पात्र 'भट्टिनी', 'निपुणिका', 'महामाया' और 'सुचरिता' यद्यपि काल्पनिक पात्र हैं किंतु आचार्य द्विवेदी ने अपनी मेधा एवं कल्पना के अभूतपूर्व सामंजस्य से प्रामाणिक ऐतिहासिक वातावरण निर्मित करते हुए पितृसत्तात्मक समाज में उनकी भावसत्ता को पाठक के हृदय पर समासीन कर दिया है। द्विवेदी जी ने इस उपन्यास में हर्षकालीन संस्कृति, समाज, कला और दर्शन के चतुष्पदीय वितान पर हाशिए की स्त्री की अविस्मरणीय संघर्ष-गाथा को अभिव्यक्ति प्रदान की है।

हर्षकालीन समाज संक्रमणकालीन समाज था जहाँ कई स्थानिकाएँ, कई कालखंड, कई धर्मसाधनाएँ, सामाजिक स्तरभेद के कई आयाम एक साथ सांस ले रहे थे। 'बाणभट्ट की

आत्मकथा' में भिन्न सम्प्रदायों एवं वर्गों का प्रतिनिधित्व करने वाली कई असाधारण महिलाएँ साधारण नारी के विग्रह में अपने संश्लिष्ट मनो-सामाजिक यथार्थ से जिस जीवन-सत्य का अवगाहन और सामंती समाज की प्रवृत्तियों का साक्षात्कार करा रही थीं, द्वंद्वपूर्ण जीवन-यात्रा में मनोस्तंभ बने साहस एवं स्वाभिमान की उसी कथा को उपन्यासकार ने विभिन्न घटनाक्रमों एवं सामाजिक विविधताओं के प्रतिदर्श पर उद्घाटित किया है। द्विवेदी जी ने नारी-जीवन की विडम्बनाओं एवं प्रतारणाओं के स्फीत प्रसार को दर्शाने के उद्देश्य से विविध वर्गों, जातियों एवं धर्मों का प्रतिनिधित्व करने वाली नारियों का चयन किया है जिससे उपन्यास में निहित नारी-समस्या की समस्या का परास (रेंज) विस्तृत हुआ है। उन्होंने सभी वर्गों की महिलाओं के घुटन, कष्ट, अभाव, संघर्ष के विविध रूपों को सहृदयतापूर्वक समझने की पहल की है ताकि समाज में व्याप्त शोषण एवं असमानता की गहरी खाई को सहानुभूति एवं समानुभूति की उर्वर मिट्टी से पाटा जाए ताकि समानता और मनुष्यता की कोमल कोपलें वहाँ पुनर्प्रस्फुटित हो सके।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी नारी के सम्पूर्ण अंतरंग एवं बहिरंग के अद्भुत चितरे हैं। 'बाणभट्ट' की आत्मकथा में उन्होंने साधारण प्रतीत होती स्त्रियों के माध्यम से ऐसे गंभीर प्रश्नों को हवा दी है जो सीधे-सीधे धर्माधारित आर्ष-ग्रंथों को चुनौती देते हैं। सामंतवाद एवं बाजारवाद के कारण स्त्री को पण्य एवं भोग की वस्तु में परिणत कर देने की साजिश ही स्त्रियों की समस्त समस्याओं की जड़ है। उसके दैहिक सौन्दर्य को पितृसत्तात्मक षड्यंत्रों द्वारा एक निश्चित परिधि में बाँधकर उसकी शुचिता और मर्यादा का विश्लेषण और बहुधा आक्रमण ही मानो उन दुःखों का मूल कारण है। इसीलिए बाण के व्याज से द्विवेदी जी स्त्री-देह को हर हाल में पावन मानते हैं, उसे देवमंदिर के समान पवित्र बताते हैं। 'बाणभट्ट' जो नारी सौंदर्य को संसार की सर्वाधिक प्रभावोत्पादनी शक्ति मानता है, पर युग स्थिति ऐसी है कि एक ओर तो वैराग्य के दंभ (विरतिव्रज आदि) में उसे ठोकर मार दी गई है, दूसरी ओर संपत्ति व प्रभुता के मद में (सामंत वर्ग द्वारा) उसे बलपूर्वक घर्षित किया है। 'वैराग्य' हो या 'अंधभोग' दोनों दृष्टियाँ इस

संसार को नश्वर मानने से उपजती हैं।" द्विवेदी जी सनातन धर्म के साथ बौद्धधर्म में निहित 'वैराग्य' की उपयोगिता पर विचार करने के लिए भी संभवतः इस प्रसंग को उपन्यास का विषय बनाते हैं। वे इस प्रश्न को उठाते तो हैं काम-दहन की घटना को निमित्त बनाकर, किन्तु, प्रकारान्तर से वे बौद्धों के तत्रभवान् गौतम बुद्ध के गृह-त्याग में एक स्त्री की मर्मवेदना को पढ़ने का प्रयास करते हैं। वे सवाल करते हैं कि एक गृहस्थ द्वारा अपने भरे-पूरे परिवार को रात के एकांत में अपने जीवन से निष्कासित कर, सांसारिकता से निर्वासित होने का एकतरफा फैसला करना कहाँ तक उचित था? क्या बड़े सत्त्यों के लिए छोटे सत्य की बलि देना अपराध नहीं है? यह प्रश्न सदैव से सबके मन को उद्वेलित करता आया है। इसलिए महामाया के कथन "नारी-हीन तपस्या संसार की भद्दी भूल है। यह धर्म-कर्म का विशाल आयोजन, सैन्य-संगठन और राज्य-व्यवस्था सब कुछ फेन-बुदबुद की भांति विलुप्त हो जाएँगी क्योंकि नारी का इसमें सहयोग नहीं है।" एवं "धर्म-कर्म, भक्ति-ज्ञान, शांति-सौमनस्य कुछ भी नारी का संस्पर्श पाए बिना मनोहर नहीं हो सकते।" धर्म-कर्म से नारी को षड्यंत्रकारी ढंग से निष्कासित करने के दुष्परिणाम की ओर इंगित करते हैं। इन समस्त धार्मिक एवं सांसारिक आयोजन-नियोजनों के पार्श्व में शिव एवं शक्ति के सौमनस्यपूर्ण साहचर्य ही निहित हैं। ऐसे में इनमें शक्ति-तत्त्व को हीन दिखाकर शिव की एकांतिक तपस्या से किसी का कैसे भला हो सकता है, वह विमर्श का विषय है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' की स्त्री-पात्र उपेक्षा एवं प्रताड़ना में भी अपने जीवन को सार्थकता देने वाले तत्त्व के रूप में 'प्रेम' को अन्वेष्टित एवं उपलब्ध करने-कराने का प्रयास करती है। इन पात्रों में से एक (निपुणिका) के लिए अपने को निःशेष भाव से दे देने में ही प्रेम की सफलता है तो दूसरी पात्र (महामाया) पुरुष को अपने पाश से मुक्त करने में ही अपनी सार्थकता का दर्शन करती है। कई बार सफलता और सार्थकता का संश्लिष्ट प्रतीक बनकर एक अन्य पात्र 'सुचरिता' जीवन को सफल बनाने के लिए कठिन उद्यम करती है और अपने विरागी पति (विरतिव्रज) को गृहस्थ आश्रम में लौट आने के लिए बाध्य कर देती है। किन्तु, विडम्बना यह भी

है कि उपन्यास में आदर्श स्त्री के निमित्त गढ़े गये सभी सूत्रवाक्य, आप्तवचन एवं घटनाचक्रों का समावेश स्त्री को सशक्त बनाने का प्रयास नहीं करते बल्कि, विकल्पों के अभाव में उन स्त्रियों की परिस्थिति के अनुरूप उनके सूने और छले हृदय को सांत्वना देने के लिए छद्म प्रतीक गढ़ते हैं जिनको जीने और अपने जीवन को आदर्श बनाने के लिए वह पुरुषों को अपेक्षित स्वतंत्रता प्रदान करती रहे।

अघोरभैरव का कथन उपन्यास का सबसे क्रांतिकारी सूक्तवाक्य है: “सत्य के लिए किसी से न डरना, गुरु से भी नहीं, मंत्र से भी नहीं, लोक से भी नहीं, वेद से भी नहीं।... देख रे, तेरे शास्त्र तुझे धोखा देते हैं। जो तेरे भीतर का सत्य है, उसे दबाने के लिए कहते हैं, जो तेरे भीतर मोहन है उसे भुलाने के लिए कहते हैं, तू जिसे पूजता है उसे छोड़ने के लिए कहते हैं।”

वह सुचरिता एवं विरतिवज्र के जीवन-क्रम पर सद्यःफलित होते दिखाई देता है। मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियों को दबाने के विरुद्ध सुचरिता प्रश्न करती है। वह जीवन के लघु उपलब्धियों और सहज यथार्थ को भोगना चाहती है। वह वैराग्य के विरुद्ध प्रश्न करती है। वह उस आध्यात्मिक षड्यंत्र को समझ पाती है जो व्यक्ति के भीतरी सत्य को दबाने के लिए कहता है, व्यक्ति के भीतर जो मोहन-भाव है उसे भुलाने के लिए कहता है, मनुष्य के रूप में जिसे देवता की तरह पूजने की इच्छा होती है उसे छोड़ने के लिए कहता है। वह अपने जीवन के सत्य को अपना देवता मान लेती है इसलिए उसकी पूजित मूर्ति को देखकर बाणभट्ट विस्मित होता है। सुचरिता वासुदेव की जिस मूर्ति की आराधना करती थी, वह वैष्णव भक्ति का विधान था। विष्णु का वह त्रिभंगी रूप शृंगार-रस का व्यंजक था। विशिष्ट भंगिमाओं में ढली इस मूर्ति के भीतर काम गायत्री मंत्र उत्कीर्णित था। वह मूर्ति भक्ति एवं काम का अद्भुत मिश्रण थी। ऐसी देवता की आराध्या का पति विरागी है और वही उसके समस्त दुःखों का कारण है। वैराग्य का जो अनिवार्य तत्त्व है वह है अहमन्यता। अहंकार ही वैराग्य को कठोर और क्लिष्ट बनाता है। वह इस भुलावे में अस्तित्व ग्रहण करता है कि संसार की सबसे प्रभावोत्पादिनी एवं आह्लादकारी शक्ति भी उसके चित्त में

विकार नहीं उत्पन्न कर सकती। क्षण भर के लिए काम अथवा स्नेहजनित विक्षेप उत्पन्न हो भी जाए तो यह वैराग्य-भाव वीतरागी को वह शक्ति और सत्ता दे देता है जिससे कोपानल में स्वयं को भस्मीभूत करने के स्थान पर सौन्दर्यमयी सत्ता को दंड देने का अधिकारी हो जाता है। अहंकार एवं श्रेष्ठता भाव का संश्लिष्ट संश्लेष यह वैराग्य स्त्री के मातृत्व सुख की संभावना को भी जला देता है जो वास्तविक अर्थों में उसके अस्तित्व को सार्थकता प्रदान करता है। जीवन के गंभीर सत्य से मुँह फेरकर अपनी इयत्ता की तलाश में तरह-तरह के साधना-मार्गों पर सत्य का संधान करना अपने वास्तविक सत्य का तिरस्कार करने के समान है। इसलिए सुचरिता कहती है, “मानव देह केवल दंड भोगने के लिए नहीं बना है, आर्य! वह विधाता की सर्वोत्तम सृष्टि है। यह नारायण का पवित्र मंदिर है। ...मैं जिसे अपने जीवन का सबसे बड़ा कलुष समझती थी, वही मेरा सबसे बड़ा सत्य है। क्यों नहीं मनुष्य अपने सत्य को अपना देवता समझ लेता, आर्य?” स्त्री-पात्रों के संवादों के द्वारा बार-बार स्त्री-देह संबंधी विमर्श को केन्द्र में लाते हैं और इस बात पर विशेष बल देते हैं कि जो प्रत्यक्ष है वही जीवन सत्य है। वही उपलब्ध जीवन सत्य उस व्यक्ति का देवता है। अलौकिक एवं आभासयीय सत्य की तलाश में लौकिक सत्य की अवहेलना जीवन का सबसे बड़ा पाप है। पाप-पुण्य की समस्त व्याख्याएँ स्त्री-यौनिकता के आसपास ही चक्कर काटती हैं। यौनशुचिता जनित मिथ्याभिमान के विरुद्ध मोर्चा खोलना अथवा स्वेच्छा से प्रेम करने के अधिकार की माँग सदैव से पितृसत्तात्मक समाज के अहंकार को ठेस पहुँचाने वाला रही है। पूरी सामाजिक एवं राजनीतिक व्यवस्था ऐसी स्त्रियों के मान-मर्दन के लिए एकजुट हो जाती है जो इन गलित परम्पराओं और रूढ़ियों के खिलाफ खड़गहस्त होती हैं। ऐसी स्त्रियों पर जो पहला हमला होता है वह है उसके शरीर पर बलात् अधिकार का दुस्साहस, उस पर चारित्रिक लांछन आरोपित करना अथवा षड्यंत्रों द्वारा सामाजिक बहिष्कार करना। वर्तमान समय में समाज में भंवरी देवी और मुख्तारी माई के उदाहरण इन कोशिशों के फलीभूत होने का प्रमाण देते हैं। उपन्यास में भी इस मनोवृत्ति की शिकार भट्टिनी, महामाया, निपुणिका और

सुचरिता है। इनके विरुद्ध शासनतंत्र जिस प्रकार का रवैया प्रदर्शित करता है, वह इसी सामंती मनोवृत्ति का द्योतक है। प्रेम एवं काम के दुर्निवार आकर्षण से मनुष्यमात्र का बचना असंभव है और वैराग्य के द्वारा बलात् इसी सहज देह-धर्म पर अंकुश लगाना अधर्म जैसा है। नारी जीवन के सार्थकता के संबंध में निउनिया के जिस प्रश्न का उत्तर बाणभट्ट अघोरभैरव के माध्यम से देता है, वह मानव-मात्र का सत्य है। सुचरिता इसी सत्य में अपने जीवन की सार्थकता ढूँढ़ती है। वह अपनी प्रवृत्तियों को दबाती नहीं है इसलिए कामजनित प्रेम के प्रति सहज आकर्षण को परपुरुष के समक्ष स्वीकार करती है। न वह उससे दबती है तभी गृहस्थाश्रम में आने के बाद भी दृढ़ता से यह घोषणा भी कर पाती है कि “यह अत्यंत मिथ्या कथन है कि आर्य विरतिवज्र गृहस्थ हो गए हैं... दुनिया इसे जो समझे, परंतु वे पहले जो थे वही अब भी हैं। गुरु के निर्देश से उन्होंने साधना का मार्ग बदल लिया है। अब वे भी धर्म के श्रृंगार हैं, जैसे पहले थे।” सुचरिता इस कथन का साक्षात्कार कर चुकी है कि प्रत्येक व्यक्ति का देवता अलग है जिसका परिचय उसी की प्रवृत्तियाँ देती हैं। यही कारण है कि एक व्यक्ति की प्रवृत्ति दूसरे से भिन्न होती है, एक व्यक्ति का सत्य दूसरे का असत्य प्रतीत होता है। प्रवृत्तियाँ ही समय, समाज, मनुष्य और राजनीति को तरह-तरह के घटनाचक्रों में फँसाकर व्यक्ति की भूमिका को निर्देशित करती हैं। जीवन-धर्म में अनवरत प्रयोगशीलता, साधना, तप, वैराग्य, धर्माचार, सांसारिक बाह्याचार सभी व्यक्ति के प्रवृत्तियों को माँजने-चमकाने का कार्य करते हैं। आध्यात्मिक अथवा एकांतिक साधना व्यक्ति के भीतर की आग को साधना की शीतल जल से बुझाकर उसे राख और धुएँ में रूपांतरित तो कर सकती है किन्तु राख के नीचे सुलगते अंगारों को वह शीतलता नहीं प्रदान कर पाती है। यही सुचरिता के अपने जीवन का सत्य है। छुटपन में ही मोह-माया का परित्याग कर वैरागी हो गया उसका पति विरतिवज्र कालांतर में जब अपनी माता का साक्षात्कार करता है और उसकी स्नेहापूरित वाणी के वशीभूत हो पुनः गृहस्थाश्रम में लौट आने को संकल्पबद्ध होता है, वह इसी प्रवृत्ति का परिणाम है। इतने सालों की साधना पर माता का स्नेह और प्रिया

का प्रेम विजय पाता है। महामाया जो कोलाचार्य अघोरभैरव की साधना-संगिनी रही है, बाणभट्ट जिनके रूप में आनंदभैरवी का साक्षात्कार करता है, ऐसी महीयसी, साधनालीन साध्वी तत्रभवती महामाया का भी एकांतिक सत्य यही है कि “दीर्घ साधना भी आर्या महामाया के भीतर के कल्मष को नहीं जला सकी।” निर्वीर्य राजतंत्र और उच्छृंखल सामंतीय व्यवस्था द्वारा अपने ऊपर अत्याचार का प्रतिशोध लेना उनके अपने जीवन का सत्य है जिसे लंबी वाममार्गी साधना भी बदल नहीं सकी। सुचरिता अपने अनुभव से जिस सत्य का अवगाहन करती है वह है, अपने जीवन के कल्मष को सहजता से स्वीकार करना। वह कहती है “कल्मष भी मनुष्य का अपना सत्य है। उसे स्वीकार करके ही वह सार्थक हो सकता है। दबाने से वह मनुष्य को नष्ट कर देता है। समस्त गुण और अवगुण निर्विकार चित्त से नारायण को नहीं सौंप दिए जाते, तब तक वे भार मात्र हैं।” इसलिए वह पुरुष (पति) के प्रति अपने सहज आकर्षण को पाप नहीं समझती है। सुचरिता का अपने तरुण पति के प्रति यह मोह नारी-भावना के उस रूप को भी अभिव्यक्त करता है जो सहज है, संस्कारजनित है किंतु उसमें अपने लगावों एवं कमजोरियों को स्वीकार करने का अपूर्व साहस भी है। वह अपने जीवन के पूर्वार्द्ध-भाग के बारे में समाज में फैले प्रमाद का खंडन नहीं करती है। काम मनुष्यता की परंपरा को जीवित रखने का एकमात्र नियामक तत्त्व है, सौन्दर्य फलता की संभावनाओं को फलीभूत करनेवाला एकमात्र जीवन-स्पंद। वही सृष्टि का मूल है, जिजीविषा का उत्स और कामना का कंद। मानव जीवन के सबसे सुखमय क्षणों का एकमात्र साक्षी और कामना के केन्द्र में किसी को स्थापित करने वाला एकमात्र अधिकृत पुजारी। यह उस विराट आकर्षण का उद्बोधक है जिसके “प्रचंड दुर्वार शक्ति के इंगितमात्र से लज्जा का आजन्म ललितबंधन शिथिल पड़ जाता है।” सुचरिता जानना चाहती है कि मन के सहज आकर्षण के वशीभूत हो स्त्रियों का किसी को समर्पित कर देना पाप है? “क्या वैराग्य इतनी बड़ी चीज है कि प्रेम के देवता को उसकी नयनाग्नि में भस्म कराके कवि गौरव का अनुभव करें?” अगर शिव के मन में पार्वती के अपूर्व सौंदर्य को देखकर कामजनित विक्षेप

उत्पन्न होता है तो उसका दंड स्वयं को न देकर मदन को क्यों देते हैं? क्या इसलिए कि काम दुर्वार है, देवता नहीं इसलिए छल-छद्म से दूर वह सब पर अपना समान प्रभाव डालता है या इसलिए कि प्रेम की कामना एक स्त्री के मन में उत्पन्न हुई। सुचरिता का प्रश्न कि “पार्वती ने शिव की क्या एकमात्र देवता के रूप में आराधना नहीं की थी? क्या उनका व्रत जड़ शरीर-धर्मों का पाप आकर्षण-मात्र था? ब्रज-सुंदरियों ने निखिलानंद-संदोह मुकुंद की विग्रहमाधुरी के प्रति जो आकर्षण दिखाया, वह क्या प्रेम नहीं था? फिर क्यों कहा गया है आर्य, कि ब्रज-सुंदरियों का प्रेम ही काम है और काम ही प्रेम है? क्या पार्वती की वह आसक्ति एक बाह्य जड़ धर्म थी?” यह सब स्त्रियों के प्रेम के प्रति शास्त्रों के दोष्य दृष्टिकोण को उद्घाटित करता है। बाणभट्ट एवं सुचरिता के संवाद में स्त्रियों के प्रेम एवं काम संबंधी समस्या का तर्कपूर्ण संश्लेषण हजारी प्रसाद द्विवेदी प्रस्तुत करते हैं। वे उन सभी मुद्दों एवं सवालों से टकराते हैं जिन्होंने उनके ब्राह्मणवादी संस्कारों से तर्क-वितर्क किया होगा। इसलिए “उनकी नारियाँ अपने विशिष्ट व्यक्तित्व और परिवेशगत सामंती समाज के मध्य विद्रोही स्वर के साथ प्रस्तुत होती हैं। संभवतः भारतीय परंपरा और संस्कृति के मध्य नारी-समाज की केवल देहाधारित भूमिका को पवित्र एवं पूज्य बनाने की निरंतर कामना द्विवेदी जी की रही है।” सुचरिता की सर्जना भी द्विवेदी जी की स्त्री-चिंतन विषयक साहित्य साधना का उत्तमांश है। सुचरिता अपने परित्यक्त अस्तित्व के अर्थ की तलाश में एक विराट सत्य से जुड़ने की कोशिश करती है, लेकिन उसके इस

सम्मेलन में संशय और प्रश्नाकुलता है, अपने प्रेम, पति और जीवन को लेकर एक पूर्वप्रदत्त आग्रह है जो व्याकुलता एवं विस्मय से पोषित है। वहाँ प्रश्न है, अधिप्राकृतिक सत्ता (शिव) के कोपाग्नि में मदन के अंत के कारण की जिज्ञासा है। वह बाण से जो प्रश्न करती है वह मात्र धार्मिक या आध्यात्मिक प्रश्न नहीं है बल्कि वह प्रश्न अन्ततः एक सत्ता की विराटता और शक्तिमत्ता के समक्ष दूसरे देवता के अस्तित्व को भस्मीभूत और निरर्थक करने की लौकिक वेदना में पर्यवसित हो जाता है।

द्विवेदी जी ‘बाणभट्ट की आत्मकथा’ में जिन अनुपम नायिकाओं से पाठकों की भेंट करवाते हैं, उनमें भट्टिनी को छोड़कर सभी मन के अन्तस्थ धरातल पर एकांतिकता की शिकार हैं किंतु बाह्य धरातल पर सभी आत्मविश्वास से लबालब हैं, स्वाभिमानी हैं। संस्कार, व्यवहार और साहस की इन प्रतिमूर्तियों ने अपने लिए नैतिकता के नियम स्वयं गढ़े हैं। वे जीवन के सर्वोच्च रचनात्मक सिद्धांतों को अपने व्यक्तित्व में समाहित कर सकी हैं। ये स्त्रियाँ पुरुष-सत्ता के आमने-सामने होकर और सहचर बनकर गंभीर विमर्शों में उसकी सत्ता को चुनौती देते हुए बहुआयामी, समग्र अथवा एकाग्र संवाद से जो गहरे संधान करती हैं, वहीं छन-छन कर इस उपन्यास में नवीन समाजशास्त्रीय नियमों को गढ़ने का काम करता है। महादेवी वर्मा जिस समुन्नत स्त्रीवाद की स्थापना ‘शृंखला की कड़ियाँ’ के माध्यम से कर रही थीं, उसी का अग्रिम विस्तार द्विवेदी जी अपने उपन्यासों में अंतर्भुक्त स्त्रीजनित समस्याओं के व्यावहारिक समाधान सुझा कर कर रहे थे।

संपर्क :

लेन नं. 1, वैष्णवी बिहार कॉलोनी, सुसुवाही
वाराणसी-221011, मो. 7376829398

तत्-त्वम्-अक्षि- “तत्त्वमक्षि”

अरूण अभिषेक

जीवन, अपने अद्भुत आकर्षण में इस जमीन पर सुन्दर छटा के साथ पसरा हुआ है, जो अपने प्राकृतिक सौन्दर्य में लहलहाते समझ-बूझ को एक व्यापक दिशा निर्देशन करता है। इस दिशा-लय को समझने की जो दृष्टि है, वह चर्चित लेखिका जया जादवानी का उपन्यास “तत्त्वमसि” का मूल तत्त्व है, जो जीवन को आधुनिक, वैज्ञानिक, दार्शनिक, आध्यात्मिक एवं मनोवैज्ञानिक संदर्भों में समझने की कला प्रस्तुत करता है। शब्द कोश में तत्त्वमसि का आशय है- पद (सं-तत्-त्वम्-असि) वेदान्त का एक प्रसिद्ध वाक्य, जिसका अर्थ है, तू वही अर्थात् ब्रह्मा है। उपन्यास की यह मूल और वैचारिक-चिन्ता, जीवन से लगाव और खोज में शुरू से अंत तक बांधे रखती है। अपने स्व को समझते हुए जिस सिद्धि का अनुभव होता है वह जीवन को उल्लासमय बना देता है- जो उपन्यास का अद्भुत आकर्षण है। उपन्यास का उस संदर्भ में विमर्श का सूत्र पाठकों को व्यक्त करता है- “उपनिषद् का ऋषि पिप्पलाद कहता है, यह प्राण, हमारे “अपने” भीतर से उत्पन्न है। हमारे “स्व” के भीतर से। हमारे “सेल्फ” से। वह “सेल्फ” जिसे जान लेने की आतुरता हमारी। इसीलिए यह “प्राण” ही वह सेतु बनता है, जिसे समझकर, जिसे रेगुलेट कर, जिसे पारकर हम “स्व” तक पहुँच सकेंगे।” पृ. संख्या 163। इस तरह वैचारिक गहरी पैठ के साथ हम उन तमाम अनुभवों से गुजरने का जो उपक्रम शास्त्र, विज्ञान, दर्शन, मनोविज्ञान है- वह आधुनिक संदर्भ में अंतर्बोध को भेदने की ऊर्जा देती है। खासकर जीवन और प्रेम के संबंध में जो भी सामान्य स्थापित ज्ञान और चिंतन है- उन्हें उपन्यास, चुनौती देता है। यहाँ प्रेम का गणित अपनी खोज से ऊपर उठकर जीवन दर्शन में प्रविष्ट होता है और उसे वर्गाकार सा घेर लेता है। एक तरह से यह उपन्यास, एक प्रश्न उपनिषद् है। लेखक स्वयं से और पाठक को साथ लिए प्रश्न दर प्रश्न पूछती चली जाती है जैसे समय, अवकाश, जीवन और आयाम, संवेदना और प्रतीति, प्रेम और मृत्यु इत्यादि अनेक विषय। इन दृष्टियों में पुस्तक का आध्यात्मिक एवं बौद्धिक प्रभाव जीवंत हो उठता है और पाठकों को उन अनुभवों से गुजरना और भी सुखद और आकर्षक लगने लगता है। जीवन-सरोकार, व्यापक और अर्थपूर्ण लगने लगता है। जीवन के प्रति दृष्टि समष्टिगत हो जाती है। इस आशय से पुस्तक पाठक को विनम्र और विवेकशील बना देती है। तब लगता है कि ऐसी ऊर्जात्मक पुस्तक, जीवन को समझने और उसकी जटिलताओं या प्रतिकूलताओं को झेलने की पूरी बौद्धिक ताकत देती है। यह कितना सुखद एहसास है कि छपे शब्दों से पाठक का संसार बदल जाता है। पूंजीवादी व्यवस्था की प्रतिकूल स्थितियों में संसार के प्रति हमारे (पाठक) अर्थ ही बदल जाते हैं। तत्क्षण वह किताब चलता-फिरता अंतरंग मित्र हो जाती है। संवाद करती, निष्कर्ष निकालती, नया अर्थ और जीवन को नये ढंग से महसूसने की सारी राहें खोल देती है।

उपन्यास तीन खंडों में जीवन की पूरी प्रकृति (स्वभाव) को दर्शाता है। भाग एक “पहाड़” का रूपक तैयार करता है, जो जिंदगी की शुरुआत, चढ़ाई से, संघर्ष से ली जाती है। दूसरा भाग “जंगल” है, जहाँ जीवन का भटकाव बना रहता है। विवेक के माध्यम से ही भटकाव रूपी जंगल से होते हुए, उपन्यास नायिका मानसी अपने स्व की यात्रा में चुस्त-दुरुस्त बने रहने का उद्देश्य आंक लेती है। एक जंगलनुमा भटकाव से गुजरते हुए जीवन की सार्थकता की ओर बढ़ती है। जीवन के प्रति लक्ष्य तय जान पड़ती है। उपन्यास का तीसरा भाग

“नदी” है। जीवन सुख का प्रवाह है। जीवन में स्व को एवं उसके उद्देश्य को पहचाना है। यह वह क्षण होता है जब हम जीवन रूपी नदी को उन प्रभावों में आनंदलोक की अनुभूति से गुजारते हैं। जीवन अद्भुत प्रतीत होता है। मानव अभिभूत हो जाता है। जीवन के ये महत्वपूर्ण तीन चरण और दर्शन के साथ “तत्त्वमसि” अपनी यात्रा प्रारंभ करता है। “तत्त्वमसि”, वेदान्त का प्रसिद्ध वाक्य है। यह अनुसंधान ही उपन्यास का केन्द्रीय आकर्षण है, जिसमें पाठक बंधे चले जाते हैं। यह उपन्यास जीवन को करीब से देखने की दृष्टि है तो दूसरी ओर उसे समझने की परिपक्वता भी है। निश्चय ही लेखक के पास एक ऐसा संसार है जो दूसरे लेखकों को सहज उपलब्ध नहीं है। उपन्यास में जीवन के प्रति अनुभव-संसार अद्भुत है।

उपन्यास की नायिका मानसी बचपन से होते हुए यौवन की ओर बढ़ी और जिंदगी विक्रम से बंध गई। लेकिन हर इंसान के अंदर अपना निजी कोण होता है, जिसके अनुभवों में और उन सुखों में रहने की अपेक्षा गहन प्रबलता में रहती है। यही तो है जीवन का अस्तित्व बोध। और जैसे ही व्यक्तित्व से जुटा यह निजी कोण का प्रतिबिंब सामने दीखता है, वह उसमें तत्क्षण अपने अस्तित्व के साथ जीवन लय में समा जाना चाहता है। मानसी का यह निजी कोण प्रतिबिंब सिद्ध पुरुष-सिद्धार्थ में दिखाई पड़ता है। मानसी को सिद्धार्थ ‘तू वही’ का बोध होता है। साथ ही उतनी ही प्रबलता से सिद्धार्थ भी मानसी से अंतरंग होता चला जाता गया। दोनों ही यह मुलकात नैनीताल में होती है। प्रकृति के अनुपम परिवेश में दोनों का प्रेम अध्यात्म और दर्शन-सूत्र में प्रस्थान करता है। उनके प्रेम का एक उद्देश्य है, पूरी दार्शनिकता के साथ मनोवैज्ञानिक एवं उसकी बौद्धिकता में जीवनानुभूति का अवलोकन करना। उपनिषद्-ऋषियों का कथन है कि आत्मा को जानो, सुनो, उसका मनन और निद्धिध्यासन करो। इस तरह इस उपन्यास में नायिका मानसी अपने भीतर पैठ, आत्म-साक्षात्कार का पाठ एवं उन आध्यात्मिक अनुभवों से गुजरने लगी, जो अद्भुत सुख देता है। यह आकर्षण उसे जीवन के प्रति प्रखर और संवेदनशील बनाता है, सृजनात्मक अस्तित्व से जोड़ता है। इसके साथ ही अपने को समझने और अपने

अंदर की संभावनाएँ पहचानने की दृष्टि की ओर अग्रसर करता है। यहाँ देह के आकर्षण से भी ज्यादा महत्वपूर्ण है अपने को जानने की आध्यात्मिक एवं वैज्ञानिक मनःस्थिति। ऐसे अद्भुत प्रेम-प्रयोग में मानसी की अभिव्यक्ति है कि “जब से तुमसे मिली हूँ, बाहर की ओर यात्रा कर रही हूँ सिद्धार्थ! तुम्हारी यात्रा और प्रेम में हूँ मैं। और ज्ञान में भी। प्रेम और ज्ञान में विरोध नहीं है सिद्धार्थ!” सिद्धार्थ, मानसी की इस बौद्धिक परिपक्वता का कायल है। इस प्रेम-पूर्ण बौद्धिक संवाद एवं मानसी के जीवन-दृष्टि को सिद्धार्थ हमेशा विस्तार करता है। सिद्धार्थ अपने मनोभाव को व्यक्त करता है- “किसने कहा मानसी? कहाँ है विरोध? ज्ञान ही है, जो प्रेम को अर्थ प्रदान करता है।” पृ. संख्या-193। सिद्धार्थ के अनुभवों के इस विस्तार से मानसी उल्लसित होकर कहती है- “प्रेम ही है जो ज्ञान को सार्थकता देता है।” पृ. संख्या 193। वे दोनों यहाँ प्रेम के अतिरेक भावावेश में नहीं हैं, बल्कि मस्तिष्क-कोशिकाओं को पूर्णतया जानकर और समझकर बौद्धिक-कोश का प्रयोग करते हैं, वे टेलीपैथी, हेल्थिनेशंस, क्लेयरवायेन्स, एक्सोरसिज्म, स्टिगमाटा जैसे आयामों की गहरी बौद्धिक अभिव्यक्ति दर्ज करते हैं। वे इस आशय में गहरे, उतर जाते हैं। इसके साथ ही मानसिक संदेश की प्रक्रिया में युग्म भी हो जाते हैं। प्रेम की गहरी अनुभूति इस युग्म-लय को गति देती है। उद्देश्य प्राप्ति की ओर ले जाती है। यकीनन वे जीवन के शाश्वत उद्देश्य की ओर बढ़ते हैं, मानसिक संदेश को ये मंत्र से सिद्ध करते हैं, मेडिटेशन की अहमियत समझते हैं और लग जाते हैं मंत्र-साधना में। इस साधना के क्रम में कुंडलिनी-जागरण की अहमियत को भी समझते हैं। वे समझते हैं कि- “प्रयोगशाला हमारी देह है.... और रसायन हमारा मन है....।” पृ. संख्या 250। वे दोनों अपने अनुभवों को समझते हैं और बौद्धिक विमर्श करते हैं कि यह इतना आसान नहीं है लेकिन इसे समझा जा सकता है। इस गूढ़ार्थ मन के अन्तः गुणसूत्र तक जाना होगा। इसके लिए योग और मंत्र की सक्रियता बनाये रखना होगा। उन दोनों के बौद्धिक-विमर्श का गूढ़ार्थ आशय भी सामने आता है- “कुंडलिनी जागरण अर्थात् मूलाधार से सहस्रार तक की यात्रा को निकटतम शब्दों में बांधा जा

सके तो विद्युत-ऊर्जा कह सकेंगे हम।” पृ संख्या 251। क्योंकि ऊर्ध्वगामी विद्युत ऊर्जा... मानव शरीर की सबसे कीमती ऊर्जा है। मानसी, कुंडलिनी-जागरण की प्रविधि को उत्साह के साथ बहुत ही गंभीरता से लेती है। वह अपने ब्रह्म, सिद्धार्थ के प्रति मुग्ध और कृतज्ञ हो जाती है। फलस्वरूप मानसी हर्षित और उल्लसित होकर व्यक्त करती है अपने ब्रह्म-नायक सिद्धार्थ से- “जो कुछ निगलेकटेड थे मेरे जेहन में, मुखर कर दिया तुमने। आर्थोडॉक्स और ऑब्सेलेट माइथोट्रेशीन..... मानकर छोड़ बैठी थी जिसे... कितना अर्थ भर दिया है तुमने?” पृ. संख्या. 252। इससे मनुष्य का ऊर्जा स्रोत फूट पड़ता है। कुछ अद्वितीय कर सकने को प्रेरित होता है मनुष्य। इस जगह उपन्यास का अद्भुत चरित्र प्रेम और भोग के माध्यम से, प्रेम के सार्थक उद्देश्य को जीवन के सार्थक सरोकार से जोड़ कर देखता है। इस गुण केन्द्र में आकर मनुष्य के अंदर छिपी रचनात्मक स्थिति प्रकट होती है। प्रकाशनाएँ महत्वपूर्ण हो उठते हैं। ये तत्त्व वैचारिक केन्द्र का विस्तार करते हैं। वे कहीं नहीं ठहरते हैं। वे द्रष्टा के अनुभवों से गुजरना चाहते हैं। द्रष्टा होने की गुणवत्ता को वे समझने लगते हैं। द्रष्टा की गुणवत्ता को जागृत कैसे किया जाय, उपन्यास के चरित्र इस ओर भी अग्रसर होते हैं। उनके आपस में विमर्श से यह तथ्य स्पष्ट और प्रकट होता है। मानसी सोचती है- “मेडिटेशन, दीर्घकाल तक, निरंतरता में चलता रहे, तब फलित होता है, ट्रांस। फलित होती है समाधि।और इस समाधिस्थ स्थिति में एक तरफ तुम हो.... “धारण कर्ता” और दूसरी तरफ तुम्हारी ही धारणा अपने मूर्तरूप में, पूर्ण मुखर। सविकल्प, सविचार।” उपन्यास में पात्रों का यह चरित्र चौंकाता है। संभव है, यह सामान्य जिंदगी से उठकर, विशेष संकल्प को व्यक्त करती है। आध्यात्मिक अवधारणा और संकल्प का व्यापक परिचय है। जहाँ इबादत ही प्रेम है। प्रेम ही इबादत है। पृ. संख्या 254। नायक सिद्धार्थ पातंजलि -सूत्र को गहराई से आंकते हैं। वह मानसी को व्यक्त करते हैं- “द्रष्टा बनकर, न इति, न इति।..... और तभी पहुँच सकोगी वहाँ, जहाँ पर धर्म का उद्गम है। इस सृष्टि में धर्म एक ही है मानसी... और वह है, अपने आपको जान लेना।” पृ.

255। वे दोनों इस जगह अपने अनुभव से जुटते हैं कि अपने आपको जान लेना ही धर्म है। “धारयति इति धर्मः। तदादृष्टुः स्वरूपे अवस्थानम्।” इस तरह वे एक नया जन्म लेते हैं, मानो अनुभव से गुजर रहे हों। सूर्य की लाली, चन्द्रमा की रोशनी, बादलों की मनोरम आकृति, वर्षा की बूँदों में थिकरन का शाश्वत प्राकृतिक बोध जागृत हो उठता है। संवेदनाएँ इतनी तीव्र और ग्राह्य हो जाती हैं कि ईश्वर के तमाम प्रदत्त उपहारों में अपना अस्तित्व ढूँढ़ने लगते हैं। स्व की खोज तो यही है। यही तो स्व है। आपका अस्तित्व-बोध। मानसी की अन्तरात्मा में इस अस्तित्व-बोध को सिद्ध करता है सिद्धार्थ। उपन्यास इस वास्तविकता को अच्छी तरह समझता है कि “बुद्धिजीवी अपनी बुद्धि का प्रयोग केवल तर्क के लिए नहीं करते, अन्तर्दृष्टि के द्वारा सत्य के उद्घाटन के लिए करते हैं। नायिका आत्मिक अपेक्षा में अपने आपको नायक सिद्धार्थ के प्रति समर्पित करती है। समर्पण के स्पर्श से गुजरते हुए वह आत्मिक-सुख का अनुभव कर चुकी है। ऐसा अद्भुत स्पर्श जो देह से होते हुए अद्भुत लय में अपनी देह पर, फिर आत्मा में महसूस करती है। मानसी कहती है- “मैं उस रिद्धि को फैलते देखना चाहती हूँ... अपनी देह पर अपनी आत्मा पर।” पृ. संख्या. 269। और मानसी इस आत्मिक अनुभूति में रिद्धि हो जाती है। उपन्यास का चरित्रिक अनुभव यह रहा कि “विजय हमेशा उस प्रवृत्ति की होगी, जिसका साथ वह अतींद्रिय सत्ता देती हो?” इस तरह यह उपन्यास लौकिक और अलौकिक जीवनानुभवों की यात्रा है। जहाँ सामान्य सी जिंदगी खोजपूर्ण लगने लगती है। आकर्षक लगने लगती है।

इसके अतिरिक्त वे दोनों मूर्त स्थितियों में जीवन प्रकृति के स्वाभाविक स्थितियों से भी गुजरते हैं। कैरियर है। बाजार भी है। पूँजी भी। रिश्ते भी हैं। भावनाएँ, धर्म और अध्यात्म भी है। और द्रष्टा बनकर कुल मिलाकर उसे जस्टीफाई करने के उपादान भी हैं उनमें। मानो वे एक नया जन्म ले लिये हों। उन अनुभवों से गुजरना कितना सुखद है और उतना ही रचनात्मक मनोविज्ञान और ज्ञान को व्यक्त करना। उपन्यास का यह पाठ-बोध अपने जीवन को रचनात्मक और कलात्मक सौंदर्य में देखने की दृष्टि

और प्रेरणा देता है। उनके अंदर जीवन को देखने का सही नजरिया आ जाता है। पेड़ों पर बैठे पक्षियों का कलरव, पत्तियों का हिलना-डुलना, वर्षा की बूंदें, सुबह-शाम स्वच्छ हवा का बहना- ये सब जिंदगी के महान अवदान मिल जाते हैं। प्रकृति से महानतम क्षण को वे पल-पल जीने लगते हैं। इसे कहते हैं प्रकृति को प्रकृति से समझना। अनुभव के सुखों को बटोरना। जिंदगी को वास्तविक अर्थों में ढालना। इस तरह नायिका अपनी पूरी दार्शनिकता के साथ जीवन के प्रति व्यापक दृष्टि-बोध को उष्मा की नजरों से देखती है। मानसी इस जगह सिद्धार्थ को गहरे महसूसती है- “सिद्धार्थ, मैंने तुमसे विलीन होकर तुम्हीं में से नया जन्म लिया है। अगर मैं तुमसे इस तरह जन्म न लेती तो मैं तुम्हें कभी ठीक-ठाक न देख पाती। मैंने तुम्हारी आत्मा से जन्म लिया है, मैं तुम्हारी आत्मा हूँ....।” (पृ. 269)। है न यह अद्भुत एवं मुग्धकारी युग्म? प्रेम और प्रकृति का लय? मानसी उस रिश्ते को फैलती देखती है.... अपनी देह पर अपनी आत्मा पर। इस जगह उपन्यास, अध्यात्म, को मन में गहरे उतारता है। स्त्री-पुरुष के मध्य जो आकर्षण है, वह जीवन का अद्भुत आकर्षण है। सिद्धार्थ इसे जीवन के ठोस धरातल पर व्यक्त करता है- “मनु, सच तो यह है कि प्यार जरूरत नहीं होता, जीवन होता है।” अगर इसे गहरे अर्थों में समझें तो स्त्री-पुरुष के मध्य जो आकर्षण है, वह परमात्मा का है। उसका ही आकर्षण है। और अंततः वह परमात्मा से जुड़ने का मार्ग भी बनाता है। संबंध का यह आत्मबोध मानसी और सिद्धार्थ गहरे अर्थों में समझते हैं। उपन्यास का यह अंश ज्यादा मौजू है- “पुरुष का पुरुषत्व और स्त्री का स्त्रीत्व सृष्टि की आद्या सृजनात्मिका शक्ति है यह। “काम”...। यही जब ट्रांस माइग्रेट हो जाए... पुरुष का स्त्रीत्व है यह और स्त्री का पुरुषत्व... अर्द्धनारीश्वर। समग्र है यह। तभी है पूर्ण। अष्टदल कमल।” (पृ. 328)। वे दोनों इस आकर्षण को दिव्य बनाने की यात्रा में शामिल हैं। मानसी पति विक्रम को भी नहीं भूलती है। मानसी और विक्रम के सेतु-नायक सिद्धार्थ के माध्यम से पति विक्रम के साथ जीवन-यात्रा की ओर प्रस्थान करती है। और सिद्धार्थ से

विस्तार पाकर विक्रम के साथ, जीवन उल्लास के महत्त्व को गहरी अनुभूति से समझती है। यह सच उनके संवाद माध्यम से प्रस्फुटित भी होता है। विक्रम व्यक्त करता है- “मनु, तुम्हारे बिना जीने की कल्पना ही नहीं कर सकता।” (पृ. 272)। मानसी आश्चर्य हो विक्रम के सीने से अपना सिर टिकाते हुए अपनी आँखें बंद कर लेती है। विक्रम उस सच को मानसी के अंदर महसूस करता है। विक्रम, मानसी के भाव-विचार से चौंकता है, खीजता नहीं है। फलस्वरूप मानसी के अंदर के नये सच पर मुग्ध हो जाता है। परिचय के गहरे बोध में विक्रम सिद्धार्थ के अस्तित्व और उसके प्रभाव से भी मुग्ध है। विक्रम कहता है- “मुझे उससे (सिद्धार्थ) बात करते हुए, उसके साथ चलते हुए, उससे हाथ मिलाते हुए, कुछ ऐसी अजब सी अनुभूति हो रही थी।” (पृ. 217) जिसे विक्रम शब्दों में बयान नहीं कर सकता है। इस जगह भगवतीचरण वर्मा का उपन्यास “चित्रलेखा” याद हो आता है। उपन्यास का एक चरित्र महाप्रभु रत्नांबर की टिप्पणी है- “संसार में पाप कुछ भी नहीं है, वह केवल मनुष्य के दृष्टिकोण की विषमता का दूसरा नाम है।हम ना पाप करते हैं और न पुण्य करते हैं, हम केवल बात करते हैं जो हमें करना पड़ता है।” मसलन मानसी सामाजिक परंपरा का दबाव महसूस नहीं करती है। बल्कि वह अपनी मनःस्थिति के रचनात्मक सौंदर्य-बोध को गहराई से समझती है, और उनकी स्तरीय, साथ-साथ गुणात्मक उपलब्धता को स्थापित करती है। जीवन के लिए एक नये युग की स्थापना करती है। आम पाठक सोच सकते हैं कि मानसी और सिद्धार्थ उपन्यास में किसी दूसरे ग्रह से आये प्राणी हैं। लेकिन एक बात प्रत्यक्ष रूप से सामने आती है जो मानसी सिद्ध करती है, बिल्कुल जीसस क्राइस्ट के वचन में- “जिनके कान हों वो सुनें, जिनकी आँखें हों वो देखें।” (पृ. 275)। यही तो “तत्त्वमसि” पाठ का बोध है। तू वही है, ब्रह्म। जो आम आदमी के अंदर की ताकत को प्रस्फुटित कर, ऊर्जात्मक, क्षमतावान, ग्राह्यवान, अनुभूतिपूर्ण और तमाम मानवीय संवेदनशीलता को गढ़ता है। “तत्त्वमसि” इसी बोध को जाग्रत करता है। तत्-त्वम्-असि।

संपर्क : विवेकानंद कॉलोनी, पूर्णियाँ- 8547301, दूरभाष : 06454-228831

साहित्येतिहास-लेखन में स्त्री की भूमिका

शशि मुदीराज

सेवानिवृत्त प्रोफेसर, हिंदी विभाग

यूनिवर्सिटी ऑफ हैदराबाद

वर्षों पहले साहित्य के इतिहास लेखन के संदर्भ में रेने वेलेक ने सवाल उठाया था कि क्या ऐसा साहित्येतिहास लिखा जाना संभव है जो साहित्यिक भी हो और इतिहास भी ? पिछली शती के मध्य में उठाया गया यह सवाल अनेक रूपों, पक्षों और आयामों का संदर्भ लेकर आज भी हमारे सामने खड़ा है कि क्या ऐसा साहित्येतिहास लिखा जाना संभव है जो समग्र हो, सर्वसमावेशी हो, सभी वर्गों का प्रतिनिधि हो- याने पूर्णतः मानवीय हो। ऐसा साहित्येतिहास जिसमें केवल रचनाओं, प्रवृत्तियों और रचनाकारों के आविर्भाव और तिरोभाव का विवरण न हो बल्कि बनते बिगड़ते सामाजिक-आर्थिक सरोकारों के बीच उन अँधेरे अनछुए कोनों पर भी प्रकाश पड़े, कुछ उनकी भी बात हो जो आज तक साहित्य की महफिल में अनामंत्रित ही रहे, जो नाट्यगृह और मंच की प्रकाश-परिधि से बाहर ही छूटे यानी हाशिये के लोग और इतिहास में उनकी भूमिका।

बात कहाँ से शुरू की जाए... वहाँ से जहाँ से सदियों पहले से बात शुरू हो चुकी है लेकिन कई बिंदुओं पर अटकी पड़ी है, या आज से जहाँ बात आकर रुकी है... ? आज की याने वर्तमान की बात करने से पूर्व एक नजर बीते 'कल' पर डाल लेना जरूरी है ताकि आने वाले 'कल' की रूपरेखा तय की जा सके। बात स्त्री की, जो जाने कब से हाशिए पर खड़ी है... केन्द्र में रखे जाने की सारी ऐतिहासिक भ्रांतियों के बावजूद जिसका यथार्थ हाशिये का ही यथार्थ है और ऐसा ही बना रहेगा यदि उसे केन्द्रवर्ती बनाने की पुरजोर और ईमानदार कोशिश न की जाए।

साहित्य के इतिहास-लेखन के स्त्री-पक्ष को दो रूपों में देखा-समझा जाना जरूरी है। एक जहाँ स्त्री का विषय है, वस्तु है, परिगणित है, और दूसरे जहाँ स्त्री स्वयं कर्ता है और निर्णय में, परिगणन करने में, मूल्यांकन करने में सक्षम है। अर्थात् स्त्री जहाँ रचना का विषय है, इतिहास की वस्तु है- यह एक पक्ष और दूसरा पक्ष जहाँ स्त्री रचनाकार है, आलोचक व इतिहासकार है।

स्त्री रचनाकार हो सकती है, होती है- यह बात पुरुष आलोचकों व साहित्येतिहासकारों के लिए स्वीकार करना हमेशा से मुश्किल रहा। इसका उल्लेख डॉ. सूजी थारू और के ललिता द्वारा संपादित 'Woman writing in India' के पहले भाग (पृ. 56) में किया गया है और डॉ. सुमन राजे ने भी यशस्वी ग्रंथ 'हिंदी साहित्य का आधा इतिहास' में चर्चा की कि "संस्कृत विद्वान राजशेखर ने अपने ग्रंथ 'काव्यमीमांसा' में लिखा- "पुरुषों के समान ही स्त्रियाँ भी कवि हो सकती हैं। ज्ञान का संस्कार आत्मा से संबंध रखता है, उसमें स्त्री या पुरुष का भेद नहीं है। सुनते

और देखते हैं कि अनेक राजकुमारियाँ, मंत्रियों की पुत्रियाँ, वेश्याएँ एवं नाट्य प्रयोक्ता की स्त्रियाँ शास्त्रों की प्रकाण्ड विदुषियाँ और कवयित्रियाँ हैं। (पृ. 19)

स्त्रियों में कवित्व प्रतिभा की उपस्थिति को स्वीकार करने के लिए राजशेखर को एक आध्यात्मिक तर्क का सहारा लेना पड़ा कि ज्ञान का संस्कार आत्मा से संबंध रखता है और आत्मा स्त्री-पुरुष के भेद से परे है। राजशेखर की पत्नी अवन्ति सुंदरी स्वयं कवि और आलोचक थीं। इस भौतिक समकक्षता के बावजूद राजशेखर का पुरुष-मन स्त्री को रचनाकार के रूप में देखने में संकोच करता है। अवन्ति सुंदरी को डॉ. सुमन राजे ने पहली महिला आलोचक माना है जिसने काव्य में शब्दहरण जैसे विषयों पर स्पष्ट मत दिया जिसे राजशेखर ने ही अपनी 'काव्यमीमांसा' में उद्धृत किया है। रचनाकार के रूप में स्त्रियों का उल्लेख वैदिक काल से ही मिलता है। ऋग्वेद में रोमशा, लोपामुद्रा, श्रद्धा कामायनी, यमीवैवस्ती, पौलोमी शची, विश्ववारा, अपाला, घोषा, सूर्या शाश्वती, ममता एवं उशिज आदि ऋषिकाओं के नाम मंत्रद्रष्टा के रूप में प्राप्त होते हैं। इसके बाद 'थेरी गाथाओं' का प्रणयन हुआ जिसे प्रथम भारतीय नवजागरणकाल कहा गया। थेरी गाथाओं का समय 600 ई.पू. माना गया है। पालि भाषा के इन गीतों के कुछ उदाहरण 'Woman writing in India' के पहले भाग में दिए गए हैं। डॉ. सुमन राजे ने भी कुछ थेरी गाथाओं का हिंदी अनुवाद अपनी पुस्तक 'हिंदी साहित्य का आधा इतिहास' में देते हुए यह महत्वपूर्ण टिप्पणी दी है कि बौद्ध वचनों में थेरी गाथाओं का पृथक संकलन साहित्येतिहास में महिला-लेखन का स्वतंत्र रेखांकन है। (पृ. 53) स्त्री-लेखन के प्रसंग में ऐसे कई पहल (Initiatives) हैं जो स्त्री-साहित्येतिहास के प्रस्थान बिन्दु बनाए जा सकते हैं, जैसे संस्कृत की तुलना में हीन समझे जाने वाली प्राकृत भाषा में अवन्ति सुंदरी का ऐसा सुंदर काव्य कि न केवल उसके पति राजशेखर ने उसे अपनी 'काव्यमीमांसा' में उद्धृत किया बल्कि उसकी प्रेरणा से स्वयं प्राकृत में 'कर्पूरमंजरी' नाटक की रचना की और हमेचंद्र ने बारहवीं शती में रचे गए अपने कोश 'देशीनाममाला' में उसके उद्धरण दिए। कुछ विद्वानों का तो मानना है कि धनपाल ने

972 ई. में प्राकृत कोश की रचना अवन्ति सुंदरी की प्रेरणा से ही की थी। महिला-लेखन की पहल का एक उदाहरण आठवीं शताब्दी में तमिल कवयित्री करयिकल अम्मयार के गीतों में मिलता है जिनसे नायनार आंदोलन का आरंभ ही नहीं होता बल्कि मध्यकालीन भक्त कवयित्रियों की सुदीर्घ परंपरा का सूत्रपात होता है। एक पहल, काश्मीर की सूफी कवयित्री ललदे ने भी अपने विशिष्ट काव्य-रूप 'वाक्य' से की जिसका लम्बे समय तक कश्मीर की साहित्यिक परंपरा में अनुसरण होता रहा। एक पहल सोलहवीं शताब्दी के आरंभ में अटुकूरि मोल्ला ने ऐसे की कि शूद्र और स्त्री होने की चुनौतियों के बावजूद तेलुगु में 'मोल्ला रामायणम्' की रचना की और वह भी ऐसी तेलुगु भाषा में जो पारंपरिक से अधिक व्यावहारिक भाषा के निकट पड़ती थी। एक पहल गुलबदन बेगम की मानी जा सकती है भारतीय महिला इतिहासकार के रूप में जिसने 'हुमायूँनामा' लिखा। सन् 1857 में पूरा किया गया 'हुमायूँनामा' हुमायूँ के शासन का एक स्त्री की आँखों से देखा गया चित्र है जिसमें शाही महल के दैनिक कार्य-व्यापारों, पारिवारिक संबंधों और धार्मिक व ऐतिहासिक घटनाओं का आत्मीय पर्यवेक्षण स्पष्ट है। यह साफ बताता है कि इतिहास जब एक स्त्री की कलम से रचा जाता है तो क्यों और कैसे विशिष्ट हो जाता है। और एक पहल 'आमार जीवन' आत्मकथा की लेखिका रस सुंदरी की मानी जा सकती है (जो 1876 में प्रकाशित हुई) जिसने अपने रसोईघर की कालिख पुती दीवारों पर खुरच-खुरच कर अक्षरज्ञान प्राप्त किया और स्त्री-शिक्षा को अभिशाप मानने वाले अपने समय के समाज में विधवा होने पर केश मुँडवा देने की अमानवीय प्रथा से गुजरी। रस-सुंदरी का मासूम-सा सवाल है कि "अपने जीवन के अंतिम समय में मैं विधवा हो गयी। मुझे यह समझकर और जानकर बहुत आघात लगा, बहुत लज्जा अनुभव हुई कि अगर कोई औरत अपना पूरा जीवन बिताती है और अपने बच्चों को पाल पोसकर बड़ा कर इस लायक बनाती है कि वे अपना जीवन स्वतंत्र रूप से बिता सकें वैसी औरत के लिए विधवा हो जाना अभिशाप ही माना जाता है, क्यों?"

इसी क्रम में रचनाकार के रूप में स्त्री की सहज

स्वाभाविक अभिव्यक्ति और उसको प्रकाश में लाने के लिए कटिबद्ध दूसरी स्त्री के अनुपम प्रयत्नों का एक उदाहरण मिलता है जिसका विस्तार से निर्दर्शन 'Woman writing in India' के पहले भाग में किया गया है। यहाँ प्रसंग है सन् 1730-1790 के काल में जीवित और रचनारत तंजौर के नायकी वंश के राजा प्रताप सिंह के दरबार से जुड़ी मुद्दुपलनी द्वारा रचित काव्यकृति 'राधिका सांत्वनम्' का जिसे तेलुगु साहित्य के इतिहास में पहली बार 'अश्लीलता' के आरोप में प्रतिबंधित कर दिया गया। यह प्रसंग कई दृष्टियों से रोचक, कौतूहलपूर्ण अणैर विचारोत्तेजक है। यह न केवल एक स्त्री कवि द्वारा एक युवती की कामेच्छा का खुला और सरस वर्णन है बल्कि सुधारवादी नैतिकतावादी साहित्यकारों द्वारा उठायी गयी आपत्तियों और अदालती आदेश से प्रतिबंधित कराये जाने के प्रयत्नों का लेखाजोखा है। ध्यातव्य है कि 'राधिका सांत्वनम्' की जब रचना की गयी थी तब इस पर अश्लीलता का आरोप नहीं लगा था बल्कि इसे एक प्रचलित विधा 'शृंगार प्रबंधम्' के रूप में पर्याप्त ख्याति मिली। यह समय था अठारहवीं शताब्दी के मध्य का लेकिन इसके एक शताब्दी बाद सन् 1987 में यह कृति पहली बार प्रकाशित हुई। इसे संपादित व संसोधित किया प्रसिद्ध भाषाविद् सी पी ब्राउन के सहयोगी वेंकट नरसू ने। आश्चर्यजनक रूप से वेंकट नरसू ने इस कृति की प्रस्तावना को छोड़ दिया जिसमें मुद्दुपलनी ने अपनी साहित्यिक वंश-परंपरा को अपनी नानी और मौसी से जोड़ते हुए सगर्व अपनी प्रतिभा और कृतित्व का वर्णन किया है। सन् 1910 में इस कृति को एक अद्वितीय प्रशंसिका मिली और वह थीं बेंगलोर नागरत्नम्मा जिसने एक स्त्री द्वारा लिखित रस से सराबोर इस कृति को उसके समग्ररूप में पुनर्प्रकाशित किया। नागरत्नम्मा जो स्वयं विदुषी, संगीतज्ञ, कलाओं की संरक्षिका और एक प्रतिष्ठित गणिका थी, ने इसे इसके सही रूप में लोगों के सामने लाने का संकल्प इसलिए किया कि यह सरस रचना एक स्त्री द्वारा लिखी गई है और वह भी उस समुदाय की स्त्री जिस समुदाय की स्वयं नागरत्नम्मा थीं अर्थात् प्रतिष्ठित गणिका वर्ग की स्त्री। लेकिन इसके प्रकाशन के साथ ही तेलुगु साहित्य जगत में सभ्रांत, प्रतिष्ठित, नैतिकता के समर्थक सुधारवादी पंडितों

की भृकुटियाँ चढ़ गईं। आंध्र प्रदेश के सामाजिक सुधारवाद के जनक कंटुकूरि वीरेशलिंगम पंतुलु ने भर्त्सनायुक्त शब्दों का प्रयोग किया कि मुद्दुपलनी चरित्रहीन महिला है। उसकी पुस्तक के कई अंश ऐसे हैं जो किसी स्त्री द्वारा सुने नहीं जाने चाहिए और किसी स्त्री के मुख से ऐसी बातें निकलना भी असह्य है। शृंगार रस के बहाने यह स्त्री (मुद्दुपलनी) अपने काव्य में सेक्स का खुला चित्रण करती है। वीरेशलिंगम जी ने इसका कारण भी खोज निकाला 'ऐसा इसलिए संभव हुआ कि मुद्दुपलनी वेश्याओं के परिवार में जन्मी थी और स्त्री के लिए सहज लज्जा भाव से परिचित नहीं थी। निष्कर्ष उन्होंने निकाला कि यह काव्य विनाशक (Pernicious) है। इसकी प्रतिक्रिया में नामरत्नम्मा ने उतने ही तीखेपन से जवाब दिया कि यदि वेश्याकुल में जन्म लेने के कारण और स्त्री होकर सेक्स का खुला चित्रण अपराध है तो ऐसे कई अपराध पुरुष और वह भी तथाकथित महान रचनाकारों द्वारा किए गए हैं। लेकिन नागरत्नम्मा इस कृति का बचाव करने में असफल रही और 1911 में पुलिस कमीशनर के आदेश से इसकी सारी प्रतियाँ जब्त कर ली गईं और इसके प्रकाशकों पर 'अश्लील' पुस्तक छापने का मुकदमा ठोक दिया गया। एक लंबे संघर्ष के बाद 1947 में राष्ट्रवादी नेता और आंध्र प्रदेश के अग्रणी पुरुष टंगटूरी प्रकाशम के हस्तक्षेप से इस पुस्तक पर से प्रतिबंध हटाया गया और 1952 में इसका नया संस्करण निकला। इसके बावजूद 'राधिका सांत्वनम्' अश्लीलता के लांछन से मुक्त नहीं हुआ और विद्वज्जगत में यह बहिष्कृत ही रहा आया। इस प्रसंग के परिदृश्य में स्त्री-लेखन को लेकर कई प्रचलित मान्यताओं और उसके सामाजिक-आर्थिक कारणों की विस्तृत-विवेचना 'Woman writing in India' के संपादक युगल ने की है और वे इस निष्कर्ष पर पहुँची हैं कि 'राधिका सांत्वनम्' को लेकर छिड़ी यह बहस बदलते युगों के तेवरों के साथ बदलने वाले साहित्यिक मानदंडों से जुड़ी है। 'राधिका सांत्वनम्' तंजौर राजाओं के काल में रचित तेलुगु साहित्य के स्वर्णयुग के ऐसे परिवेश में रचा गया जहाँ राजाश्रय में प्रतिष्ठित गणिकाएँ संगीत, साहित्य और कला के क्षेत्रों में निष्णात थीं। उस समय इस काव्य को समुचित आदर मिला था। लेकिन, युग बदला। ब्रिटिश

उपनिवेशवाद में देश के भीतर व्याप्त सामाजिक सुधारवाद और नैतिकता के नए मानदंडों के समर्थकों ने वर्ग, लिंग और सामाजिक ऊँच-नीच के भेदभाव के कारण इस प्रकार की अभिव्यक्तियों की भर्त्सना की। लेकिन इस पाखण्ड का पूरे साहस के साथ सामना किया बेंगलोर नागरत्नम्मा ने और अपने पाठकीय अधिकार, आलोचना-विवेक के साथ स्वयं स्त्री और गणिका वर्ग से होने की सह अनुभूतिजन्य ईमानदारी के साथ इस काव्यकृति को उसका स्थान दिलाया। जैसा कि एक आलोचक यंदमूर सत्यनारायण राव ने तंजौर के राजकुल में रचित तेलुगु साहित्य के अपने इतिहास में स्वीकार किया कि 'राधिका सांत्वनम्' जैसी प्रबंधात्मक कृतियाँ आज की स्त्री-दृष्टि से देखने पर नवरस से युक्त होने के बावजूद निम्न और अपरिष्कृत लगती हैं, लेकिन इसके पीछे हमारी संस्कृति की अक्षमता कारण है न कि उस प्रबंध काव्य या कवि की अक्षमता।

यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि साहित्येतिहास लेखन में स्त्री-रचनाकारों के उल्लेख और मूल्यांकन में पुरुष इतिहासकार एक अजीब-से द्वंद्व और संकोच के शिकार होते रहे। हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन में इस पुरुष मानसिकता के द्वंद्व, संकोच, ऊहापोह और पूर्वग्रह को लेकर बहुत-कुछ लिखा और कहा जाता रहा है। इस संदर्भ में उल्लेखनीय काम है डॉ. सुमन राजे का जिन्होंने अपने 'हिंदी साहित्य का आधा इतिहास' में हिंदी साहित्य के इतिहास के पुनर्लेखन की प्रस्तावना की। इस इतिहास में न केवल इतिहास-लेखन के लिए आवश्यक तीन शतों ('इतिहासकार का दृष्टिकोण, 'सामग्री संकलन-कालनिर्धारण व वर्गीकरण और 'रचनाओं का साहित्यिक मूल्यांकन') का पालन किया गया है बल्कि इसे एक रचनाकार की सी तन्मयता और आवेगात्मकता (Passionately) के साथ रूपाकार दिया गया है। इस कृति को समर्पित किया गया भारतीय साहित्य की रचना में अपना योगदान देने वाली लिखित और वाचिक परंपराओं की ज्ञात-अज्ञातनामा साधिकाओं को, स्त्री-लेखन को पहचान देने वाले संवेदनशील विद्वानों को और 'उन नामवर आलोचकों को जो इस पूरी परंपरा से तटस्थ, उदासीन, विमुख और पूर्वाग्रही रहे, इस कथन के साथ कि 'हम अपना खून तुम्हें माफ करती हैं

पर, वे नहीं करेंगी, जो आगे आएँगी।' आगे अपना दृष्टिकोण वे इन शब्दों में स्पष्ट करती हैं कि "साहित्येतिहास लेखन की प्रक्रिया इतिहास बनाते हुए उसे खोजने की है।" (पृ. 9) यह बहुत महत्वपूर्ण कथन है क्योंकि यह उनके इतिहास लेखन के पूरे रूपाकार को एक मौलिक गत्यात्मक दिशा देता है। डॉ. सुमन राजे ने अपने इतिहास लेखन में सामग्री-स्रोत के रूप में लिखित रचनाओं के साथ स्मृत इतिहास और लोक साहित्य और लोकगीतों की वाचिक परंपरा को भी लिया है। ऐतिहासिक साक्ष्यों के अतिरिक्त स्त्री-गीतों व कथाओं की वाचिक अनवरत चली आने वाली परंपरा में प्रयुक्त मिथकों की भी व्याख्या व उनका रचनात्मक उपयोग सुमन राजे के इस इतिहास की विशिष्टता है। सुमन राजे ने लगभग डेढ़ दशक पूर्व अंग्रेजी में 'Woman writing in India' के दो भागों में 600 ईसा पूर्व से लेकर बीसवीं शताब्दी के पूर्वाद्ध तक की भारतीय भाषाओं की लेखिकाओं की प्रातिनिधिक रचनाओं को संकलित व विश्लेषित करने का स्तुत्य प्रयास डॉ. सूजी थारू व के. ललिता ने किया। यह रचना भी समर्थित है- 'For all the writers we have not been able to include, for the many we do not know yet about.'

यह पुस्तक बहुत सीमा तक भारत में महिला लेखन का इतिहास प्रस्तुत करती है। ऐसे संकलनों, संग्रहों, वृत्तों के कई प्रयास मिलते हैं जो ऐतिहासिक होते हुए भी इतिहास नहीं है। अब सवाल उठता है कि इतिहास-लेखन के स्त्री पक्ष का वर्तमान जिस मोड़ पर आ खड़ा है उसके आगे की दिशा क्या हो सकती है और क्या होनी चाहिए। मेरे विचार में साहित्येतिहास के स्त्री-पक्ष के आज और भावी स्वरूप को निम्नलिखित बिंदुओं में संक्षिप्त किया जा सकता है-

1. भारतीय भाषाओं में साहित्येतिहास-लेखन को केन्द्रित कर जितने भी प्रयास किये जाते रहे हैं वे भारत के समग्र इतिहास, समाज, संस्कृति और आर्थिक-राजनीतिक गतिविधियों को दृष्टि में रखते हुए अर्थात् स्त्री अपने आप में स्वतंत्र, खंडित, अकेली इकाई नहीं है। स्त्री के अनुभव और उसकी अभिव्यक्ति समग्र समाज का अनुभव और अभिव्यक्ति है। स्त्री-लेखन की इसी मानवीयता और सामाजिकता को दृष्टि में रखकर ही साहित्येतिहास में उसकी भूमिका निर्धारित

की जा सकती है।

2. लेकिन इसका मतलब स्त्री-लेखन की विशिष्ट पहचान को मिटाकर उसका सामान्यीकरण कर देना नहीं है। स्त्री मनुष्य है, व्यक्ति है, लेकिन सदियों के शोषणमूलक एकांगी चिंतन और व्यवहार ने स्त्री से ये दोनों अधिकार छीन लिये। साहित्येतिहास-लेखन में स्त्री की भागीदारी इन अधिकारों की वापसी का उपक्रम है।

3. अब प्रश्न उठता है कि साहित्येतिहास का अगर स्त्री-पक्ष से और स्त्री-दृष्टि से लेखन किया जाए तो क्या स्त्री के ही द्वारा होना चाहिए, अर्थात् क्या स्त्री साहित्येतिहास-लेखन के साथ न्याय स्त्री ही कर सकती है? यह एक जटिल प्रश्न है। हिंदी का ही संदर्भ दिया जाए तो डॉ. सुमन राजे ने कई उदाहरणों से पुरुष इतिहासकारों के स्त्री के प्रति पूर्वाग्रहों, संदेहों और संभ्रम को स्पष्ट किया है। जैसे- डॉ. रमाशंकर रसाल 1931 में प्रकाशित अपने 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में यह स्वीकार करते हैं कि "...हिंदी साहित्य की जो रचना हुई है उसके दो खंड दिखाई पड़ते हैं। एक खंड को हम पुरुष काव्य (पुरुष कवियों द्वारा रचा गया काव्य) कह सकते हैं और दूसरे को स्त्री काव्य। प्रथम की ओर तो हमारे कतिपय विद्वानों ने अपनी विचारपूर्ण दृष्टि डाली है किंतु द्वितीय खंड की ओर किसी ने भी ध्यान नहीं दिया।" आगे वे निष्कर्ष देते हैं "स्त्री साहित्य, जो भी हमारे सामने उपस्थित है, उस शैली में हमें रचा हुआ मिलता है, जिस शैली से हमारा पुरुष साहित्य रचा हुआ प्राप्त होता है। स्त्रियों ने प्रायः पुरुष कवियों की ही सभी प्रधान शैलियों और विषयों का अनुकरण किया है और उन्हीं के समान साधारण तथा व्यापक साहित्य की रचना की है।" रसाल जी के इस मंतव्य से यदि किसी को यह भ्रम हो कि वे स्त्री-पुरुष साहित्य को समान मानते हैं तो इसी कथन में व्यक्त 'अनुकरण' शब्द पर ध्यान देना चाहिए और आगे भी रसाल जी अपने अनुकरण सिद्धांत को और स्पष्ट करते हुए मीरा के छंद पर संदेह व्यक्त करते हैं कि "यह छंद देव कवि का रचा हुआ कहा जाता है क्योंकि मीराबाई को काव्य शास्त्र अथवा छंदशास्त्र का ऐसा प्रौढ़ ज्ञान न था..." आगे भी वे मीरा की भक्ति, काव्यकौशल और भाषा-सौष्ठव की मौलिकता पर संदेह

व्यक्त करते रहते हैं। यही रवैया वे शेख और आलम के संदर्भ में अपनाते हैं कि "शेख की रचना वस्तुतः ऐसी प्रतीत होती है, मानो किसी सुकवि की रचना हो। उसमें वाग्वैचित्र्य, चमत्कार-चातुर्य, सौष्ठव, कलापूर्ण काव्य का कौशल सभी अच्छे रूप में प्राप्त हैं। इसी आधार पर हमारा यह अनुमान है कि कदाचित् प्रसन्न हो आलम ने अपने छंदों पर शेख के नाम की मुहर लगाकर यह सुंदर मुक्तक काव्य रच दिया है।" आगे सुंदरबाई के प्रसंग में भी लिखा है कि "...कहीं-कहीं तो इन्होंने ऐसी चोखी और अनोखी चातुर्य दिखायी है कि बलात् यह कहना पड़ता है कि यह रचना किसी देवी की न होकर एक प्रौढ़ सुकवि की है।" स्त्री-लेखन की गुणवत्ता पर संदेह करने वाले 'सुपुरुषों' में 1933 में 'हिंदी काव्य की कोकिलाएँ' ग्रंथ के लेखक-युगल गिरिजादत्त शुक्ल और ब्रजभूषण शुक्ल भी हैं जिन्होंने प्रश्न किया कि क्या शेख और प्रवीणा राय की कविता से हमारी गृहदेवियों को कोई पथ प्रदर्शन प्राप्त होता है? फिर स्वयं ही 'नहीं' में उत्तर देते हुए वे निष्कर्ष देते हैं कि "हिंदी साहित्य का वर्तमान काल हिंदी काव्य का उन्नत स्वरूप हमारे सामने नहीं रखता... देवियों का इस काव्य-प्रवाह के अनुसरण से भी विशेष लाभ न होगा और अधिक आशंका तो इस बात की है कि उनकी हानि होती।" स्पष्ट है कि इस प्रकार की टिप्पणियों से स्त्री-साहित्येतिहास लेखन के प्रयासों में लगी लेखिकाएँ तिलमिला उठती हैं। लेकिन सौभाग्य से ऐसे 'सुपुरुषों' की संख्या अपेक्षाकृत कम है। यदि हम इसे उन्नीसवीं शती और बीसवीं शती के पूर्वार्द्ध की पुरुष मानसिकता मानकर चलें (क्योंकि उद्धृत वीरेशलिंगम पंतुलु भी इसी समय के हैं) तो हमें ध्यान देना होगा कि लोकगीतों के शोध और संग्रहकर्ता रामनरेश त्रिपाठी भी पुरुष ही हैं जो असंदिग्ध भाव से लिखते हैं- "हमने गीतों का गहरा अध्ययन करके यह निष्कर्ष निकाला है कि स्त्रियों के गीतों में पुरुषों का मिलाया हुआ एक शब्द भी नहीं है। स्त्री-गीतों की सारी कृति स्त्रियों ही के हिस्से की है। यह संभव हो सकता है कि एक-एक गीत रचना में बीसों वर्ष और सैकड़ों मस्तिष्क लगे हों, पर मस्तिष्क थे स्त्रियों के ही।" या 'स्त्री कवि कौमुदी' (सन् 1931) के लेखक ज्योति प्रसाद निर्मल को

इस बात में कोई संदेह नहीं है कि “...पुरुष कवियों की भाँति स्त्री कवियों ने भी भाषा के भंडार की पूर्ति करने में वास्तविक और बहुत कुछ प्रयत्न किया है। यह ठीक है कि समय के प्रवाह और पुरुषों के प्रभुत्व से पुरुष-लेखकों की कृतियों का प्रचार अधिक हुआ...।” वस्तुतः ‘स्त्री कवि कौमुदी’ संकलन ही इसलिए हुआ कि “हिंदी में अनेक संग्रह ग्रंथ प्राचीन और अर्वाचीन हैं परंतु किसी ने स्त्रियों की रचनाओं को विशेष महत्त्व नहीं दिया।” अगर इसी लेख में उल्लेखित ‘राधिका सांत्वनम्’ पर छिड़ी बहस का उदाहरण लिया जाए तो इस कृति के पक्ष में खड़े होकर इसका मूल्यांकन करने में ‘हमारी संस्कृति की अक्षमता’ को कारण मानने वाले यंदमुरि सत्यनारायण राव भी पुरुष ही हैं।’

अतएव स्त्री साहित्येतिहास-लेखन का भार स्त्री ही उठाती रहे ऐसा मानना आज के समय में बहुत ही तर्कपूर्ण नहीं कहा जा सकता। आज का स्त्री-विमर्श, स्त्री-चिंतन और स्त्री-लेखन अब ऐसी अनिवार्यताओं को मानकर नहीं चलता क्योंकि यह अब खुले छोरों वाला, समावेशी और चुनौतियों-भरा क्षेत्र है।

4. इसी तर्क और तथ्य को दृष्टि में रखकर यह कहना आवश्यक जान पड़ता है कि स्त्री-लेखन का इतिहास अपने दृष्टिकोण, प्रतिज्ञा और संकल्प में प्रतिपूरक हो किंतु प्रतिद्वंद्वतात्मक और प्रतिशोधात्मक न हो। डॉ. सुमन राजे का ‘हिंदी साहित्य का आधा इतिहास’ अपनी शोधमूलक दृष्टि, तथ्यपरक व्याख्याओं और तर्कपूर्ण निष्कर्षों के बावजूद इतने आवेग और वेग, ऊर्जा और शक्ति के साथ रचा गया है कि इसका स्वर कई बार प्रतिशोधात्मक हो उठा है। यह सच है कि इतिहास अतीत की पुनर्व्याख्या है और खोज है लेकिन यह भी सत्य है कि इतिहास लड़ाई नहीं है- किसी के पक्ष में और किसी के खिलाफ। यह अब किये गये और भोगे हुए अन्याय का प्रतिशोध नहीं हो सकता- इतिहास अतीत की पुनर्रचना है और रचना हमेशा सकारात्मक और संकल्पात्मक होती है इसलिए अब समय के बदलते सरोकारों को देखते हुए भी साहित्येतिहास-लेखन में स्त्री-पुरुष की सहभागिता और युगीन परिवेश के साथ उनके द्वंद्वतात्मक सहलेखन का मूल्यांकन व निर्धारण किया जाना चाहिए,

तभी एक समूचे और पूरे इतिहास का निर्माण हो सकेगा।

5. स्त्री साहित्येतिहास-लेखन में विभिन्न युगों में उन समूहों और समुदायों की चर्चा आवश्यक है जिनका ये लेखिकाएँ प्रतिनिधित्व करती हैं। वैदिक काल में रचनारत ऋषिकाओं का यथासंभव उपलब्ध विवरण डॉ. सुमन राजे ने अपने इतिहास में दिया है जो ऋषि परिवारों और राज परिवारों से संबंधित हैं। लेकिन इसके बाद की शताब्दियों में (ईसा पूर्व 600 से लेकर अठारहवीं शती तक) जो स्त्री-रचनाकार मिलती हैं वे डॉ. सूजी थारू के शब्दों में ‘nearly all of it is either from pre-Aryan or non-Aryan sources.’ आगे वे अपना तर्क स्पष्ट करती हैं कि ये स्त्री रचनाकार हमेशा ब्राह्मण-पुरोहितवादी, सामंती व्यवस्था के विरोध में खड़ी दिखाई देती हैं, ये स्त्रियाँ हमेशा धारा के विरुद्ध तैरती हैं और अपने तट खुद बनाती हैं। ‘थेरी गाथा’ में तो विभिन्न वर्गों और वर्णों की महिलाएँ शामिल हैं जिन्होंने भिक्षुणी बनकर अपने जीवन के संचित अनुभवों को इन गाथाओं में गाया है। इनमें राजकन्याएँ हैं, सामंतों के घरों से आई स्त्रियाँ हैं, ब्राह्मण जाति की हैं, अन्य श्रमजीवी जातियों की हैं, गणिकाएँ हैं और दासियाँ हैं। इसके बाद आती है 100 ई.पू. में रचित संगम काव्यधारा में तमिल भाषा की रचनाकार स्त्रियाँ जिन्होंने संस्कृत का प्रयोग नहीं किया- जिस आधार पर सूजी थारू इन्हें पूर्व आर्य सभ्यता की मानती हैं। भक्तिकाल और भक्तिकाव्य की रचयिता स्त्रियों में मीरा की तरह राजघराने से लेकर अटुकूरी मोल्ला जैसी सामान्य शूद्र स्त्री शामिल हैं। लेकिन ध्यान देने की बात यह है कि लिखित साहित्य से लेकर लोकगीतों तक में ये स्त्रियाँ श्रम जीवी हैं, ये वर्ग, वर्ण, जाति, कुलीनता-अकुलीनता से ऊपर उठकर अपनी अभिव्यक्ति में अपना दुःख बयान करती हैं। ये अपने आसपास के यथार्थ को भी स्वर देती हैं, मुक्ताबाई की तरह पेशवाओं द्वारा महिलाओं और शूद्रों पर किए जाने वाले अत्याचारों का विरोध करती हैं, और जैसा कि मुक्ताबाई के बारे में डॉ. सूजी थारू बताती हैं कि “what inspires us today is the brand scope of her feminism. As she (a Maratha) takes up the cause of vijailakshmi, a Gujrati Brahmin widow, and connects it to the plight of the artisans and the

ordinary people under imperialist rule." वस्तुतः स्त्री-लेखन अपने गर्भकाल से ही विद्रोह के संस्कार लेकर आया। संस्कृत के वर्चस्व के दिनों में स्त्रियों और सेवकों तथा शूद्रों के लिए प्राकृत भाषा के प्रयोग का विधान था लेकिन इसी प्राकृत को इन लोगों ने अपनी अभिव्यक्ति से विद्वानों के लिए ईर्ष्या योग्य बना दिया। पालि भाषा प्रतिष्ठित हुई थैरी गाथाओं में, संगम काव्य में तमिल, तो भक्तिकाल में लोकभाषाओं को मंच मिला। उन्नीसवीं-बीसवीं शती से आधुनिक भारतीय भाषाओं की रचना में भी स्त्रियाँ अग्रणी रहीं। एक बात और ध्यान देने योग्य है कि स्त्री-लेखन के आरंभ से लेकर अठारहवीं शताब्दी तक स्त्रियों का एक ऐसा वर्ग सक्रिय रहा जिसे समाज से सम्मान और अपमान दोनों मिले और वह वर्ग है गणिकाओं का। नवीं शताब्दी में स्त्री-लेखन के महत्त्व को स्वीकार करते हुए राजशेखर ने वेश्याओं और नाट्य प्रयोक्ताओं की स्त्रियों के शास्त्रों की प्रकाण्ड विदुषियाँ और कवियत्रियाँ होने की बात की है। इसी रेखा को खींचकर 18वीं शताब्दी में 'राधिका सांत्वनम' की रचनाकार मृदु पलनी तक लाया जा सकता है जिसके पक्ष में खड़ी होने वाली स्त्री बेंगलोर नागरत्नम्मा भी गणिका समुदाय की ही थी और मूल लेखिका और उसके पैरोकार-दोनों को वीरेशलिंगम पंतुलु जैसे सुधारवादी नेताओं की भर्त्सना झेलनी पड़ी थी। सामाजिक-आर्थिक दृष्टि से यह जाना-समझा तथ्य है कि भारत में गणिकाओं का मान-सम्मान कला व विद्या के संरक्षक के रूप में करने की परंपरा रही है। 'तवायफ' के रूप में भी उन्नीसवीं शताब्दी तक इस वर्ग की स्त्रियों के मान-सम्मान, धन-वैभव और कला-नैपुण्य की चर्चा डॉ. सूजी थारू ने अपने ग्रंथ में की है। पुरुषों की तरह स्त्रियाँ भी कवि और कलाकार के रूप में राज दरबार से संरक्षण प्राप्त करती रहीं। लेकिन इसके लिए भर्त्सना और लांछन केवल स्त्रियों के ही हिस्से में गया, यह भी एक ऐतिहासिक विडम्बना है।

19वीं शताब्दी में औपनिवेशिक शासन के दृढ़ होने के साथ मध्यवर्गीय नारी स्त्री-लेखन में उभर कर आई। स्त्री की यह मध्यवर्गीय मानसिकता उसके पैरों की बेड़ी बनी तो उसके मध्यवर्गीय जीवनानुभवों ने उसके लेखन के लिए खादपानी का काम किया। आज स्वतंत्र भारत के लोकतांत्रिक

समाज में दलित, आदिवासी व अल्पसंख्यक समुदायों की स्त्रियों के लेखन में अपनी पहचान बनाने के बावजूद वर्गीय दृष्टि से मध्यवर्गीय आर्थिक स्थिति और मानसिकता की लेखिकाओं की संख्या अधिक है।

6. स्त्री साहित्येतिहास लेखन की एक और महत्त्वपूर्ण सामग्री है जिस पर ध्यान दिया जाना चाहिए और वह हैं-आत्मकथाएँ। स्त्री रचनाकारों द्वारा आत्मकथाओं की बड़ी संख्या में आना आधुनिक युग की भारतीय भाषाओं के लिए एक सुखद विस्मय रहा, लेकिन इसके पीछे सामाजिक-आर्थिक कारण हैं। सदियों से 'मार खा, रोई नहीं' वाली स्त्री असंख्य कंटों से फूट पड़ी। हालांकि 'आत्म निवेदन', 'आत्म परिचय' के बहाने स्त्री रचनाकार विगत वर्षों में भी अपने आपको स्वर और महत्त्व देती रहीं, मगर रसोई घर की कालिखपुती दीवारों में रूपहले अक्षर खुरच कर लिखना सीखनेवाली रस सुंदरी देवी को 'आमार जीवन' के रूप में बंगाली भाषा की पहली आत्मकथा लिखने का तो श्रेय मिला वह स्त्री मात्र की जिजीविषा का प्रतीक है। आत्मकथा याने आत्मचरित अपना इतिहास और अपना इतिहास ही सबके इतिहास की सीढ़ी बनता है। अधिकतर भारतीय भाषाओं में विशेषकर बांग्ला, मराठी, गुजराती, हिंदी में विभिन्न वर्गों और समुदायों की स्त्रियों की आत्मकथाओं में उनके अपने और उनके अनुभव के आए समाज के वास्तविक चित्र हैं इसलिए स्त्री साहित्येतिहास लेखन के लिए ये आत्मकथाएँ, जीवनियाँ और संस्मरण महत्त्वपूर्ण सामग्री हैं।

7. साहित्येतिहास-लेखन में स्त्री पक्ष में स्त्रियों द्वारा प्रकाशित और संपादित पत्र-पत्रिकाओं का ऐतिहासिक महत्त्व है जिसे रेखांकित किया जाना चाहिए। देशभर में स्त्रियों ने विभिन्न भारतीय भाषाओं में पत्र-पत्रिकाओं का संपादन व प्रकाशन शुरू किया। यह परिघटना 1880 से 1920 के मध्य हुई और इसे संपन्न करने वाली स्त्रियों में से कुछ ने तो अक्षराभ्यास समाप्त ही किया था कि आत्माभिव्यक्ति के संघर्ष में वे कूद पड़ीं। इनमें से कुछ नाम डॉ. सूजी थारू ने गिनाए हैं, जैसे-स्वर्णकुमारी देवी, हिरण्मय देवी और सरला कुमारी देवी द्वारा संपादित 'भारती' (बंगाली 1884-1912), कमला सतीनन्दन द्वारा 1901-1938 तक संपादित

'Indian ladies magazine' (अंग्रेजी), बीसवीं शताब्दी के आरंभ में पुलुगुर्ति लक्ष्मी नरसमाम्बा द्वारा तेलुगु में 'सावित्री' का संपादन, 1909 में रामेश्वरी नेहरू द्वारा हिंदी में आरंभ किया गया 'स्त्री दर्पण' और नंजनगुडु तिरुमलाम्बा द्वारा 1917 से 1922 के बीच निकाली गई कन्नड़ पत्रिका 'कर्नाटकनंदिनी'। इसके अतिरिक्त 'वामाबोधिनी पत्रिका' (बांग्ला), 'सुंदरी सुबोध' (गुजराती), 'हिंदू सुंदरी' (तेलुगु), 'जनाना' (तेलुगु) 'स्त्रीबोध' (गुजराती) 'खातून' और तहजीब निस्वां (उर्दू) पत्रिकाओं में अधिकतर महिलाएँ ही लिखती थीं। स्त्रियों द्वारा लिखित संपादित प्रकाशित इन पत्रिकाओं में मुख्यतः उस समय की प्रचलित समस्याओं और कुरीतियों पर लिखा जाता रहा। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि पुरुष सुधारवादियों द्वारा किये जाने वाले कई प्रयत्नों से इन लेखिकाओं ने असहमति व्यक्त की जैसे 'विधवा विवाह' के प्रश्न पर वीरेशलिंगम से पुलुगुर्ति लक्ष्मी नरसमाम्बा की असहमति, 'परदा प्रथा' को कुरीति मानने वाले पुरुष सुधारवादियों को सौभाग्यवती और नजर सज्जाद हैदर जैसी लेखिकाओं द्वारा स्पष्ट किया

जाना कि स्त्री के लिए 'परदा' एक अवरोध-भर है, असली कुरीतियाँ हैं अशिक्षा, परनिर्भरता, पराधीनता आदि। वे पूछती हैं केवल परदा प्रथा हटा देने से क्या हो जाएगा ?

आज स्त्री-केंद्रित पत्रिकाएँ तो हैं लेकिन स्त्रियों द्वारा संपादित-प्रकाशित पत्र-पत्रिकाओं की संख्या भारतीय भाषाओं में, विशेषकर हिंदी में अपेक्षाकृत कम हैं या विरल हैं। यहाँ उल्लेखनीय है तेलुगु में प्रकाशित 'भूमिका' जो अपने 'स्त्री-केन्द्रित लेखों, रचनाओं, आयोजित संगोष्ठियों व चर्चाओं से स्त्री-लेखन का सक्रिय मंच बनी हुई है। इतिहास-लेखन में स्वाधीनता के बाद स्त्री-पत्र-पत्रिकाओं का, स्वाधीनता पूर्व पत्र-पत्रिकाओं के साथ तुलनात्मक अध्ययन कई सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक निष्कर्ष सामने लाएगा इसमें संदेह नहीं।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि अब तक के साहित्येतिहास लेखन का स्त्री पक्ष महत्वपूर्ण है मगर परिपूर्ण नहीं। पूर्णता का लक्ष्य वैसे तो हमेशा अप्राप्य ही रहता है फिर भी कोशिश इसे समग्र और समावेशी बनाने की होनी चाहिए।

संपर्क:

प्लॉट- 311, गुलमोहर पार्क, लिंगमपाल,
हैदराबाद- 500019, मो. 09391092053
Email : shashi1948mudiraj@gmail.com

सविता मिश्र

पंपा

छः घरों में
 खाना बना कर
 दस नम्बर वाले
 मकान के सामने खड़े
 नीम के नीचे
 रोज की तरह सुस्ता रही है पंपा
 रम्पू इस्त्री वाले से बतियाते
 फुर्र से उड़ जाता है कमबख्त एक घंटा
 भूख से कुलबुलाती आँतों के भीतर
 धकेलती है रम्पू के ठेले से उठाकर
 एक बोतल पानी
 मुलायम सी मुस्कान फेंककर
 रम्पू करता है ठिठोली
 'ओ री पंपा! चवन्नी-अठन्नी तो पकड़ा दिया कर
 बोतल के बदले
 हँस पड़ती है पंपा
 दिखाती है ठेंगा
 पाँच नम्बर के सामने खड़े अमलतास के फूल
 हँस पड़ते हैं भरी दोपहरी में
 पंपा चल देती है फिर
 घरों में बरतन मांजने
 जिस वक्त पस्त पड़ने लगेगा सूरज
 पंपा रम्पू की मुलायम मुस्कान के सहारे
 तरोताजा-सी चली जा रही होगी
 उन्हीं छः घरों में
 रात का खाना बनाने
 पंपा के इंतजार में
 रम्पू दुखते हाथों के बावजूद
 करता चला जाता है
 इस्त्री किए कपड़ों पर दुबारा इस्त्री।

मूँगाफली वाले

फिर इस साल
 शहर में आ गए हैं
 मूँगाफली बेचने वाले
 कुछ समय बाद
 जब सर्द हो जायेगा मौसम
 बरसती धुँध में
 नंगे सिर, नंगे पाँव
 हवाओं में घुली बर्फ पीते हुए
 भीगी टाट के नीचे
 जमा पूँजी का गुणा-भाग करते हुए
 कुछ ठंडे सपनों की पोटली दबाये
 लौट जाया करेंगे घर।
 कँपकँपा उठेंगी तब
 चाँद की हड्डियाँ
 और बर्फीली उदासी में
 डूब जाया करेंगी उसकी आँखें
 अगली सुबह
 ठंडे सूरज को चुनौती देते हुए
 दिखाई देंगे फिर, उसी सड़क पर
 बर्फीली मुस्कान के साथ
 कोई फर्क नहीं पड़ेगा शहर पर
 उसी तरह हँसता-बोलता
 रोज-रोज उनके पास से
 गुजरता रहेगा शहर।

कामकाजी श्रौतें

बिना कागज कलम के
औरतें हर रोज लिखती हैं कविता। डायनिंग टेबल पर भूल
घर छोड़ने से पहले
पनीर का पराठा
जौ-चने की रोटी
थोड़ा दही/ थोड़ा मट्ठा
फीकी और मीठी चाय
उछालकर ठंडा किया दूध
प्लेट में सलीके से कटा सेब
और भी बहुत कुछ...
कुछ इस तरह
सब का ध्यान रखती हैं औरतें।
घर समेटने के चक्कर में
इधर-उधर फिरकी-सी घूमती
चूल्हे पर उबलकर गिरा दूध
साफ करती
हड़बड़ाती, बौखलातीं
फिर भी मुस्कराती
घड़ी की दौड़ती सुइयों को देख
हर दूसरे दिन
भूल जाती ब्लड प्रेशर की दवाई
पर कभी नहीं भूलतीं
तुम्हारे लिए बादाम का दूध
या नल पर छोड़े गये
तुम्हारे गीले तौलिये को
धूप में सुखाना।
सबका टिफिन तैयार कर
फोन पर
बीमार बाई के हालचाल पूछ
एक प्याला चाय पीकर

जरूरी कामों की लिस्ट
दिन भर जुटी रहतीं फाइलों में
बीच-बीच में
बॉस की सनक झेलती
तनाव से जूझती दफ्तर में भी
घर को कहाँ भूलती हैं औरतें।
अपने लिए
कब और कितनी जीती हैं औरतें
दूसरों पर छतरियाँ तानकर
हमेशा कितना-कितना
भीगती हैं औरतें।
अपने हिस्से का आसमान
तुम्हारे नाम कर
भीतर ही भीतर
टूट कर है, बिखरती हैं
दर्द से फटते सिर को भूलकर
रात में फिर
रसोई में जुटती हैं औरतें
इस तरह
खुद टूटकर और सबको जोड़कर
घर बनाती हैं औरतें।

बूढ़े-2

एक कोने में
चुपचाप बैठे रहते हैं बूढ़े
जरूरी तो नहीं
पके बालों के साथ
पक गए हों उनके सपने।
चुप हैं बूढ़े
पर उनके भीतर

स्मृतियाँ बोलती रहती हैं लगातार
बूढ़े सुनते रहते हैं चुपचाप
अपनी स्मृतियों की आवाज
और न चाहने के बावजूद
चू पड़ते हैं आँसू
बिना आवाज के
रोशनदान के घोंसले में
चहचहा उठता है चिड़िया का बच्चा
कुछ दिनों के लिए
चमक उठती हैं बूढ़ी आँखें
कुछ दिनों बाद
बूढ़े देखते हैं चुपचाप
उसे उड़ते हुए
फिर खाली हो जाता है रोशनदान
एक सन्नाटा बजने लगता है
उनके भीतर
एक कोने में सिमटे
पीते रहते हैं सन्नाटा
और करते रहते हैं फिर से
चहचहाने का इंतजार।
गर्मी की छुट्टियों में
बूढ़े शरीर के भीतर
दुबका उनका मासूम मन
चहक उठता है जब कभी
डपट देते हैं बूढ़े
और चुपचाप घंटों देखते रहते हैं
रोशनदान की तरफ।
संपर्क :
आर.बी.डी. गर्ल्स पी.जी. कॉलेज,
बिजनौर, मो. 9719659317

मनीषा झा

जाल

वे उसमें फंसी हुई हैं
एक झीना-सा जाल जो तैयार बहुत महीन-महीन धागे से
जिसमें किसी के लिए दाना है किसी के लिए नहीं

और जब दाना होता है वे भूली रहती हैं
कि जाल के नीचे है उनका वजूद
फुदकती रहती हैं यहाँ से वहाँ प्रसन्नचित्त होकर
जाल के नीचे बस उसी परिधि में
वहीं से झांकती रहती हैं आकाश
धूप भी हवा भी छनकर ही आती है
जाल के भीतर
पसरा है संसार वही मनु महाराज के जमाने से

बहुत आए गए इस बीच
ऋषि आए मुनि आए राजा आए
महाराजा आए
मंत्री आए संत्री आए
सबको पसंद आई बहुत जाल की बुनावट
अपने-अपने तई रखा उसे सुरक्षित
पुराने हो गए जाल की करवाई मरम्मत
बीच-बीच में चमकाया भी गया
पालिश कर

अब चमक रहा
रंगभरे डिजाइन में नए जमाने की
तकनीक की बदौलत
नए आ गए जमाने में
मगर बात है वही पुरानी
किसी के लिए दाना है किसी के लिए नहीं

अब रास्ता यही
साथ मिलकर जोर लगा
जितनी जिसके पास जैसी है ताकत
धर्म और लज्जा
सुंदरता के सिंथेटिक धागों से बुना
पितृसत्ता का मजबूत जाल
फिंक जाए कहीं दूर बर्बाद होकर
कि फैल सके छोटी-बड़ी सब चिड़ियां
जहाँ-तहाँ इस जहाँ में
अपनी मर्जी के मुताबिक
कि न दे सके कोई फरमान-
अपने ये रंग झाड़ों अपने वो पंख फेंको
कि लगा सके नहीं कोई अंकुश
बुद्धि और विवेक पर।

चाहना

घोंसले के घोंसलेपन
से निकलकर दूर
चाहे उड़ान भरना
भयमुक्त उन्मुक्त
चाहे चांद के पास जाना
आधी-अधूरी उड़ान
फिर उसकी थकान
लौटकर बैठा झुटपुटे में
किसी पेड़ पर से
दिखता
चमकता चांद दाग के बाद भी
नीले आकाश में गोल-गोल धवल चांद
खींचता अपनी रोशनी में
मन पंछी
घोंसलेपन के पन से बिंधा
अंधकार की बेबशी
न कोई बहाना है
बिंधना सहना नहीं
रह जाना है
रह जाना मामूली नहीं
असहनशील हो चले वातावरण में
वरण और बंधन बेमानी है
उड़ान-फुरान सब आनी-जानी है
इधर के दृश्य में
कुछ भी स्पष्ट नहीं
फिर क्या किया जाए ?
चाह का चाहत का
चाहने-न-चाहने के बीच छोटे-से डैश का
ऐश का अपना है घेरा
कैश की अपनी है लकीर
बावजूद भी
सुरक्षित नहीं
कहीं कोई एक भी।

दबआबाल

हम किसी मजबूरी में
इस तरह गा रहे हैं
क्या देखें
सरगम तोड़कर उधर बहाए जा रहे हैं
चले थे बताने हम भी
पसीने की क्रदर
अब क्या कहें
पसीना निकालने वे ज़िम जा रहे हैं
कि बदल रहे हैं जरूर
मुहावरों के अर्थ
और गरीबी की मार में
पानी-सा पसीना बहाए जा रहे हैं
दरअसल पानी नहीं रहा पानी
सभी के लिए
कि दिन-दहाड़े विष घुलाए जा रहे हैं
इत्र रखे हैं हमने भी
सच्चे फूलों के
परफ्यूम के मारे
हमारे सुगंध झुठलाए जा रहे हैं
उनकी फिर बात मत पूछो
नियम पर नियम फरमाए जा रहे हैं
एक बच्चा दम तोड़ता
वे नजर बचाए चले जा रहे हैं
कुछ हो तो रहा है कि और बेहतर हो
युवा रोजगार में लगाए जा रहे हैं
सही काम को मिले उचित दाम
उम्मीद में मन को समझाए जा रहे हैं।

संपर्क :

उत्तर बंग विश्वविद्यालय
राजाराममोहनपुर, सिलीगुड़ी, दार्जिलिंग,
पिन-734013 (प. बंगाल) मो. 9434462850

मंजुला उपाध्याय मंजुल

जन्मबीज

जैसे-जैसे उतरती गई मैं तुमसे,
 तुम्हारे हफ्तों में छुपे हुए दर्द
 उतरते गये मेरी आत्मा में।
 कहते हैं, आजकल
 निर्वासित हो तुम
 झूठ कहते हैं लोग।
 आजकल नहीं,
 तुम तो उसी दिन हो गई निर्वासित
 जिस दिन
 सच कहा तुमने पहली बार।
 कहा है, तुमने कम,
 सहा है कितना!
 अफसोस हमें तुम्हारे दर्द का अहसास भर हुआ,
 पर हम कुछ कर न सके,
 अंततः
 तुम चली गई
 और हम चुपचाप
 देखते रह गये तमाशा।
 अनेकता में एकता का हामी यह देश
 सम्पूर्णता में
 शरण भी नहीं दे पाया तुम्हें।
 हाँ, कहते हैं
 सत्य की होती है जीत,
 फिर, सच बोलने की सजा हम क्यों सहते हैं?
 नसरीन,
 तुम जिंदा रहोगी
 लिखोगी हमारी कलमों से वे तमाम बातें
 जो अधूरी रह गई हैं।
 क्योंकि
 हथेली पर है वह दिन
 जब स्त्री अपने को पहचान लेगी

और वह जो खुद है,
 वह होने की ठान लेगी!
 यहाँ, वहाँ, सब कहीं
 खड़ी होगी तसलीमाओं की कतार
 उन अन्यायों के विरुद्ध
 तब
 राधा, रजिया, रूप कौर...
 उठायेंगी कलम
 तब गूँजेंगी
 पूरे वायुमंडल में
 तुम्हारे अनमोल शब्द।

मासूम किलकारियाँ

उस दिन
 दिल के साये में बैठी मेरी कविता
 तकती रही कलम की उत्तप्त-चुप्पी
 फिर बुदबुदायी उसके कान में-
 आज मेरे दाह से आँखें बचा बैठी हुई हो क्यों?
 बेजान माँ की देह से
 लिपटें हुए बेजान नाजुक तन,
 मरघट हुए कितने घर
 वो उजड़ी बस्तियाँ, जलती हुई चीत्कार
 राख होती, गूँजती मासूम वे किलकारियाँ,
 मौत के जबड़ों से/ भाग जाने की जुझारू कोशिशें
 और वैसी दहाड़े असहाय,
 आज लिख दो
 कल करेंगे कवि इन्हीं का शब्दिक व्यापार
 और नेता बाँटते फिरते रहेंगे,
 आश्वासनों के फूल
 प्रशासन अपना करेगा काम
 फिर न कुछ शेष रहेगा।

नभवीन : सिर्फ एक बच

कहते हैं लोग
तुमने शब्दों से छीन लिया हैं
मर्यादा के कपड़े।
इसलिए नंगे लगते हैं तुम्हारे शब्द
भला बताओ तो
अर्थ-खोये शब्दों को
लिवास की क्या जरूरत,
शब्दों का नंगापन देखने वालों,
कभी उन आँखों को देखा है
जो मन नहीं सिर्फ तन देखती हैं ?
जो चिथड़ों में तब्दील कर देते हैं/
ढके तन को भी।
देखे हैं कभी वे नाखूनी पंजे ?
कितना बचे,
कहाँ-कहाँ बचे
कैसे बचे स्त्री ?
और कब तक आखिरकार ?
हो जाय कोई तानाशाही ऐलान
हो जाय मुझे भी देश निकाला
क्योंकि, कहना है मुझे भी अब
सच और सिर्फ सच !
आदमी की शक्ल में आदमखोर...
सच कहती है नसरीन,
सिर्फ सच,
झूठ से नफरत है उसको
चाहे उसके बदन पर
दुनिया का सबसे कीमती कपड़े
क्यों न हो।
कब सीखेंगी दुनियाँ
झूठ से नफरत करना
बेइन्तहा।

मेरी लाढ़ो

तू है, हर क्षण-क्षण
जैसे मेरी स्मृतियों में
कलम की रोशनाई
और रंगों में रक्त संचार
की तरह।
मेरी मृदुल सुखद पलों की
विपुल जिंदगी
मुझसे जन्मी
मेरी रानू,
तेरे बगैर मैं कहाँ ?
छायी हो तुम
मेरी दुनियाँ-जहान
और मेरे कण-कण में
अपने पूरे वजूद के साथ
हर एक निशां में
मौजूद है तू।
आज पता नहीं क्यों... ?
तुम्हें देखकर सोचती हूँ
कि हटा लूँ
तेरी जिंदगी से स्नेह में पगी
अपनी दी गई,
सांत्वना, सलाह, आश्वासनों
जैसे शब्दों का रसायन।
घुटनों पर बैठी
मैं, बांह पसारे, अब ना दूँ आवाज,
कि आ...आ...आजा... आ... जा
पां... पां... पईया-पईया
चल के दिखा।
और बनूँ सहारा निश्छल
उन लटपटाते-लड़खड़ाते
कदमों का

बावजूद, इसके
मैं तेरी माँ हूँ,
हाँ मेरी लाडेसर,
मेरी चुनमुन चिरैइया
सुन। दे दे मुझे अपना गम
अपने आँसू और उदासियाँ।
कहते हैं न,
उड़ान पंखों से नहीं
हौसलों से होती है,
फिर तू ऐसी-वैसी बातों पर
क्यों रोती है ?
पता है मुझे
अपने जन्म दिन पर भी
उदास हुई होगी तू
छलकी होगी मासूम आँखें भी
किसी कायर की कायरता से
मेरी रानो !
गम अब नहीं
तू हिम्मत कर,
भर फेफड़ों में
ताजी मीठी, सोंधी-सोंधी
ठण्डी हवा
ले उड़ारी बेखौफ
तोल अपना 'पर'
और लेले अपना
सारा का सारा- आकाश।

संपर्क:

सम्राट चौक,
पूर्णिमा- 854 301,
मो. 09431865979

सीता

धरती फटी-फटती चली गई धड़-धड़-धड़ समा गई सीता उसकी कोख में स्तब्ध और निर्वाक् सा तक रहा था पूरा दरबार राम का यह क्या ? जिस कोख से पैदा हुई उसी में लिया पुनः आश्रय.... ? ? क्यों सीता धरती में ही क्यों समा गई अन्यत्र क्यों नहीं खोजा कोई आश्रय वाल्मीकि ने तो पिता तुल्य पदभर ले ही लिया था फिर भी पुनः माँ की ही कोख में समर्पित क्यों... प्रश्न पर प्रश्न पर उत्तर सदैव निरुत्तर... पर उतर रहा था राम के हृदय में रहस्यमय गुहा की तरह निरुत्तरित अंधकार ! सीता कहाँ थी अब बच रही थीं सिर्फ पीड़ा, अपमान, लांछन	की बनी वे दो आँखें जैसे रक्त से भरी अग्निशिखा जिनकी चिंगारियाँ ध्वंस का बिगुल बजा रही थी। ऐसी ही हो गयी थी वह समस्त रचनात्मकता, मातृत्व, पत्नीत्व अब सिमट गया था के परम मात्र अस्तित्व में। 'स्त्रीत्व' एक असाधारण, विराट प्रश्न चिह्न कहाँ थी क्षमता किसी में कि थाम ले इस ऊर्जा को... केवल धरती तुम ही हो, वह सहनशील ऊर्जावान तेजोमय माँ जो थाम लेती है स्त्री और उसके समस्त प्रश्नों को, अर्थात्; तो फिर क्या सीता अवगत थी इस सत्य से कि अवध में जब खड़ा होगा स्त्रीत्व का प्रश्न अपने बृहत्तम रूप में तो मर्यादा पुरुषोत्तम भी आबद्ध होंगे प्रश्नों के आवृत्त में, राम का समस्त व्यक्तित्व हो उठेगा विखण्डित	उनके ईश्वरीय रूप एवं महिमा पर लगेगा ग्रहण काला उजाला मुँह छुपाने को हो जायेगा विवश ग्रहण; नहीं-नहीं चीत्कार कर उठा सीता का अन्तर्मन राम पर ग्रहण, मर्यादा पुरुषोत्तम के व्यक्तित्व का हनन; नहीं- नहीं यह स्वीकार्य नहीं!! उस दिन फिर से हुर हाई स्त्रीत्व की जब सीता ने कहा नहीं चाहिए मुझे इस स्वरूप का ग्रहण! “मैं पत्नी तब भी थी, जब निर्वासन में साहचर्य था मैं पत्नी आज भी हूँ जब निर्वासन निस्संग है।” अब रक्षा करनी ही होगी राम के ईश्वरीय स्वरूप की तब है मर्यादा पुरुषोत्तम, अब धरती की कोख से ही होगा संयोग अतः अब थाम लो मेरा चिर वियोग-चिर वियोग।
--	---	--

स्त्री-1

अक्सर तलाशती हूँ स्वयं को
उन किशोर उम्र लड़कियों में
मुस्कुराती शोख अदाओं में
मैं भी ऐसी ही थी,
पर परिवर्तन का चक्र,
'मैं', 'मैं' न रही।
देर तक खिलखिलाकर कब हँसी थी मैं;
पिछली बार की कोई बात याद नहीं आती।
वो लापरवाह सी जिंदगी कहाँ छूट गई।
छोटी-छोटी व्यथा को भी इतना बड़ा बताना
जैसे कि बस मेरी ही व्यथा महत्वपूर्ण है।
वो सारी सरलताएँ मुझमें नष्ट हो गई।
सरलता का त्याग और जटिलता का ग्रहण
ही जैसे नियति बन गई।
जानते हो क्यों;
क्योंकि अब परिपक्व हो चुकी हूँ।
चंचलता त्यागकर स्त्री बन गई हूँ।

स्त्री-2

कैसी होती है वह ?
हृदय में क्या छुपाये रहती है ?
वह स्याह रातों में
चुपचाप क्यों रोती है ?
और पलकों में बंद करके
कौन से ख्वाब देखती है
जरा संयत होकर टटोला स्वयं को
आवाज आयी अंतर से
शांत और गंभीर
'आजादी का ख्वाब'
और यह शब्द घुल गया मुझमें
हाँ-हाँ यही तो तलाश रही थी मैं भी
पर शब्द आत्मा से जुबान पर नहीं आते।
गर, शब्द ही मुक्त नहीं हो पाते स्त्री से
तो फिर आजादी का क्या अर्थ ?
और घर बाहर की तमाम शृंखलाओं में कैद रहेगी
'आजादी'।

संपर्क :

पूर्ति फ्लावर्स, फ्लैट नं.- E-2/207 जलकल, पो. महेश तल्ला
बजबज ट्रंक रोड, कोलकाता- 700 141, मो. 9007868321

डॉ. शांति सुमन

अब मैं जहाँ हूँ वहाँ से अपना अतीत, अपने बचपन को देखती हूँ तो वह किसी मूर्तिकार की उस अनगढ़ मूर्ति की तरह दीखता है जिसको जगह-जगह से तराशकर छोड़ दिया गया हो। सहज और अचिंतित सुंदरता ही जिसका वैभव हो। उन दिनों के निम्न मध्यवर्गीय परिवार के बच्चों से कई अर्थों में समानता के बावजूद मेरे बचपन में कुछ वैसा था जो मुझको दूसरे बच्चों से अलग करता था। संगीत की किसी आहट और गहरे आर्तनाद की तरह आज भी उसकी अनुगूँज सुनाई पड़ती है।

मिट्टी की भीत पर फूस की छानों से बने छोटे-बड़े घरों वाला मेरा गाँव तब जितना सुंदर लगता था, आज नहीं लगता। तब एक सीधी पगडंडी भी मेरे गाँव से होकर नहीं गुजरती थी। मेड़-मेड़ या बीच खेत से ही होकर लोग आते-जाते थे- स्टेशन या बाजार या विवाह के अवसर पर बारात लेकर भी। तब बैलगाड़ी के सिवा आवागमन की कोई दूसरी सुविधा नहीं थी। उन्हीं दिनों गाँव में 'लीक' बनना शुरू हुआ था। छोटे घरों-झोपड़ियों से उठते धुँओं के गुब्बारे, सुबह होते ही चिड़ियों की चह-चह के साथ घरों से निकल आते गरीब बच्चों की चहल-पहल के बीच हल-बैल लेकर निकलते छोटे-मझोले किसान के हलवाहे, जन-बनिहार, कुओं से जल खींचती छोटी लड़कियाँ और नयी बहुएँ, लोगों में काम करने का उत्साह और चिंता भी और सबके ऊपर फसलों की हरी सुगंधों में डूबा खेत, जल-चाँचर-अपने दलान या खिड़की से उन सारे परिदृश्यों को देखती मैं मन ही मन विमुग्ध रहती। किसी महाकवि के उदास मन से लिखे वृत्तांत की तरह मेरा गाँव प्रसन्न नहीं दीखता था। खेत उपजता था, पर उतना नहीं जितने से अमीर-गरीब सबके पेट भर सके। लोग काम करना चाहते, पर काम नहीं थे। गरीबी, अशिक्षा और अंधविश्वास की तिकठी पर टंगा मेरा गाँव किसी बड़े बदलाव की प्रतीक्षा करता था।

मेरे दादा तहसीलदार थे। मेरे पिता डिपेंस में नौकरी को त्यागकर खेती-बाड़ी का काम देखने लगे थे। घर में आर्थिक अभाव नहीं था, फिर भी मुझको टोला और गांव की गरीबी और विशेषकर अपने संगी-साथियों के दुख बहुत सालते थे। सुरेन्द्र मुझसे छोटा और छोटे क्लास में भी पढ़ता था। वह अक्सर भूखे पेट स्कूल जाता था। मैं खाने तब बैठती जब वह आ जाता- स्कूल जाने के लिए। मैं बार-बार भात-दाल आदि मांगकर थाली में जमास कर लेती थी, बीच में ही उठकर सुरेन्द्र को खाना खिला देती थी। खाना बनाने वाली ने एक दिन मुझको चेताया और कहा कि 'दोसर बेर आब अहाँ कँ दालि-भात नय भेटत'। मैंने दादी से कहकर उनको डाँट लगा दी। मेरा उन दिनों संयुक्त परिवार था-बड़ा परिवार। वह खाना बनाने वाली कभी उगे सूर्य को जल नहीं दे पाती थी। गरीबी से जन्मे दुख और उसकी विवशता को मैं आज तक नहीं भूल पाई हूँ।

सरगम के सुर साधे

पच्चीस से अधिक गाँवों में मैं पहली थी जिसने मैट्रिक की परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की थी। उन दिनों गांव से बाहर भेजकर बेटी को पढ़ाना एक दुःस्वप्न था। इसलिए मेरा विवाह हुआ और मैं शहर आई। मुजफ्फरपुर (उत्तर बिहार) उन दिनों शहर नहीं एक बड़ा कस्बा था जहाँ दो-चार घंटों के लिये बिजली आती थी। जीने की कई-कई असुविधाओं के बीच मुझको जीवन की प्रेरणा मिली और मैं यहाँ हूँ। कुछ भी नहीं भूली मैं। मेरी असुविधा भी है कि मैं कुछ भी नहीं भूलती। मेरे साथ वे सारी स्मृतियाँ, सारे परिदृश्य लगे हुए हैं। मन से निकलकर वे इस तरह कलम में उतर आते हैं और रचना बनती है- 'धूप रंगे दिन' -

एक पुत्र को जन्म दिया मेरी माँ ने
मेरे जन्म के पहले
पिता की डिफेंस की नौकरी और गाँव में
'मालिक' का घर बड़ा उत्सव मना
पूरे गाँव तक गई खुशियाँ
घर से निकलकर

पर नहीं रहा जीवित वह
पूरे घर में फैलता एक लंबा सन्नाटा
दुखों से भर गये खुशियों की गवाही देते क्षण
धर्मप्राण मेरी दादी जिनका सुहाग-सुख खो गया था
दो बच्चों के बाद ही

मंदिर-मंदिर गई, मन्तते मांगी पीर की मजारों पर
कबूला बलि को भी काली-थान में
धान की 'जूटी' बहायी गंगा में
घटित होते हुए देखा मैंने सारी स्थितियों को
अपने जीवन में

कितने तीर्थ-व्रत किये दादी ने
कथाएँ उनकी बेचैनियों की सुनीं मैंने लोगों के मुँह से
सिर पर उठा लेती थी दादी घर को
मेरे जरा सा रोने पर
गोद से नीचे नहीं उतारा फुआ ने कितने ही दिन
अपनी डायरी में लिखा पिता ने-
'माई वाइफ गेभ बर्थ टू ए ब्यूटीफूल डॉटर'
दुलार तो नहीं किया गोद में लेकर, पर लिखा डायरी में
मेरे लिये अपने मन का प्यार
डायरी का वह पन्ना पढ़ा मैंने बड़ी होने पर सौ-सौ दिये
जले मेरे आगे-पीछे
वसंत हरियाया पूरे जीवन का
जैसे हहराती कोसी की धार चली आई मेरे घर

दादी के बनाये अभ्यारण्य में सबसे ऊपर थी मेरी जगह
कुछ भी नहीं कहता कोई मेरे मन के विरुद्ध
कोई मुझको नहीं मारता मैं चाहे जिसे मारूँ
शामिल होने लगी थी स्वाभिमान के साथ
जिद भी उन्हीं दिनों
गुलाब के बीच उगने लगा था, सदाबहार का पौधा
मुझे याद है माँ के 'बेरहट' खाने की बात
भुने हुए मटर और चूड़ा से भरी कटोरी फेंक दी
आंगन में पलक झपकते मैंने
रोई जोर-जोर से रुआँसे होते रहे बच्चे-
नदी और बादलों के बीच खड़े रहे जैसे
बाद में जान पाई अबेर का जलपान
होता है 'बेरहट' मैथिली में
मुझको याद है अन्न देकर ही खरीदते थे लोग
नमक-तेल-घरेलू चीजें
और आम के मौसम में आम देकर
एक आम देकर लिया था कान का इयरिंग
'बकोलिया' से मैंने।
काँच का नहीं था वह, प्लास्टिक था शायद
खूब रोब चला था मेरा उसका पहनकर-
'बकोलिया' फिर नहीं आया
'भट्ठा' छुआ था
मास्टर जी को पीली धोती और दक्षिणा देकर
एक भाई के साथ
ओ ना मासी लिखकर दिया
मास्टर ने बार-बार लिखने के लिये
बाँस के फट्टे से बनी बेंच बाला
गाँव का स्कूल ही था पहला स्कूल
बहुत गुस्सा वाले मास्टर जी ने एक बार कान ऐंठ दिया था
मेरी दोस्त सुधा का- एक लड़का को मारा

बाँस की 'करची' से
 बदल गया था मास्टर मेरे अनशन पर
 मुझको याद है गाँव में आया था सनलाईट साबुन
 पहली बार घर में बाबू जी ने खोजा उसे
 किसी मुकदमे की तारीख पर सहर्शा जाने से पहले
 पानी भरी बाल्टी में डाल दिया मैंने उसको चुपचाप
 आधा से अधिक गल गया वह
 किसी बच्चा का काम है सबने कहा
 फिर तो डाँट पड़ी बच्चों को, कितने को थप्पड़ भी
 रात में दादी के पूछने पर 'बाबू, तू फेंकने रही'
 कसकर लग गई मैं उनकी देह से- जैसे फिसलने पर मिले
 झौआ का पौधा धार में पाँव के पास
 बच्चों की लीडर मैं- कोई मेरा बस्ता ढोता
 कोई माथे पर लेकर चलता मेरी नई कॉपी को
 कीचड़ धोने के लिये कोई पानी लाता दौड़कर
 इसके लिये कितने बार बचाया मैंने कितनों को
 मास्टर जी की छड़ी उठ जाती
 जब कोई 'लिखना' लिखकर नहीं लाता
 मैं बोल देती इसकी कॉपी छूट गई मेरे घर।
 वकील धर्मशीला लाल बनने की बात मन में आई थी
 तभी दिशा बदल दी एक बात ने मेरे जीवन की
 जब नौकरी में थे बाबूजी
 जमालपुर से उनकी बदली हुई इलाहाबाद
 अपने पास ही रखा दादी ने मुझको
 मैंने अंधेरे-उजाले देखे साझा परिवार के
 मेरे घर से ही बहुत कुछ पाते थे
 गाँव के गरीब लोग
 बड़ी हवेली था उनके लिये हमारा घर
 पर घर के लोग ही विरुद्ध थे घर के
 लेकर सारे गहने माँ के और मेरे पाँव के चाँदी के रुनझुन
 बजते कड़े
 खेत खरीद लिये बाबूजी ने
 बीघे भर के आंगन में लोट-लोटकर रोई मैं-
 सूज गई आँखें
 औंधे कजरौटे सा दीखने लगा था आसमान
 घर जब अलग हुए, खेत बँटे तो उनमें

एक टुकड़ा भी नहीं था बाबूजी के नाम
 कई सारे धागे लिपटते गये जीवन के सच के
 कछेर की हवा, कोसी की धार में बहती शंखों सी चमकती
 मछलियों की आँखें
 खूँटे से गायब होते बैल, उदास पड़े पगहे
 यतन से पाला गया हिरन की परछाई
 आसिन की दशमी में देवी के लिये
 सिहकती हवा और ओस की युगलबंदी में
 तोड़ते तीरा, अड़हुल, कनेर और हरसिंगार के फूल,
 अपने छोटे होते कपड़े छोटे भाई बहनों को देने की लत-
 सब कुछ है मेरे नाम
 इसी में बनता है एक गीत जब कोई अपना मिलता है-
 एक बोल मीठा जो तुमने कहा
 टेसू के फूलों में
 रंग आ गये
 लोट-लोट जाती है
 धानों की बालियाँ
 उतरे हैं झूले हवाओं के
 पहनकर मंगटीका
 नाची हरियालियाँ
 मुसकियाँ भरे मुख दिशाओं के
 पोर-पोर बिंधते जो मन ने सहा
 पलकों के झालर में
 गीत आ गये
 साँसों को रोक उड़ा
 हवाओं में तिनका
 लगती रिश्तों की गंध उतरने
 शाखों में धूपों के
 कुछ सगुन सा खनका
 मन में लगती यादें गमकने
 धूप दिन आँखों में भींगकर दहा
 खेतों के मेड़ों में
 जल समा गये
 पीड़ा के जो माने
 जानते बरसों से
 सावन ने बहुत उसको गाया

सरगम के सुर साधे

सूखे से मौसम में
डहकते हंसों से
मारू विहाग किसने सुनाया
अपने सपनों की नींदों में नहा
दिन कल अधजागे से
पल थमा गये।

अब बाद इतने वर्षों के जिनमें शामिल हैं कई उत्सव दिन
लहरों पर बजते जलतरंग की किलकारियाँ
अगहनी धान की फुनगियों पर इमन गाती हवायें
लाल, हरे, नीले, कलई, गुलाबी, धानी, चम्पई जाने कितने
रंगों के फ्राकों के शरद में टँके गये अगरू धूम
बजते घंटे और मृदंग
इस घने कुहरे में जो नहीं दीखता
मगर जो वहाँ है
उस आधी-अधूरी जिंदगी का पूरा संसार
मेरी कलम की नोंक पर थरथराता है
एक लालिम पत्ती टूट कर उदास बैठी है खिड़की पर
इस समय किसी कोमल कविता की कोंपल
नहीं है मेरे हाथ में
मेरी कलम की जड़ों पर थरथराती मेरी आत्मा है और यह

गीत—
हम टूटे पुल से हुए
हो गये भीतर तक सूने
नदी एक वहाँ बहती थी
बहुत खूबसूरत सी
सेमल के फूल में अब तो
उड़ती हुई रूई सी
हम छोटे घर हुए
बाढ़ में पाये दुख दूने
रखकर जेब में भावों को
बाजार तलक दौड़े
दौड़ लगाते थे गाँव में
वे सूरज के घोड़े
हम माँ के दुख से हुए
छान से लग जाते चूने
लगे चिड़ियों के डैनों से
उड़ते बादल के दिन के
दिखते नील पंखुड़ियों में
कब के सूखे तिनके
हम उड़ते डैने हुए
लगते सीवान को छूने।

संपर्क :

द्वारा श्री अरविंद

2, कैंजर बंगला, कपाली रोड कदमा (कदमा-सोनारी लिंक),
जमशेदपुर- 831005 (झारखंड), मो. 9430917356

मदर मेरी

कमल कुमार

खिड़की के उस तरफ कुर्सी पर बैठा व्यक्ति वैसे ही ठंडे और निसंग-भाव से कागजों को उलट-पलट रहा था। इस कॉलम में बच्चे के पिता का यानि अपने पति का नाम भरिए।

‘इसकी जरूरत नहीं है।’ स्त्री ने तल्खी से कहा था।

मैम, यहां कॉलम है न बच्चे के पिता के नाम का। तो? बच्चे के पिता नाम तो होना ही चाहिए। आप यहां इस कॉलम में बच्चे के पिता का नाम भरिए।

देखिए, मेरा तलाक हो चुका है, वह भी दस साल पहले। मुझे अब उससे कुछ लेना-देना नहीं। इसमें तलाक का कागज भी है। आप मेरे कागज प्रोसेस कीजिए।

आपको बताया न मैम। इस कॉलम में पिता नाम भरिए। उसके दस्तख्त भी चाहिए।

क्यों? क्यों चाहिए उसके दस्तख्त।

बच्चे का बाप है। अगर आप बच्चे को लेकर विदेश में रह जाएं तो-5।

मैं कहीं भी रह सकती हूँ अपने बच्चे के साथ। बच्चा मेरा है। इसकी कस्टडी के कागज हैं। अब हमें उनसे कुछ लेना-देना नहीं।

आपको कुछ नहीं लेना, पर अपने बच्चों का पासपोर्ट तो लेना है। ये लीजिए मैम अपने कागज पूरे कीजिए।

मेरे सारे कागज पूरे हैं। वह उसे कागजों ब्यौरा दे रही थी।

आप हमारा समय बर्बाद कर रही हैं। जाइए, आप ऊपर जाकर पासपोर्ट अफसर से बात कर लीजिए।

बेबस उसने अपने कागज समेटे थे। वह मुड़ी तो देखा, वही कल वाली लड़की थी, उसके पीछे लाइन में खड़ी थी।

वह जाने लगी तो उस लड़की ने रोककर पूछा था, आप पासपोर्ट अफसर से मिलने जा रही हैं। वह बिना उसकी बात का जवाब दिए, वहां से खिसक गई थी।

ऊपर गई थी। पासपोर्ट अफसर अपने कमरे में नहीं था।

‘मीटिंग में हैं सॉब! आप बैठिए। आ जाएंगे।’ लड़के ने कहा था। उसने घड़ी देखी थी। अभी आध-पौने घंटे में लंच हो जायेगा। वह बेचैन-सी उठकर बाहर बरामदे में घूमने लगी थी।

वही व्यक्ति था, 'आप उन्हें ऊपर देख लीजिए। शायद वहां हों।'

वह ऊपर गई थी। चौथी मंजिल थी। लिफ्ट का कुछ पता नहीं था। उसने देखा बरामदे के कोने में दो व्यक्ति ताश खेलने में डूबे हुए थे। उसने पूछा था तो पता चला था, इन्हीं में से एक पासपोर्ट अफसर था। वह पास गई थी- एक्सक्यूज मी सर।

कोई असर नहीं हुआ था। 'सर एक्सक्यूज मी।' उसने बड़ी कठिनाई से ताश के पत्तों से नजरे हटाई थीं। उसने अपना कार्ड दिया था, 'आई एम फ्राम मीडिया न्यूज', उसने अपना कार्ड उसकी तरफ बढ़ाया था, 'आई स्पेशल कारसपोंडेंट। आपसे बात करनी है।'

'ओ-5 के-5 आप नीचे मेरे कमरे में बैठिए। मैं आता हूँ।'

लड़की ने अपने गुस्से पर काबू पाया था- वहीं से आ रही हूँ सर। बताया था आप किसी मीटिंग में हैं।

उसने उसकी तरफ देखा था, 'आप मुझे धमका रही हैं। मीडिया पर्सन होने का रौब दिखा रही हैं।' वह फिर से संभला था।

'आईए मैम!' वह उठ खड़ा हुआ था और उसके साथ चलकर अपने कमरे में आ गया था। उसने देखा, वही लड़की थी, बाहर बेंच पर बैठी थी। लड़की ने पासपोर्ट अफसर को सारी जानकारी दी थी। अपने सारे कागज दिखाये थे और उसने समझाया था- देखिए, उस क्रिमिनल का नाम मैं अपने बच्चे के साथ नहीं जोड़ सकती। वह पॉलीटिकल व्यक्ति है। मंत्री का अपराधी बेटा है। मेरे पास सारे कागज हैं। यह मेरे तलाक के कागज हैं। इस बच्चे की कस्टडी के कागज हैं। यह लीजिए, यह अखबार की कटिंग है। यह वही महत्वपूर्ण केस है, गीता हरिहरण का, सुप्रीम कोर्ट का फैसला है। इसमें मां को लीगल गार्जियन घोषित किया गया है।

सर, आई एम लीविंग इंडीपेंडेंटली। मैंने उससे कोई मैनेटेनस नहीं ली है। दस साल से मैं ही बच्चे को पाल रही हूँ। यह बच्चा तीन महीने का था, तब मैंने उसका घर छोड़ दिया था। आपका स्टाफ मुझे तंग कर रहा है।

ऐसी बात नहीं है मैम। कुछ औपचारिकताएं होती हैं।

उन्हें पूरा करना पड़ता है। आप तो जानती हैं कि व्यवस्था ऐसी ही है। आप एक काम कीजिए मैम। जिस सांसद ने आपके कागज प्रमाणित किये हैं, उनसे एक रेफरेंस लैटर ले आइए। बस फिर हो जायेगा काम। सॉरी मैम, फार द बोदरेशन।

मजबूर-सी वह बाहर आई थी। उसने देखा, वही लड़की थी। वह कमरे से आई तो वह अंदर चली गई। उसकी चीखती-सी आवाज आई थी- क्यों चाहिए पिता का नाम? उफ्। उसने अपना माथा पकड़ लिया था। फिर नीचे आ गई थी। उसको लगा था, चिट्ठी लेने में मुश्किल नहीं होगी। वह सांसद उसकी सहेली की आंटी थी।

उसने सांसद के पी.ए. को फोन किया था। पी.ए. ने कहा था, अभी बात करके पांच मिनट में फोन करता हूँ।

फोन आया था, आ जाइए। वह वहां गई थी। प्रवेशद्वार पर सूचना आ गई थी। वहीं से सीधी पार्किंग में गाड़ी लगाकर ऊपर चली गई थी। पी.ए. ने उसका स्वागत किया था। फोन करके उसे सांसद के कमरे में ले गया था। वह सांसद कुर्सी पर बैठी थी, उसे देखकर उचकी थी, आओ, आओ-5। परेशान न हो। पी.ए. ने मुझे सब बता दिया है। हमारी व्यवस्था ही ऐसी है। वह चिट्ठी ड्राफ्ट करके तुम्हें दिखा देता है। अच्छा, क्या लोगी? चाय, कॉफी या कुछ ठंडा? आप इस सबकी चिंता ना करें।

'अरे भई, तुम्हारे साथ भी कॉफी ले लेंगे। मैं मंगवाती हूँ।' उसने दो कॉफी का आर्डर दिया था। या तो तुम घर पर आती नहीं हो, आती हो तो ऐसा समय चुनकर जब मैं घर पर ना हूँ।'

ओ-5 नो-5 आंटी।

वह ठहाका लगाकर हंसी थी। वह चिट्ठी लेकर आ गया था। उसने दस्तखत करके अपनी मुहर लगायी थी। 'होप! थिंग्स विल बी ओ-5 के-5 नाउ।' वह शुक्रिया करके बाहर आई थी। तुरंत गाड़ी में बैठकर पासपोर्ट दफ्तर आई थी। वह चिट्ठी लेकर काउंटर पर गई थी। उसने घड़ी देखी, ज्यादा समय नहीं लगा था। कुल मिलाकर डेढ़ घंटे में सब हो गया था। उसने देखा, काउंटर पर सीट खाली थी। उसके साथ वाले व्यक्ति से पूछा था, 'अभी आ रहा है। आप बैठिए।'

‘पर भैया लंच का समय तो कब का खत्म हो गया है।’

‘वह लंच से वापिस आ रहा था मैम। वह ऊपर गया है। साहब ने बुलाया है।’

वह वहीं खड़ी रही थी। तनाव में थी। पर वह जल्दी ही आ गया था। उसने उसे चिट्ठी दी थी।

‘यह लीजिए। अब जल्दी से मेरा पासपोर्ट बन जाना चाहिए।’

‘मैम, आप जरा ऊपर चली जाइए। साहब के पास। उन्होंने ही यह चिट्ठी मांगी थी। वे ही लिखकर देंगे इस पर। हम तो कुछ नहीं कर सकते।’

उसने गुस्से में दांत किट-किटाये थे। ‘मैं ऊपर-नीचे कहीं-नहीं जाऊंगी। आपके बीच स्टॉफ में कोई कार्डिनेशन नहीं है। आपका अफसर कुछ कह रहा है और आप कुछ दूसरी बात कह रहे हैं।’

ठीक है मैम। आप यह चिट्ठी भी छोड़ जाइए। दूसरे सारे कागज भी दे दीजिए। मैम अपने पुराने पासपोर्ट की कॉपी भी दे दीजिए। उसने कॉपी दी थी।

‘जी मैम। इसमें तो बच्चे के पिता का नाम है।’

यह तलाक से पहले का पासपोर्ट है।

ठीक है मैम। आप कल आ जाइए।

गुस्से में वह तिलमिलाई थी। पर अपने को रोका था। अब सारी औपचारिकता पूरी हो चुकी है। पासपोर्ट लेने तो कल आना ही पड़ेगा।

वह बाहर आने के लिए मुड़ी तो देखा वही लड़की थी। थोड़ी अस्त-व्यस्त लगी थी। घुटनों पर फाइल रखकर कुर्सी पर बैठी कागज अलट-पलट रही थी।

उसे देखकर वह उचकी थी।

‘मैम...’ उसने पुकारा था। ‘आपका काम हो गया।’

रेफरेंस की चिट्ठी दी है। कल आने के लिए कहा है।

‘जी-5’ वह फिर उसी मुद्रा में बैठ गयी थी। और कहा था, मैम मैंने तो रेफरेंस की चिट्ठी भी दी है। पर यह लोग परेशान कर रहे हैं। उसने सिर हिलाया था। जाकर बैठ गई थी।

अगले दिन वह पहुँची थी। भीड़ उतनी नहीं थी। वह लाईन में खड़ी हो गयी थी। जल्दी ही उसका नंबर भी आ

गया था। काउंटर पर बैठे आदमी ने कहा था, ‘‘मैम, आप पहले उस सामने वाले काउंटर नं. 2 पर फीस जमा करा दीजिए।’

वह काउंटर-2 पर गई थी, उसने फीस जमा कराई थी। लौटकर वहीं आ गई थी।

देखा, वही लड़की थी, चंडी का रूप धारण किये थी, वह दहाड़ी थी, ‘क्यों चाहिए आपको पिता का नाम?’

मैम आपका बच्चा है तो पिता का नाम तो चाहिए ही होता है।

‘इसका कोई पिता नहीं है। मेरा कोई पति नहीं है। मेरी शादी नहीं हुई है। समझे आप! पांच दिनों से आप एक ही रट लगाए हो, पिता का नाम! पिता का नाम!

नहीं है इसका कोई पिता। उसने पैर पटके थे और जोर से चीखी थी, ‘आई एम रेप विक्टिम। गैंगरेप हुआ था। मेरा गैंगरेप हुआ था!! चार लोगों ने रेप किया था मेरा। पंद्रह साल की थी। स्कूल बस में रेप किया था चार लोगों ने। नाम बताऊँ, लिखिए, बस का ड्राइवर मानक चंद, बस का कंडक्टर पांडे, स्कूल का चपरासी यादव और स्कूल के सामने ढाबे का मालिक सतबीर!

लिखिए पिता का नाम लिखिए। मुझे भी बता दीजिए। लिखिए पिता का नाम, लिखते क्यों नहीं, मेरी तरफ क्यों देख रहे हो? पूरी लॉबी में सन्नाटा छा गया था। लोग अपना काम छोड़कर अपनी-अपनी जगह जम गए थे। वह दुगुने जोर से चीखी थी, जाइए, इसके पिता से दस्तख्त करवा लीजिए। कस्बे में जाइए। हो सकता है, वे अभी भी छुट्टा सांड की तरह घूम रहे हों। जाइए आप, किसके दस्तख्त करवाएंगे। बोलिए-5। वह चीखी थी।

और कुछ चाहिए। कोई और सूचना चाहिए। लिखिए पिता का नाम लिखिए आप। सांप क्यों सूँघ गया आपको-5? चुप क्यों हो गए आप?

ऐसा लग रहा था जैसे गोलियाँ चल रही हों, ठांय-ठांय-ठांय। सब सहमे से अपनी जगह चिपक गये थे। वह लड़की लड़खड़ाई थी। उसके साथ बैठी महिला उठकर आ गई थी, उसे संभाला था। गले से लगाया था, शांत हो जा मीनू-5, शांत हो जा बच्ची-5। अपने को संभाल। तू तो बहादुर बच्ची है न!

वह उसके पास आ गई थी, पांच दिनों से देख रही हूँ आप भी परेशान हैं। आपकी भी समस्या पिता के नाम की है।

मैं पंद्रह साल की थी, जब यह हादसा हुआ। मेरे माता-पिता मुझे लेकर यहां आ गए थे। मेरा अबासर्न नहीं हो सका था। ट्रामा में रही कई महीने, अनीमिक थी। बच्चा पैदा हुआ। इसे मरवाया जा सकता था। एक विकल्प यह भी था। इसको अनाथ आश्रम में दिया जा सकता था। फिर मैंने सोचा था, इसमें इस अबोध का क्या कसूर। यह तो निष्पाप है। इसने तो ऐसा कुछ नहीं किया जिसकी इसे सजा दी जा सके। आखिर मेरे खून, मांस-मज्जा से बना है। मेरी कोख से पला है। मैंने इसे स्वीकार लिया था। अब बताइए, इनको क्यों चाहिए बच्चे के पिता का नाम?

अचानक वह उठी थी। काउंटर पर बैठे व्यक्ति को ललकारा था, पांच मिनट में पासपोर्ट चाहिए मुझे-5।

धीरे-धीरे कठपुतलियों से लोग हिलने-डुलने लगे थे। काउंटर पर बैठे व्यक्ति ने उसकी ओर इशारा किया था, ‘‘मैम, अपना पासपोर्ट ले लीजिए।’’

वह गई थी, अपना पासपोर्ट ले लिया था। उसने उसे खोला था और एकाएक चीखी थी, ‘यह क्या किया?’

बच्चे के नाम के सामने पिता का नाम लिखा था।

वह व्यक्ति घबराया-सा था, दी गई सूचनाओं के आधार पर बच्चे का और आपका पासपोर्ट रिन्यू कर दिया है।

आप पागल हो गए हैं?

यह सरकारी मामला है मैम।

अगला, आप आइए...

लाइन से निकलकर पीछे खड़ा आदमी आगे आ गया था।

सामने वह लड़की गुराती हुई बैठी थी। काउंटर पर वह आदमी कभी कागज पलटता, कभी उस लड़की को देखता हक्का-बक्का बैठा था।

उसने देखा सब पुरुषों के चेहरों पर उस लड़की के दागी गई गोलियों के गहरे नीले-काले निशान पड़ गए थे। उनमें से कहीं-कहीं खून भी टपक रहा था। उस लॉबी में औरतें कम थीं। कुछ काउंटर के इस तरफ, कुछ दूसरी तरफ तो भी कुछ औरतें थी। आसपास के चर्चों से निकलकर मदर मेरी के चित्र और प्रतिमाएँ यहां आ गई थीं और वे औरतें उन चित्रों और प्रतिमाओं में समाती जा रही थीं। वह चित्र आलटर पर पीछे रखे मदर मेरी का चित्र था, जो उस लड़की में समा गया था।

संपर्क : 09810093217

बॉम्बे कैफे हाउस

रंजना श्रीवास्तव

यह मुंबई है दोस्तों। मेरे सपनों और मेरी आजादी का शहर... मैं कौन ? मैं इस बॉम्बे कैफे हाउस की मालकिन। मिसेज़ दिव्या सरकार। बोरीवली का एक भीड़ भरा इलाका है। शुरू-शुरू में आई थी तो चाय की छोटी सी शॉप खोली थी यहाँ। कटिंग और फुल, स्ट्रोंग और लाइट, ब्लैक और मलाई वाली चाय बेचा करती थी। यहीं सामने एक बेंच हुआ करता था जिस पर लोग-बाग चाय पीने के लिए बैठ कर रहे थे एक मेज़ थी जिस पर हिंदी, अंग्रेजी और मराठी के अखबारों की कुछ प्रतियाँ होती थीं। मुझे यह देखकर अच्छा लगा करता था कि लोग चाय पीते हुए अखबार पढ़ा करते हैं। अब यह शॉप छोटे से कॉफी हाउस में तब्दील हो गयी है। कुछ खूबसूरत कुर्सियाँ, फर्नीचर और कुछ स्टूल, एक सोफा भी है बुजुर्गों के बैठने के लिए। बगल में एक छोटी सी लाइब्रेरी भी है जहाँ साहित्यिक किताबों की भरमार है। यहाँ आठ से नौ का समय सिर्फ और सिर्फ साहित्यकारों के लिए है। यह समय कैफे हाउस के इनफार्मेशन बोर्ड पर अंकित है। मुंबई के साहित्यकार और देश के चर्चित चेहरे इस कैफे हाउस की शोभा बढ़ाते रहते हैं। मैं भी उनके बीच में से एक हूँ, ऐसा कह सकते हैं आप। एक साहित्यकार और कॉफी की दुकान ...दरअसल ये मेरी आजादी की मशाल है जो लगातार जलकर शब्दों की रौशनी में क्रांति के अफ़साने लिखती है और मेरे लिए रोज़ी-रोटी का जुगाड़ भी करती है। यह एक साहित्यिक मंच है जिसके जरिये हम साहित्य के बड़े-बड़े कामों को अंजाम देते हैं। साहित्य आपको जीवन-यापन के लिए पैसे नहीं दे पाता और महंगाई इस क्रूर है कि पेट भरने के लिए कुछ न कुछ तो करना होगा न, तो ये मेरी आर्थिक आजादी का जरिया भी है हम रात के समय साहित्य और समाज को लेकर बहस करते हैं, देश की स्थितियों पर, सरकार के गलत रवैयों पर, लोकतंत्र की तानाशाही पर, फांसीवादी ताकतों पर, आतंक और भ्रष्टाचार पर, महंगाई की बढ़ती हुई रफ़्तार और गरीबी पर, लड़कियों और औरतों के साथ होने वाली यौन हत्याओं पर, बलात्कार एवं शारीरिक हिंसाओं पर, सांप्रदायिक उन्माद फैलाने वाले राजनेताओं की गलत बयानबाजियों पर और जो अवांछनीय व अप्रासंगिक है उनके खिलाफ शब्दों के जरिये आंदोलन खड़ा करते हैं, शांति जुलूस निकालते हैं, मांग पत्र रखते हैं और बदलते समय की व्याख्या में लीन हो जाते हैं। इस कहानी के पहले की कहानी में एक औरत की आजादी को गुलामी के बीच कैद करके लंबे समय तक अंधेरे में रखा गया था वही औरत आजकल इस कॉफी हाउस की मालकिन है। जी हाँ, मैं दिव्या सरकार यानि कि खुद की ही बात कर रही हूँ। सही मायने में अब मैं एक लेखक की जिंदगी जी पा रही हूँ। मैं दिल्ली में कई सालों तक फंसी रही और दिल्ली मुझे अपनी गिरफ्त में लेकर नचाती रही क्योंकि तब मैं अपने पति सौरभ सरकार की कस्टडी में मानसिक गुलामी को एक सामान्य औरत की तरह भुगतती रही थी। दरअसल औरत की गुलामी उसकी मानसिक कमजोरी के शिकंजे में ही कैद है, वह समाज से डरी हुई और घबराई हुई जीव है जिसे अपने भीतर की ऊर्जा का अहसास तक नहीं। अब मैं जब अपनी मानसिक गुलामी से आजाद हूँ और आर्थिक गुलामी से भी। इस देश और समाज को लेकर राजनैतिक बहसों में खुलकर हिस्सा ले सकती हूँ,

साहित्यिक संगठनों में शिरकत कर सकती हूँ, साहित्यिक आंदोलनों की मसीहा बन सकती हूँ और शांति जुलूसों में अपनी आवाज़ की अभिव्यक्ति पर देश को आइना दिखा सकती हूँ। बस कलम की धार का तीखा होना ज़रूरी है।

रात के बारह बज रहे हैं और मैं पिछली स्मृतियों में गुम हूँ। कैफ़े हाउस ग्यारह बजे बंद हो जाता है तब तक बहादुर हम दोनों के लिए यानि मेरे और सौरभ के लिए रात का खाना बना चुका होता है। यहीं, पुणे का रहने वाला है और दिन में एक होटल में बैर का काम करता है। रात में मेरे ही यहाँ रुक जाता है, बोरीबली के इस टू बी एच के फ्लैट में। ड्राइंग रूम के बाहर ही बालकोनी में एक खाट डाल लेता है। मुंबई हर किसी को जीना सिखा देती है। मुंबई में अच्छे लोगों की कमी नहीं है बस आपको पहचानना ज़रूरी है। मुंबई हर किसी को सपने दिखाती है और सपने देखने वाला इंसान ही जिंदा इंसान है ऐसा मैं मानती हूँ। बहादुर और मैं एक-दूसरे के सपनों में सहयोग देने के लिए पैदा हुए हैं। वह मेरे बेटे अंशु की उम्र का है इसीलिये मुझे उसमें अपने बेटे का अक्ल दीखता है। उसे मुंबई में रहने के लिए घर नहीं मिल रहा था और मुझे रात का खाना बनाने के लिए कोई ऐसा आदमी जो मेरा विश्वस्त बन सके। अंशु यानि असीम इन दिनों मुंबई से बाहर किसी फिल्म की शूटिंग में व्यस्त है। वह जब घर लौटता है तो कुल चार जनों के लिए रात का खाना यह बहादुर ही बनाता है। मेरी छोटी सी गृहस्थी गुलज़ार है क्योंकि अब मैं पूरी तरह से आजाद हूँ। सौरभ भी अब मानने लगे हैं कि मानसिक रूप से आजाद औरत ही सही मायने में एक अच्छी पत्नी साबित हो सकती है। दबाव की स्थितियाँ किसी भी औरत के लिए किसी कैद से कम नहीं होती पर यहाँ तक पहुँचने के लिए जिस सकारात्मक साहस की ज़रूरत थी वो मुझमें नहीं था तो चले हम क्यों न अपने संघर्षों की कहानी से पहले ही रूबरू हो लें। ये वाकया उन दिनों की है जब मैं एक लड़की हुआ करती थी, यही कोई पच्चीस-छब्बीस साल की नवयौवना। मैं दिव्या सरकार अब उन पच्चीस सालों के सफ़र में हूँ जो बीत चुका है और जिसे मैं आपको अपनी कहानी के रूप में सुना रही हूँ।

तो चलें फ्लैश बैक में। वो रिमज़िम बारिश का एक

ऐसा दिन था जब बादल बनने की हसरतें आसमान छूने लगीं थीं। मैं बूंदों के साथ नाचना चाहती थी, उनकी पायल की आवाज़ को अपनी रूह में उतार लेना चाहती थी पर ऐसा लग रहा था जैसे कि मैं, मैं नहीं हूँ यानि कि वो पहले वाली दिव्या, जैसे कि कुछ टूट सा रहा था, बिखर रहा था और समेटना मुश्किल सा था मेरे लिए। मेरे भीतर की लड़की उदासी के शिकंजे में फंसती जा रही थी पर क्यों? मैंने तो अपनी मर्जी से शादी की थी। ये कहानी दिल्ली के लाजपत नगर के एक छोटे से फ्लैट से शुरू होती है जो शादी के बाद मेरा पहला आशियाना था। शादी के दो-तीन सालों के बीच मैं देख रही हूँ कि मैं अपनी बेचैनियों और उलझनों की अभ्यस्त होती जा रही हूँ और ये सोचकर एक झुरझुरी सी हुई। मेरी वो पहले वाली चंचलता अब कहाँ गयी? इतनी स्थिरता तो मेरे स्वभाव में नहीं थी। शादी के पहले वाली बेफ़िक्री भरी आवारगी मुझसे कोसों दूर चली गयी थी। मेरे जिस्म में उठती बेचैनी भरी लहरों ने मुझे चेताया है। मैं दुबारा बेचैन हो रही हूँ। सौरभ के पास ठहरने की खुशियाँ खारिज क्यों हो रही हैं। वो मुझे बेगाना सा लगने लगा है आजकल। पिछले तीन सालों से एक ही आदमी के इर्द-गिर्द घूम रही है मेरी पृथ्वी। मुझे हैरानी हुई कि मैंने आखिर इस लड़के में क्या देखा जो प्यार कर बैठी छिः... मैंने बेतरतीब बढ़ी हुई दाढ़ी में सौरभ को गौर से देखा और अपनी पसंद से विदड़ा करना चाहा। आजकल सौरभ मुझे बेहद स्वार्थी और घटिया इंसान लगने लगा है क्योंकि उसने मुझे पूरी तरह से अपनी गिरफ्त में जकड़ लिया है। ये जकड़ मुझे असहाय सा बनाती है, ये जकड़ इतनी मजबूत है कि मेरी सांसें घुटने लगती हैं, एक भंवर है जिसमें फंसती जा रही हूँ। यह एक डूब है जो मेरे भीतर की लड़की को लगातार मार रही है। मेरे भीतर की आजादी की प्यास शिद्दत से छटपटा रही है। पिछले तीन सालों में मैं अपने दोस्तों से नहीं मिल पायी हूँ, मुझे कैफ़े कॉफी डे की रंगीन शामें याद आ रही हैं, मुझे शॉपिंग के लिए अपनी दीवानगी याद आ रही है, मुझे मल्टीप्लेक्स में दोस्तों के साथ मूवी देखना और फूड कोर्ट में बैठकर मन पसंद खाना खाना याद आ रहा है, मुझे अपना शहर कोलकाता याद आ रहा है। हंसी-ठहाके, सैर-सपाटे और बेफ़िक्र

जिंदगी। सौरभ ने उसे इन्हीं आदतों के कारण तो पसंद किया था फिर भूल ही गया कि इस घर में मेरी भी कोई मर्जी होनी चाहिए। मुझे अचानक लगा कि मैं अगर सौरभ के साथ में कुछ दिन और रही तो मैं पागल हो जाऊँगी। मेरी जैसी लड़की मोहब्बत में कैसे फंस गयी और घर वालों से जिद करके उससे शादी भी कर डाली, मुझे इस बात पर अफसोस हो रहा था। मैंने अपनी सहेली सौम्या को एक दिन फोन लगाया और बोल पड़ी... “सौम्या मैं बहुत अकेली पड़ गयी हूँ यार... ये घर-गृहस्थी मेरे लिए जी का जंजाल बन गयी है। मुझे सब कुछ खोया-खोया सा लगता है, मैं खुश क्यों नहीं रह पाती? फिर उससे अपने अकेलेपन और उदासी का जिक्र किया था।” सौम्या से जब अपने दिल की बात बताई तो वह बोल पड़ी थी... “तू सचमूच पागल है यू नीड अ चेंज दिव्या।”

“पर कैसे?” मैं तो बस इस एक ही आदमी की शक्ल देख-देखकर बोर हो चुकी हूँ। उसके लिए खाना पकाना, उसी के साथ घूमना और रात में उसी के साथ झूख लड़ते-लड़ाते गहरी नींद में समा जाना ... मैं बोर हो गयी हूँ, मुझे दोस्त चाहिए, आजादी चाहिए, खुली हवा चाहिए, अपने लिए समय चाहिए, यू नो मैं खुद के हिसाब से जीना चाहती हूँ” मैंने फोन पर उस दिन सौम्या से कहा था पर सौम्या भला मेरी बातों का क्या जवाब देती? मैं जानती हूँ कि मैं अपने हिसाब से जी लेने की जिद से बुनी गयी हूँ। मुझे तकलीफ होती है जब कोई मेरे ऊपर अपनी हुकूमत चलाता है। मुझे सांस लेने में तकलीफ होती है जब कोई अपने हिसाब से मुझे व्यवस्थित करना चाहता है। मैं चौबीसों घंटे सौरभ के आदेशों के शिकंजे में फंसी रहती, उसके लिए खाना पकाती, उसकी मर्जी से घर सजाती, उसके ही हिसाब से कपड़े पहनती, यहाँ तक कि उसके हिसाब से ही घूमने-फिरने का प्रोग्राम तक तय होता, मुझे लगता कि मैं कोई अनावश्यक वजूद हूँ और सौरभ के इशारे पर नाचने के लिए मजबूर भी। ऐसा तो मम्मी-पापा के साथ भी कभी मुझे महसूस नहीं हुआ था। मुझे ये शादी किसी कैद की तरह लगने लगी थी। ऐसे में विद्रोह तनकर खड़ा हो जाता और गुस्सा चरम पर आ जाता। लेकिन धीरे-धीरे आग ठण्डी पड़ती गयी और मैं वक्त के सुपुर्द

होती गयी। एक बर्फीली मौत के बीच मानो जिंदगी का कारवां चलने लगा। मेरा पिघलना कम होने लगा था क्योंकि मुझे सौरभ के साथ जरूरी था। मेरे भीतर जमा दुःख अब बर्फ बन गया था। मेरी हंसी मेरी नहीं थी, मेरे रोने का हुनर जवाब दे चुका था क्योंकि अनदेखी यातनाओं का कुनबा मेरे ऊपर जब-तब आक्रमण करता रहता था। एक लम्बी और अंधेरी सुरंग थी जिंदगी, जिसके भीतर से गुजरना था हमें। सौरभ से होने वाली लड़ाइयों का कोई मतलब नहीं रह गया था इसीलिये मैंने खुद को एक संवेदनरहित औरत के ढाँचे में तब्दील कर लिया था। वक्त का एक लंबा इंतजार किया था मैंने। अब सौरभ मुझसे खुश-खुश रहने लगा था। उसे लगने लगा था कि मैं उसके हिसाब से ढल गयी हूँ। मैंने सुना था एक दिन सौरभ कह रहा था... “तुम एक अच्छी पत्नी हो, मेरी तमाम बातें मानने लगी हो, मेरे हिसाब से चलने लगी हो। पहले की तरह झगड़ा नहीं करती।” मैं चुप रही थी उसकी बात सुनकर। मुझे सुकून मिला था मेरी हंसी के नकलीपने को ये आदमी सच समझ बैठा है। एक क्षण के लिए मेरे भीतर की औरत जिंदा होकर उस बेवकूफ मर्द पर ठाके लगाने लगी। मैं अपनी मुर्दा हकीकतों के बाहर आने के लिए निरंतर छटपटाती रहती पर मेरी उड़ानें आकाश बनने से घबराया करती थीं। सौरभ के कपड़े प्रेस करती, उसके जूतों पर पोलिश करती, उसकी भूख-प्यास क इंतजाम करते-करते मेरे भीतर की तमाम जिंदा आदतें दफन होने लगी थीं। नौकरी भी ज्वाइन की पर गुलामी के अंधेरे रास्ते से मुक्ति न मिल सकी क्योंकि मेरे भीतर व्यवस्था की जंग खायी औरत अब तक विद्यमान थी जिसे सपने देखने तो आते थे पर क्रांति का कोई तर्जुबा ना था। मुझे पता तक न था कि दिव्या नाम की इस क्रांतिकारी लड़की को यह विवाह नाम की सामंती व्यवस्था अपनी कैद में यूँ जकड़ लेगी कि वह इसी को अपनी नियति मान बैठेगी। मेरी इच्छा के विरुद्ध मैं दो बच्चों की माँ भी बहुत जल्दी बन गयी और उनकी परवरिश में दिन-रात खुद को झोंक दिया। उन्हें बड़ा करना, पढ़ाना-लिखाना, और उन्हें काबिल इंसान बनाने में एक लंबा वक्त गुजर गया। मैं और सौरभ दोनों दुनिया की नजरों में अच्छे पति-पत्नी साबित हो रहे थे पर

मेरा किरदार अपनी लीक से हटकर बेचैनियों का शिकार बनता जा रहा था। बच्चों ने जब अपने करियर के लिए उड़ानें भरी तो मैं एकदम से खाली और अकेली हो गयी। बेटी दिल्ली की ही एक बड़ी कंपनी में सॉफ्टवेयर इंजीनियर बन गयी थी और बेटा बॉलिवुड में परदे पर अपना भाग्य आजमा रहा था। एक लेखन ही ऐसा तजुर्बा था जिसने मुझे जिंदा रखा।

सौरभ शायद मेरी चुप्पी को पढ़ने लगे थे एक दिन बोले... “दिव्या तुम खुद पर कोई ध्यान नहीं देती आजकल। पहले की तरह सजना-संवरना सब कुछ बंद कर रखा है। कहीं आने-जाने में भी इंटरेस्ट नहीं लेती। क्या बात है?” मैं उसकी बात सुनकर लगभग रो पड़ी थी। फिर कहा था उससे... “मैं चेंज साहती हूँ सौरभ, मुझे दिल्ली अच्छी नहीं लगती क्यों न हम अंशु के पास चलें और एक नई जिंदगी की शुरुआत करें।” मेरी बात सुनते ही वह एकदम से फट पड़ा था... “तुम्हारा दिमाग खराब हो गया है क्या? इस तरह की बचकानी बातें क्यों करती हो? मैं अपनी लगी-लगाई नौकरी छोड़कर क्यों भला बाहर जाने लगा। तुम्हारी तो अपनी राइटिंग है उसी में मन लगाओ न। क्या कमी है तुम्हें यहाँ “मैंने सोचा था कि जवाब दूँ और उससे कहूँ कि... “मैं तुम्हारे द्वारा सौंपी सुविधाओं के बीच अपनी जिंदगी को गिरवी नहीं रख सकती। मैं खाने और सोने के लिए पैदा नहीं हुई मैं समझ गयी थी कि मुझे खुद अपनी तकदीर लिखनी होगी और विद्रोह के लिए हिम्मत जुटानी होगी। डर धीरे-धीरे धुंआ बनकर आकाश मार्ग की ओर जाने लगा था। सामंती व्यवस्था की पकड़ से छूटती जा रही थी मेरे भीतर की औरत। उम्र भी परिपक्व हो चली थी। अगर अब भी मैंने हिम्मत नहीं की तो मौत के पहले होने वाली इस पल-पल की मौत को रोकना मुश्किल होगा। मैं सोच रही थी कि सैंतालीस (फोर्टी सेवन) की इस उम्र में भी अगर घुटन और तकलीफ झेलती रही तो मुझमें मेरा कुछ नहीं बचा रह जायेगा। मुझे बेफिक्री और आजादी चाहिए थी और एक सामान्य औरत से अलग का रास्ता अख्तियार करना था। मैं किसकी परवाह कर रही हूँ? आखिर किस तरह का डर मेरी रंगों में दौड़ रहा है जिसे मरना तो आता है पर बच निकलने से घबराता है।

मुझे इस मौत के पार की जिंदगी हर हाल में चाहिए। क्यों नहीं मैं कोई डिसीजन ले लेती हूँ और खुद को आजाद कर लेती हूँ। एक उदासी मुझे अपनी गिरफ्त में ले अपनी बेचैनियों का शिकार बनाती जा रही थी। सौरभ मेरी घुटन को महसूस करने लगा था शायद उसने एक दिन प्यार से समझाना चाहा था... “जानू, तुम्हें कभी किसी बात की तकलीफ नहीं दूंगा। ये घर, ये बैंक बैलेंस, ये तमाम कीमती चीजें सब कुछ तुम्हारे नाम ही तो हैं।” कैसे कहती मैं कि इन चीजों के इस्तेमाल की आजादी तो तुम्हारे हिस्से है। मेरे हिस्से क्या है, मेरी जिंदगी का एक पल तक मेरा नहीं। मेरी सांसे तक मेरी नहीं। कहना तो बहुत कुछ था पर क्यों कहूँ जब सौरभ समझेगा ही नहीं। मेरे सांसों के इर्द-गिर्द छाये कोहरे को वह कभी भी देख नहीं पायेगा, ये घुटन भरा धुआँ मेरे फेफड़ों में हर वक्त पीड़ा पैदा करता रहता है। ये घर, ये ऐशो, गाड़ी ये गहने और कपड़े... क्या बस यहीं तक है मेरी जिंदगी ...मैं सुविधाओं के बीच खत्म होती जा रही हूँ सौरभ, कैसे कहती भला कि हम दोनों दो किस्म के लोग हैं और एक-दूसरे को न समझने की जिद से भरे हुए बेवजह ही जिंदगी साथ-साथ बिताने के बेवकूफी भरे सपने देखते रहते हैं। काश! कि मैं भी उन औरतों में होती जिन्हें अपनी गुलामी का अहसास तक नहीं, जो साड़ी, गहनें और कपड़े में खुश हो जाना चाहती हैं। मैं दिव्या सरकार जिसके रेशे-रेशे में आजादी करवटें बदलती थी उसे घर की इस बंद दुनिया में सौरभ के इशारों पर जीना बेहद तकलीफ देता था। मैं भी सौरभ की तरह अपने फैसले लेने की आजादी चाहती थी, मैं भी अपनी हस्ती को खुद के सहारे खड़ा करना चाहती हूँ और इसके लिए आर्थिक आजादी की बहुत-बहुत जरूरत थी मुझे। मैं सौरभ के इशारों पर चलने वाली गुड़िया नहीं बनना चाहती थी। मैं ये भी जानती थी कि मेरे बच्चे मुझे ऐसा कुछ करने की छूट कभी नहीं देंगे लेकिन मुझे हर हाल में आजाद होना था और अपनी दुनिया खुद बसानी थी जिसमें मैं आर्थिक व मानसिक रूप से आजाद होकर जी सकूँ। मैं वो सब कर सकूँ जो एक मर्द खुद को खड़ा करने के लिए करता है और औरत को अहसान की तरह सौंपता चला जाता है। उसका यह नकली प्यार औरत का सब कुछ छीनकर उसे

अपाहिज बना देता है। और अपंगता हर हाल में गुलामी की ही कायल हुआ करती है। जो दिव्या औरत की आजादी के हक में लिख-लिखकर वीमेन एम्पावरमेंट (महिला सशक्तिकरण) की प्रतिनिधि बन चुकी थी, उसके बारे में भला कौन जान सकेगा कि उसकी असलियत क्या है? मुझे अपनी आत्म-कथा लिखना भी मंजूर नहीं था बल्कि आजादी का स्वाद चखना ही मेरा मकसद बन चुका था। मैंने अपनी किताबों से सजी अलमारी और कम्प्यूटर टेबल की ओर निहारा और अपनी सुख-सुविधाओं से भरी दुनिया को अलविदा कहने का मन बना लिया। मेरे पास सब कुछ था... लैपटॉप, पिंगर, किताबों का एक बड़ा सा ज़खीरा जिसकी लेखक मैं खुद थी पर दिली सुकून मुझसे कोसों दूर था। मेरे अपने, मेरे दोस्त, साहित्य की दुनिया के लोग मेरी जिंदगी का हिस्सा न बन पाए थे क्योंकि सौरभ मुझे कभी अकेले जाने नहीं देते थे, न ही गोष्ठियों में भाग लेने देते थे। दिल्ली में रहकर भी दिल्ली की दुनिया से अनजान दिव्या को सिर्फ उसकी राइटिंग के बल पर ही लोग जानते-पहचानते थे। मुझे सौरभ इतना पराया लगता जैसे कि उससे उसकी जान-पहचान तक न हो। पता नहीं जीवन साथी की परिभाषा किसने गढ़ी? क्या जीवन साथी अपनी साथी की संवेदना से इतना अपरिचित हो सकता है? उसका वश चलता तो वह उसे लिखने से भी रोक देता। औरत जो इस समाज का आधा हिस्सा है क्या उसे खुश रहने का हक नहीं है? हिंदी अकादमियों से मिले पुरस्कारों की लिस्ट में रौशनी बुझी-बुझी सी लगती है। फेस बुक, ट्विटर और संवाद की आभासी दुनिया में भला कब तक खुश हुआ जा सकता है? मैं औरत की उस तबाही का जिन्न अपनी लेखनी में करना चाहती थी जिसे वह जन्नत के रूप में देखती है और पुरुष के प्रति कृतज्ञ होती रहती है। मैंने मुंबई राजधानी में एक टिकट ऑन लाइन सुरक्षित कराया और गुपचुप ढंग से अपनी यात्रा शुरू कर दी। कुछ नकद और अपना एटीएम कार्ड लेकर मैं अपनी जिंदगी को एक अलग मोड़ देने की इच्छुक थी।

इस निर्णय के लिए मैं अपने घर के पिंजरे में पले उस मिट्टू को भी अपना सहयोगी मानती हूँ जिसने मुझे ये हिम्मत सौंपी। घटना कुछ यूँ है कि मैंने अपने घर के रंग-

बिरंगे पिंजरे में कैद मिट्टू को एक दिन आजाद कर देने की ठान ली और पिंजरा खोल दिया ताकि वह उड़ जाये पर उसने बाहर की दुनिया नहीं देखी थी इसीलिए पिंजरा खोल देने के बाद भी वह उड़ने की हिम्मत नहीं जुटा सका। फिर पिंजरा लेकर मैं छत पर गयी और उसे उड़ने के लिए प्रेरित किया पहले तो वह सहमा-सहमा सा रहा पर कुछ पक्षियों को आकाश में उड़ते देखकर उसने भी अपने पंख फड़फड़ाये और आकाश मार्ग की ओर चल पड़ा। मेरी खुशी का ठिकाना न रहा क्योंकि मैंने किसी को आजादी दे दी थी। मुझे भी ऐसे उड़ना था अपनी पिंजरा खोल देना था फिर नये साथियों की तलाश करनी थी। मेरे पंख उग आये थे। उसके बाद ही मैंने घर छोड़ देने की बात सोची थी। मैंने सौरभ के नाम एक खत लिखकर छोड़ दिया था। उसके ऑफिस जाते ही मैं घर से निकल पड़ी थी। चूँकि वह ऑफिस से देर तक लौटा था इसीलिए मुझे मुंबई की ट्रेन पकड़ने में कोई दिक्कत नहीं हुई। दूसरे दिन सुबह मैं मुंबई सेंट्रल पर जब उतरी तो सबसे पहले मेरा रीता के पास जाना हुआ, वो मीरा रोड में रहा करती थी उन दिनों। रीता ने पूरा सहयोग दिया और मेरी मदद की थी। सौरभ की परेशानी का भी मुझे ख्याल था पर अपनी मौत की कीमत पर मैं किसी को भी जिंदगी देने की कायल न थी। सौरभ मुझसे इतने नाराज थे कि फोन करने की बजाय बस एक एस एम एस भेजा था और मेरी नादानी पर लिखा था कि तुम्हें पछतावे के अलावा और कुछ हासिल नहीं होगा पर मैं उन्हें कैसे बताती कि मैं बेहद खुश हूँ, कैसे बताती कि खुली फिजाओं में तैरने के सुख से अब तक वंचित रहकर मैंने अपना बहुत बड़ा नुकसान किया था। मीरा ने मेरे लिए एक वनबीएच के फ्लैट अपने घर के बगल में ही ले लिया था। शुरू-शुरू में मैंने उसके पड़ोस के बच्चों की ट्यूशन पकड़ ली थी पर इतने में गुजारा होना मुश्किल था इसीलिये मुझे अपने काम के लिए एक बड़े फ्लैट की जरूरत थी मेरे पास लगभग एक लाख के करीब रुपये थे। इसलिए थोड़ी सी रकम एडवांस देकर मैंने बोरीवली में एक टूबीएच का फ्लैट लेना ज्यादा मुनासिब समझा। फिर चल पड़ा चाय बेचने का धंधा। मुझे लगा कि ये चाय तो मेरे सुख का सबसे बड़ा स्रोत बनती जा रही है। उस

आलीशान मकान की रसोई में खड़ी दिव्या नाम की उस मामूली लड़की ने इससे पहले कभी चाय बनाने के सुख के बारे में नहीं जाना। कभी नहीं महसूस किया कि सौरभ के घर का एक तिनका भी उसका अपना है। खैर छोड़ो, अब तो मैं अच्छा-खासा कमाने लगी थी और अपने अकाउंट में सेविंग भी करने लगी थी। अंशु को भी साथ रख लिया था ताकि वह निश्चित होकर काम कर सके और उसके फ्लैट का किराया भी बचे। पता नहीं क्यों पर वह मेरे मुंबई आने से खुश था आखिर उसकी माँ थी मैं और मैंने खुद को साबित करके दिखाया था। बेटी की ओर से भी कोई कड़वाहट अब तक पैदा नहीं हुई थी। बस एक सौरभ ही नाराज था और बार-बार मुझसे लौट आने के लिए मिन्नतें करता रहता था पर मैं आजादी का सुख पा चुकी थी इसीलिए लौटना नहीं चाहती थी। आर्थिक आजादी ने मेरे पंख खोलकर मुझे उड़ना सिखा दिया था। लेखन मेरा सबसे बड़ा सपना था और आजादी ही उसकी किस्मत बन सकती थी। एक लेखक की आजादी अगर गिरवी हो जाए तो कलम थमने लगती है मैंने अपनी कलम को रवानगी बख्शा दी थी। मेरी चेतना का वह हिस्सा जो जख्मी हो गया था धीरे-धीरे स्वस्थ होने लगा था। चाय का धंधा जब बढ़ता गया तो बाद में शुरू हुआ था कॉफी बेचने का धंधा। मैं लगातार आसमान में उड़ रही थी और एक नई दुनिया से मेरा परिचय बढ़ रहा था। एक वैचारिक भीड़ मेरा मुकद्दर बनती गयी यहाँ जिंदगी के मायने थे, इंसानियत के सपने थे, खुली बहस थीं, देश था, राजनीति थी और कुछ अंतरंग साथी भी जो पहले सिर्फ सपनों में ही आया करते थे, अब मौत के बारे में सोचने से पहले जिंदगी के बारे में इतना कुछ सोचा जाना तय था कि हसरतों की धूप चटख होती गयी। मैंने खुद को उस लंबी और घुटन भरी सुरंग से बचा लिया था जिसका रास्ता सीधे मौत की तरफ जाता था। साहित्य व पॉलिटिक्स में मेरे खुलेआम दखल की गुंजाइशें बढ़ती गयीं। मेरी लेखनी की धार अब तेज होने लगी थी और जिंदगी सरपट भाग रही थी। बॉम्बे कैफे अब एक साहित्यिक अड्डे के रूप में भी मशहूर होने लगा था। उन्हीं दिनों मैंने एक साहित्यिक पत्रिका “बॉम्बे कैफे हाउस”

लांच की थी और एक अखबार की भी एडिटर बनी थी जो एलाने जंग का तजुर्बा बनता गया। तब से अब तक पांच साल गुजर चुके हैं मैंने पीछे मुड़कर कभी नहीं देखा। आज तो यह कैफे हाउस साहित्यिक बुद्धिजीवियों का गढ़ है। आखिर दो साल बाद सौरभ भी अपनी नौकरी छोड़कर मेरे पास चले आये थे और इस तरह मेरे काम में हाथ बटाने लगे जैसे कि इस काम की शुरुआत उनकी मर्जी से ही हुआ हो। मैंने अपने औरत होने की गुलामी से मुक्ति पा ही ली थी फिर सौरभ से भला क्या शिकायत हो सकती थी। मैं सिर्फ खाने, पहनने और मर जाने के लिए पैदा नहीं हुई थी। सबकी तरह सौरभ का भी स्वागत किया मैंने। आजकल मेरे संगठन ‘मसीहा’ ने राजनीति और सरकार के गलत रवैयों के प्रति जबरदस्त जंग छेड़ रखी है। इस देश में धर्म के राजनीतिकरण से लेकर अभिव्यक्ति की आजादी तक का मुद्दा हमारे संगठन का मकसद बन चुका है। शब्दों के जरिये निकलने वाली चिंगारी का असर बेहद तेज होता है, ये मैं जान चुकी हूँ। जब भी पीछे मुड़कर देखती हूँ उस औरत से बहस में उलझ जाती हूँ जो मेरे भीतर के लेखक को एक बेबस औरत में तब्दील कर देना चाहती थी, मैंने डर के पार जाकर जिंदगी का हाथ पकड़ा है क्योंकि आजादी मेरा मकसद थी। सच कहूँ दोस्तों तो इतने काम हैं करने को कि हवा के साथ दिन-रात बहा करती हूँ मैं। मैं दिव्या सरकार अब बहुत-बहुत खुश हूँ। जिंदगी के कोई मायने न हों तो जिंदगी जिंदगी कहाँ होती है। मेरी जिंदगी भी सार्थकता का चमचमाता आईना बनती जा रही है जिसमें सफलता और खुशियों के इतने प्रतिबिंब हैं कि घुटन, आंसू और उदासी की परछाई तक यहाँ फटक नहीं सकती। तो दोस्तों, ये बॉम्बे कैफे हाउस मेरी मुक्ति की वह इमारत है जिसमें मेरी सांसें बसा करती हैं। कैसा रहा मेरा ये तजुर्बा? आप ही बताएं। औरत जब सोच ले तो कुछ भी कर सकती है वो, ये अब जान चुकी हूँ मैं। एक गुलाम औरत के आजाद होने की कहानी बस यहीं तक है दोस्तों ... मेरी इस क्रांति को आपके सलाम की ज़रूरत है ... आप बढ़ायेगे न मेरा कद। जानती हूँ आप मेरे कायल हो चुके हैं और मुरीद भी।

संपर्क : श्री पल्ली पोस्ट ऑफिस सिलीगुड़ी बाजार, 2नं. गली, सिलीगुड़ी- 734005, मो. 9933946886

अंशाय

डॉ. शुभ्रा उपाध्याय

एसोसिएट प्रोफेसर

खुदीराम बोस सेन्ट्रल कॉलेज, कोलकाता

उसकी बेटी जब अढ़ाई-तीन साल की हुई तो, तभी उसने बेटी को समझाते हुए कहा था- 'बेटा, जब तुमको कोई प्यार करे और तुम्हें अच्छा न लगे ना तो तुरंत आकर मम्मी को बताना।'

और फिर यह वाक्य उसके और बेटी के बीच रोज-रोज रहने वाला बेहद जरूरी हिस्सा सा बन गया था। वह जानती थी, कि उसके लिए यह कतई संभव नहीं कि वह दूसरी माँओं की तरह हर समय अपने बेटी के साथ-साथ रहे, अथवा यह भी कि 'हमें कौन सा हर समय हमारी माँएं घेरे रहती थीं' कहकर अपनी जिम्मेदारी से मुक्त हो ले।

उसके पास एक ही रास्ता था।

जितना हो सके अपनी बच्ची को सावधान और होशियार रखे। इसीलिए जब भी बेटी के साथ होती उसे यही बात समझाती रहती। नहला रही है तब भी, खिला रही है तब भी, सुला रही है तब भी।

कभी-कभी उसे खुद भी अजीब लगता। सोचती, वह इतना कांशस क्यों है? सारी माँएं कितनी निश्चित हैं, वह क्यों नहीं?

जिसकी बेटियां हैं- ऐसी अपनी सहेलियों को बेफिक्र देखती तो सोच-सोच कर हैरान हो जाती- 'अरे, इन्हें जरा भी चिंता नहीं है! बेटी कहाँ है? कैसी है? सुरक्षित भी है या नहीं?'

दबे-दुबे शब्दों में कभी अपनी आशंका जाहिर भी करती तो सहेलियाँ उसी बेफिक्री में उसे हँसकर उड़ा देतीं। या उसे एक ऐसा उत्तर देतीं जो उसके लिए बड़ा गैर जिम्मेदाराना होता। और वह फिर सोच में पड़ जाती। 'भई मैं तो ऐसे निश्चित नहीं रह सकती!'

ऐसे ही तो जब सुधा उस दिन कार्यक्रम में मिली तो उसने पूछा- 'और तेरी बेटी? कैसी है वह? अब तो बड़ी हो गई होगी? किसके पास छोड़कर आई है?'

बाप रे बाप! बेटियों को लेकर उसके सवालों का कोई अंत ही नहीं होता।

इस बात से वह स्वयं वाकिफ भी है। और हैरान भी!

लेकिन फिर वह अपनी इस आदत से निजात नहीं पा सकती।

कभी-कभी तो उसे लगता है कि वह खुद इससे निजात पाना चाहती भी नहीं।

चाहे जो भी बात हो रही हो, अगर वह कहीं से भी बेटियों से जुड़ती है तो उसकी चिंता की सारी दिशाएँ बेटियों की सुरक्षा के सवाल पर ही आकर टिक जाती हैं।

कई बार उसकी ये चिंतायें उसे बड़ी अजीबो गरीब स्थितियों में डाल देती हैं।

वही हुआ था उस दिन भी... सुधा के साथ।

सुधा ने कितनी सहजता से कहा- 'अरे बाबा! एक-एक कर पूछेगी तभी तो बता पाऊँगी ना!' फिर हँसकर उसे जानकारी सी देते हुए कहा था- 'हाँ बेटियाँ बड़ी हो गई हैं। बड़ी बेटी तो

बारह साल की हो गई और छोटी का अभी परसों बर्थडे सेलिब्रेट किया है। वह भी आठ साल की कम्पलीट हो गई।'।

'अरे वाह! तब तो तू दो बड़ी बेटियों की माँ हो गई है।'

यह कहते हुए न जाने कैसे उसके मुँह से शब्द अपने आप से फिसलते गये कि 'ओह! अब तो डबल जिम्मेदारी! और भी चिंतायें! तब तो बड़ी परेशान रहती होगी तू?'

अंतिम प्रश्न पर एक जोरदार ठहाका लगाते हुए सुधा ने कहा- 'देख यार! बच्चे बड़े होते हैं तो जिम्मेदारियाँ तो बढ़ती ही हैं। लेकिन चिंता? चिंता किस बात की?'

फिर उसके कंधे पर हाँले से थपकी देते हुए उसने आगे कहा- 'यह कह कि- अब चिंताओं से मुक्ति के दिन हैं। तू तो जानती है कि रमेश का घर पर रुकना संभव नहीं, बड़ी बेटी का स्कूल! और मुझे भी तो यहाँ आना जरूरी था... कल रात को छोटी को हल्का बुखार हुआ...लेकिन यार! क्या करें? अपनी भी कोई लाइफ है कि नहीं? सारा जीवन इन्हीं पति और बच्चों के पीछे स्वाहा कर दो... भाई मुझसे तो यह नहीं होता!'

'तो बेटी को किसके पास छोड़कर आई है?'

उसे लगा 'जैसे उसकी बेटी बुखार से तप रही हो! उसकी बेटी घर में अकेली पड़ी हो!'

चिंता की जिन लकीरों को वह सुधा के चेहरे पर गहराते देखना चाहती थी, वही लकीरें जैसे उसके हृदय में गहरे धँसती जा रही थीं।

'वो, मेरे पड़ोस में अनीता भाभी हैं ना! उन्हीं के पास उसे छोड़कर आई हूँ। दवाइयाँ और कुछ फल भी रख आई हूँ।'

सुधा बोल रही थी, और वह जैसे एक-एक अक्षर के साथ शून्य होती जा रही थी।

इतनी निश्चित कैसे हो सकती है एक माँ?

जिनकी बड़ी बेटी बारह साल की हो?

जिसकी छोटी बेटी ने नौवें साल में कदम रखा हो?

जिसके घर में उसके और उसके बेटियों के सिवा कोई स्त्री न हो?

जिसकी बेटी बीमार हो?

जिसने अपनी फूल सी नहीं बच्ची को बुखार में तपते

पड़ोसी स्त्री के भरोसे रख छोड़ा हो?

कैसे? कैसे? कैसे?

उसकी संज्ञा शून्य होती स्थिति को सुधा ने भी भांप लिया था।

'अरे तुझे क्या हुआ? ऐसे क्या घूर रही है?'

वह सचमुच उसे देखते-देखते घूरने लगी थी। उसकी आँखें सुधा के कहे शब्दों की डोर थामे उसके मन की दरवाजों पर दस्तक दे रही थीं। क्योंकि उसे लग रहा था कि इन दरवाजों के पीछे ही वह खिड़की है जहाँ से वह उस एक माँ के हृदय आकाश की थाह पा सकती है!

लेकिन कहाँ?

वह वहीं तो बढ़ी जा रही थी कि सुधा ने उसे झकझोर कर जमीन पर ला पटका था।

सहज होते हुए उसने इतना भर ही कहा था- 'बस यूँ ही.... नहीं तो... अब अब तुझे देख भी नहीं सकती क्या?'

फिर धीरे से मुस्कुराने का प्रयास करने लगी थी।

वह जानती है।

अच्छी तरह जानती है कि वह कई बार इस तरह दूसरों से बातें करते समय बड़ी असह्य हो जाती है।

एकदम अजीब सी-

लेकिन वह करें भी तो क्या?

जिधर देखो वहीं-

यही शोर गुल!

आज अमुक लड़की के साथ बदसलूकी की गई....

आज अमुक लड़की को बस में छोड़ा गया....

चलती ट्रेन में कुछ युवकों ने लड़की के साथ....

दूर के किसी रिश्तेदार ने तीन साल की लड़की....

अपने ही घर में चार साल की बच्ची के साथ....

उफ!

वह तो पागल हो जाती है।

बौरा जाती है।

उसको हर समय हर खबर के साथ अपनी ही बेटी नजर आती है।

स्कूल में पढ़ती अपनी बेटी...

बस में जाती अपनी बेटी...

ट्रेन में सफर करती अपनी बेटी....

घर-बाहर- हर जगह।

रास्ते में कभी किसी लड़की को दो चार लड़कों के साथ अन्यमनस्क देखती है तो उसका कलेजा मुँह को आ जाता है- सब ठीक तो है ना ? कहीं इसके साथ कुछ गलत तो नहीं हो रहा ?

यही सब सोचते-सोचते वह हैरान हो जाती है।

तभी, देखते-देखते ही सब जान लेना चाहती है। और अनायास ही उसका देखना घूरना बन जाता है। वह क्या करे!!

अब वह अपने पर्स में एकाध किताब जरूर रखती है।

बस, ट्राम, टैक्सी और सार्वजनिक स्थलों पर जिससे उसी में खुद को उलझाये रखे।

लेकिन कहाँ उलझा पाती है खुद को ?

उसका मन चोर निगाहों से न जाने कब फुटपाथ पर चलती अकेली, या बगल वाली सीट पर बैठी उस लड़की के चेहरे पर चिपक जाता है जो बड़ी बेतकल्लुफी से उससे बेखबर अपनी धुन में हँसती मुस्कुराती मस्त रहती है।

और वह आसपास उसके साथ घट सकने वाली भयावह घटनाओं की बर्बर चिंता के साथ उद्विग्न हो उठती है।

‘निर्भया कांड’ ने उसे दहला दिया था। सर्दियों की ठिठुरन ने नसों में बहती लाल धाराओं को भारी ईंटों में तब्दील कर दिया था।

यह कोई नयी घटना तो थी नहीं!

और न ही अकेली!

वह जानती है कि ऐसी अनगिनत ‘निर्भयायें’ रोज रोज मौत के मुँह का ग्रास बन रही हैं।

कुछ की तो कहीं रीपोर्टिंग भी नहीं होती।

इस पर कम से कम हमारे सभ्य समाज के कानों में खुजली तो हुई!

वह कभी-कभी सोचती है कि अच्छा ही हुआ कि निर्भया को मृत्यु ने अपनी गोद में सुला लिया।

कैसे जीती वह ?

जीते जी वह क्षण-क्षण मरती नहीं क्या ?

पल-पल, तिल-तिल मरने के लिए जीवित रहने से तो अच्छा है कि मर कर ही मरा जाय!

उसे पता है।

आये दिन ही तो सुनती रहती है-

न जाने कितनी निर्भयायें रोज-रोज जन्म लेती हैं!

नहीं, जन्म नहीं लेतीं-

पैदा की जाती हैं।

हमारे समाज को, सभ्य समाज की भेंट स्वरूप!

उफ!

दाँत पीसकर रह जाती है वह।

मन करता है-

यह कर दे। वह कर दे।

क्या न क्या कर दे।

उसका वश चले तो ऐसे अपराधियों को किसी कोर्श, किसी मुकदमें की तारीख में कोई जगह ही न दे।

हिजड़ा बनाकर छोड़ दे सबको।

माथे पर एक ठप्पा लगा दे- बेकाबू मर्दानगी का!

छिः! घिन आती है उसे।

कभी-कभी तो उसे लगता है कि उसके आस-पास, चारों तरफ इंसान की शक्ल में गंदे कीड़े रेंग रहे हैं।

लिजलिजे! चिपचिपे! घिनौने!

वह सोचती हैं- क्या सचमुच हम पढ़े-लिखे समाज की ओर बढ़ रहे हैं?

सभा-सोसाइटियों में, अखबारों में, गोष्ठियों में, टी.वी. वार्ताओं में यहाँ तक कि आपस की बातचीत में, पढ़ते-लिखते हम कितने संस्कारवान दिखते हैं।

तो फिर ?

तो फिर ? यह प्रश्न क्यों उपस्थित रहता है हमेशा हमारे बीच ?

इसी एक प्रश्न ने उसके रातों की नींद हराम कर दी है।

उसके मन का सुकून छीन लिया है।

कभी-कभी उसे लगता है कि- यह उसका वहम है!

सब कुछ तो ठीक है।

लोग-बाग आफिस जा रहे हैं।

लड़कियाँ स्कूल जा रही हैं।

पढ़-लिख रही हैं।

बस, ट्रेन सब में सफर कर रही हैं।

पार्क, सिनेमाहाल, रेस्तराँ सभी जगह उनकी

खिलखिलाहट सुन रही है वह।

क्रिकेट, फुटबाल, हॉकी खेल रही हैं।

डॉक्टर, इंजीनियर, बैरिस्टर बन रही हैं।

शादी-ब्याह के उत्सव सज रहे हैं।

घर बसा रही हैं लड़कियाँ!

बच्चे पैदा कर रही हैं।

और तो और हाथों में हाथ डाले लड़कों से प्रेम के मीठे वायदे भी कर रही हैं।

लड़कियाँ खुश हैं!

घर-बाहर जिम्मेदारियों का बखूबी निर्वहन करती चहक रही हैं लड़कियाँ!

वह जानती है। यह भी और वह भी।

वह जानती है कि न यही पूरा का पूरा सच है, और न वही।

तो कैसे भूल सकती है कि जीवन के इस धूप-छाँव में उजाले-काले दोनों की ही उपस्थिति दर्ज है।

वह जानती है।

इसीलिए तो अपनी जिम्मेदारियों से मुँह नहीं मोड़ सकती।

और न ही उन्हें नियति के भरोसे छोड़ सकती है।

इसीलिए हर समय चौकन्नी रहती है।

बेटी की बढ़ती उम्र के साथ उसकी जिम्मेदारियों की चादर में चिंताओं के असंख्य गोटे और परेशानियों की लम्बी झालर झूलने लगती है। ऑफिस से आती है तो सारे काम छोड़कर पहले बेटी के साथ बैठती है।

टिमटिमाने लगते हैं उसकी चिंताओं के असंख्य जुगनू-

आज उसने क्या-क्या खाया? कौन-कौन घर आया था। किसने उससे क्या कहा? वह किसके साथ बैठी थी? कहाँ सोई थी? जब वह सोई थी तब उसके पास कौन था? वह किसके साथ खेल रही थी? किसी ने उसे मारा तो नहीं? अमुक अंकल क्या कह रहे थे? वह कब नहाई? क्या खाई? वगैरह-वगैरह!

हर प्रश्न के साथ उसकी निगाह बेटी के चेहरे पर एक

इंच और गड़ती जाती है। जैसे उसे बेटी के कहे शब्दों पर पूरा भरोसा न हो। मानो वहाँ जरूर कुछ ऐसा है जो छूट जायेगा और जिसे उसे अपने तरीके से बीन लेना होगा।

और उसकी स्थिति?

उसकी स्थिति तो ऐसी होती है जैसे प्रश्नों की झरबेरी पोटली बनाकर किसी ने जबरन गले में अटका दिया हो और हथेलियों से मुँह-नाक दबाकर बंद कर रखा हो।

एक-एक प्रश्न के साथ थोड़े-थोड़े प्राण हलक से निकलकर बेटी की आँखों में जा गिरते हैं और बेटी के जवाब के साथ उसके कर्णकुहरों के माध्यम से होते बूँद-बूँद हृदय में टपकने लगते हैं।

कहीं बेटी ने जवाब देने में देरी की तो वह ऐसे विकल हो जाती है जैसे कलेजे पर हजार-हजार हाथियों ने नर्तन करना प्रारंभ कर दिया हो।

प्रश्नों की झड़ी के उपरांत जब उसके मन का तूफान शांत होता है तब वह फिर सोचती है-

इस तरह कहीं वह अपनी बच्ची के प्रति कोई अन्याय तो नहीं कर रही है?

उसका बचपन विषाक्त तो नहीं कर रही है?

लेकिन वह हमेशा सावधान रहती है।

इतनी सतर्क कि बच्ची को लगे ही ना कि उससे कुछ सवाल किया जा रहा है।

अथवा, वह कुछ जवाब सा दे रही है।

बिटिया के साथ रुठना-मनाना, खेलना-खाना, गाना-नाचना, वह सब करती है।

सिर्फ इसी उम्मीद से कि यदि कभी किसी 'सच' को बताने की जरूरत पड़े तो उसे संकोच न हो। वह बेहिचक-बेझिझक अपने मन के उलझे धागों को रेशम-रेशम अपनी माँ के समक्ष उधेड़ सके।

वह जानती है।

यह भी और वह भी।

प्रश्नों की बिखरी गठरी को परे धकेल वह बेटी को कलेजे से चिपका लेती है!

संपर्क : 9830094793

तेलुगु कहानी

अमागम

ओल्गा

ओल्गा तेलुगु साहित्य की प्रसिद्ध रचनाकार हैं। इनकी कहानी, उपन्यास एवं कविताओं की अब तक 12 पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। प्रस्तुत कहानी 'विमुक्ता' कथा-संग्रह से ली गई है जिसे केन्द्र साहित्य अकादमी का 2015 का पुरस्कार प्राप्त है। 'विमुक्ता' कथा-संग्रह की हिंदी अनुवादक आर. शांता सुंदरी हैं।

सूर्यास्त का समय था। वन में एक तरफ लाल कांति फैली हुई थी और दूसरी तरफ अंधेरा घिरने लगा था। काले धुएं से भरी जलती भट्टी के समान दिखायी दे रहा था। पंछी झुंड बनाकर घोंसलों की ओर जा रहे थे। उनकी चहचहाहट से सारा वन गूंज रहा था। हिरणों के समूह दोपहर की नींद से जागकर चुस्ती से घूमने चल पड़े। उस घने जंगल में मुनि का आश्रम बड़ा ही शांत और सुंदर दिखायी दे रहा था, मानो किसी चित्रकार ने उसकी रचना की हो।

आश्रम के संध्या बेला के कार्यक्रम आरंभ हुए। अग्निहोत्र जल उठे। गंभीर स्वर में मंत्रोच्चारण होने लगा। मुनि-पत्नियां पौधों और वृक्षों में पानी डालकर संतुष्ट हो रही थीं। बच्चे जंगल में विहार करके आश्रम वापस आये और अपनी मांओं के गोद में थकान मिटाने लगे। कुछ मांएं शाम के अनुष्ठान के लिए अपने बच्चे को बुला रही थीं। वहां, एक छोटी-सी कुटी में, एक माँ अपने बच्चों की प्रतीक्षा कर रही थी, जो वन से अभी लौटे नहीं थे। उसकी आँखों से यह अवगत हो रहा था कि उसके प्राण अपने बच्चों में ही अटके हैं। उन आँखों में आतुरता, आर्द्रता थी। करुणा से भरी आँखों में उस समय भय के साये दिखायी देने लगे।

उस मां का नाम था सीता।

वह अपने दोनों बेटों की प्रतीक्षा कर रही थी।

रोज़ इस समय दोनों घर लौट आते थे। मार्ग में कोई-न-कोई फूल तोड़ लेते और मां को दे देते। वे जंगली फूल अर्चना और पूजा के लिए उपयुक्त नहीं माने जाते, परंतु दोनों माँ से विनती करते कि उन फूलों से वह पूजा करें। सीता कहती थी कि जिन फूलों का कोई नाम न हो, उनसे वह पूजा नहीं करेगी। तब दोनों बालक स्वयं उन फूलों को विचित्र नाम दे देते, सीता यह देख हंसने लगती तो दोनों रूठ जाते थे। सीता उन्हें मनाती और उन्हीं फूलों से देवता की पूजा करके उन्हें संतुष्ट करती। अंधेरा जब गहराने लगता तब दोनों बालक सुमधुर कंठ से गाने लगते तो मानो सारा वन विमोहित होकर उनका गान सुनने लगता था।

वे दोनों बालक, लव और कुश, वापस नहीं लौटे। सीता के मन में किसी प्रकार के संकट का भय नहीं था। लव और कुश वन के चप्पे-चप्पे से परिचित थे। वे वहीं जन्में, पले और बढ़े हुए थे। वे अरण्यपुत्र थे। परंतु इस विलंब का क्या कारण हो सकता है? जब से दोनों पुत्र अयोध्या जाकर वापस लौटे, सीता के मन में एक नये प्रकार की चिंता ने घर कर लिया। एक प्रकार की व्याकुलता... पर वह वन के बारे में नहीं नगर के बारे में थी। अंधेरा और गहन हो

गया। सीता की आँखें दीपों की तरह प्रज्वलित थीं।

तभी उन दीपों के प्रकाश में दो बालक दिखायी दिये। सीता ने लंबी सांस लेकर पूछा, “आज इतनी देर कैसे हो गयी।”

“माँ, यह देखो!” कहते हुए लव ने अपने ऊपरी वस्त्र में बांधकर लाये फूलों को थाली में उंडेल दिया। क्षणभर में कुटी में ऐसी सुगंध फैल गयी जिसका पहले अनुभव नहीं हुआ था।

लाल, श्वेत, पीले फूल थाली में हंस रहे थे। उन फूलों को सीता ने पहले कभी नहीं देखा था। कुश और लव उस पुष्प-विजय से गर्व का अनुभव करते हुए माँ को देख रहे थे।

“ये फूल तुम्हें कहाँ मिले, बेटे? कितने सुंदर हैं!” सीता ने कोमलता से उन फूलों को छूते हुए पूछा।

“माँ, आज वन में एक नये उद्यान को देखा। ऐसा उद्यान हमने कहीं नहीं देखा। वाल्मीकि पितामह नंदनवन का वर्णन करते थे, वह भी इसके सामने कुछ भी नहीं है!” कुश ने कहा।

लव ने आँखों ही आँखों में बड़े भाई की बात का समर्थन किया।

“किसका उद्यान था, बेटा कुश?”

“माँ! वह उद्यान जितना सुंदर है, उसकी मालकिन उतनी ही कुरूप है। हम फूल तोड़ने लगे तो आहत सुनकर वह आयी। हम सहम गये। बड़े भैया ने किसी तरह धैर्य करके कहा, ‘हम मुनि बालक हैं। पूजा के लिए फूल लेने आये हैं।’ हम शीघ्र वहाँ से आ गये। उस स्त्री का रूप कितना घिनौना था!” लव के मुख पर घृणा का भाव था।

“ऐसा नहीं कहते, बेटा! मनुष्य का बाह्य रूप देखकर उनसे घृणा करना ठीक नहीं। वह स्त्री भले ही कुरूप हो, पर उसने कितना अच्छा उपवन बनाया है, है ना?” सीता बोली।

“वह स्त्री वैसे ठीक-ठाक है। परंतु नाक और कानों की जगह गड्ढे हैं, जैसे किसी ने उन्हें काट दिया हो!” कुश ने नाक-भौं सिकोड़े।

सीता को ऐसा लगा, जैसे किसी ने उसके पीठ पर कोड़े से वार किया हो।

“कान और नाक नहीं हैं?” सीता ने पूछा।

“नहीं माने, कभी रहे होंगे। किसी ने काट डाले। भैया, ऐसा ही दिखायी देता है ना?” लव ने कुश की राय

जाननी चाही।

सीता अब निश्चित रूप से जान गयी।

वह शूर्पणखा है... हाँ अवश्य वही है!

अठारह साल पहले की घटना थी। राम से प्यार करने वाली शूर्पणखा मिलने आयी। कितनी सुंदर स्त्री थी। राम और लक्ष्मण के क्रूर परिहास के कारण अपने रूप से वंचित हो गयी। तो अब वह शूर्पणखा इसी वन में है? कितनी लंबी अवधि के पश्चात उसका नाम सुना मैंने!

राम ने शूर्पणखा का अपमान किया और रावण ने मेरा अपहरण करके राम से प्रतिकार लेना चाहा।

पुरुषों की शत्रुता और प्रतिकार के लिए सदा स्त्रियाँ ही बलि चढ़ती रहीं, क्या उनका अस्तित्व यहीं तक सीमित है?

यदि राम-लक्ष्मण को यह ज्ञात नहीं होता कि शूर्पणखा रावण की बहन है, तो वे उसके साथ ऐसा अत्याचार नहीं करते। रावण को उकसाना ही राम का अभिप्राय था। रावण से झगड़ा करने के लिए कारण ढूँढ़ने वाले राम का अन्वेषण शूर्पणखा के मिलने से पूरा हो गया।

वह सब राजनीति थी।

बेचारी शूर्पणखा प्रेम का मंत्र जपती रही। पर अब नाक और कान कट जाने के पश्चात उससे कौन प्रेम करेगा?

क्या जीवनभर प्रेम से वंचित होकर जीती रही?

अपने अंदर का सारा प्रेम घोलकर इस उपवन को सुंदर रूप दे दिया? इसीलिए वह उद्यान इतना मनमोहक रूप पा सका?

उसके मन की कोमलता का प्रतिफलन उस उद्यान में फूलों में दिखायी देता है?

बेचारी शूर्पणखा!

सीता की आँखों में आंसू देखकर लव और कुश चकित रह गये।

“यह क्या, माँ? किसी अपरिचित की कुरूपता की बात से तुम्हें इतना दुःख क्यों होने लगा?”

सीता ने आँखें पोंछी और हल्के से मुस्कुरायी। उसने बच्चों से कहा, “क्या तुम मुझे कल उस उद्यान में ले चलोगे?”

लव-कुश को विश्वास नहीं हुआ तो एक-दूसरे को

देखने लगे।

“सच कह रही हूँ, कल मैं भी तुम्हारे साथ जाना चाहती हूँ? तुमको रास्ता मालूम है ना?”

यह सुनकर उन भाइयों की खुशी आकाश छूने लगी।

माँ उनके साथ वन-विहार के लिए आयेगी तो वे उनके परिचित स्थान सब उसे दिखाना चाहते थे। यह आकांक्षा बहुत दिनों से थी। परंतु सीता कभी उनके साथ नहीं गयी। कभी-कभार गयी तो भी मुनि-पत्नियों के साथ जाती थी। मां के हाथ पकड़कर उस दुर्गम वन में विचरण करना, मां डरेगी तो धीरज बंधाना, अनेक अद्भुत दृश्य दिखाना, यही सब करना चाहते थे वे नन्हें बालक। अब उन्हें इसका अवसर मिलने वाला था।

तीनों सुबह की प्रतीक्षा में उतावले हो रहे थे। सीता को नींद न आने का कारण बीते हुए दिनों की यादें भी थीं। कुछ सुख के और कुछ दुःख के अनुभव जो उसने राम के साथ बाँटे थे।

शूर्पणखा का आश्रम में प्रवेश... कितना मधुर था! उसकी चाल, रूप कितने सुंदर थे! केशों में खिले सफेद चमेली के फूल, गले में पीले कनेर के फूल, कलाईयों पर नीलांबर की मालाएं... मानो चलती फिरती लता हो! सीता के आभूषणों को देखकर विस्मित हुई। न सुगंध, न रंग और न कोमलता...इन आभूषणों को क्यों पहने हो? जैसे उसने आँखों ही आँखों में पूछ लिया हो। सीता कुछ भी नहीं बोली, सीधे राम के पास चली गयी। उनकी बातों को सुनते हुए सीता अपने काम में मगन थी।

अचानक एक स्त्री का आर्तनाद सुनायी दिया... हृदय विदारक रुदन! फिर आश्रम की धरती रक्त की धाराओं से लाल हो गयी। न जाने शूर्पणखा ने कितना भयानक शाप दिया होगा!

वह शाप अभी भी मेरा पीछा कर रहा है।

शूर्पणखा को किसी भी पुरुष का प्रेम प्राप्त नहीं हुआ। जिस पुरुष को मुझसे प्रेम था, उसने मुझे दूर भेज दिया।

दोनों की कहानी अंत में एक ही है?

मुझे देखकर शूर्पणखा क्या कहेगी? बात करेगी या नहीं? फिर भी एक बार मिलना आवश्यक है।

इन्हीं विचारों में डूबी सीता रात भर जागती रही।

..... ..

अगली सुबह सभी कार्यों से निवृत्त होकर लव और कुश सीता के साथ वन के लिए चल पड़े।

“माँ, आज मैं तुम्हें राजा से मिलाऊंगा!” लव ने कहा।

वन में स्वेच्छा से विचरण करने वाला हाथी था राजा। वह लव का मित्र बन गया। दोनों भाई उस पर चढ़कर घूमते थे।

“तुम भी राजा पर चढ़ोगी ना, मां?” लव ने अपनी इच्छा प्रकट की।

“ना, बेटा! मुझे चलना ही अच्छा लगता है!” सीता ने विवाह के बाद हाथी पर बैठकर राजमहल जाने की बात को याद करते हुए कहा।

दोनों भाइयों को लगा माँ हाथी से डरती है।

“माँ हाथी पर कैसे चढ़ेगी, लव? उसे डर भी लगता होगा!” कुश ने लव को समझाया।

दोनों भाई जंगल में कई जानवरों को दिखाते हुए, उन्हें अपने मित्र कहते हुए चल रहे थे। उनकी बातों को सुनते हुए सीता को थकान ही महसूस नहीं हुई।

“यही है वह उद्यान, माँ!”

सीता ठिठक गयी। प्रकृति का मधुर हास जैसा था वह उपवन। उसे देखकर सीता अवाक् रह गयी। अशोक वन भी इसकी तुलना में तुच्छ है। धन्य हो शूर्पणखा! सीता ने मन ही मन सोचा।

“चलो माँ उद्यान में चलें!” बच्चों ने एक साथ कहा।

“मैं अकेली जाना चाहती हूँ। शाम तक तुम वन में विहार करके लौट आओ। तब तीनों मिलकर आश्रम जायेंगे,” सीता ने कहा।

सीता ने उद्यान में प्रवेश किया और तभी उसे दूर एक स्त्री दिखायी दी। उसका मुख दिखायी नहीं दिया, सिर्फ पीठ और पिछला भाग दिखायी दे रहा था। फिर भी आकृति को देखकर सीता ने शूर्पणखा को पहचान लिया।

पास जाकर धीमी आवाज में पुकारा, “शूर्पणखा!”

शूर्पणखा ने मुड़कर देखा, परंतु सीता को नहीं पहचान सकी।

“कौन हो बहन? क्या रास्ता भूल गयीं? तुम मेरा नाम कैसे जानती हो?”

“राह नहीं भूली शूर्पणखा! रास्ता ढूँढ़ते हुए आयी हूँ! मैं सीता हूँ!”

शूर्पणखा अवाक् रह गयी।

सीता! यह सीता है! कितनी बदल गयी है!

वह तो भारी आभूषणों से सजी सीता को ही जानती थी। वह भी क्षण भर के लिए देखा था।

रावण को मारकर आर्य साम्राज्य को पूरे दक्षिणापथ में स्थापित करने वाले श्री रामचंद्र की पटरानी सीता क्या यही है? शूर्पणखा को विश्वास नहीं हो रहा था। ये सादी साड़ियाँ? फूलों के आभूषण?

धूप में जलकर काला पड़ गया चंपई रंग? यह सीता है? श्रीराम की धर्मपत्नी वही सीता?

“सीता... अर्थात् श्रीराम की...” शूर्पणखा ने कहना आरंभ किया तो सीता ने टोककर कहा, “मैं सीता हूँ। राजा जनक की पुत्री, जानकी हूँ। भूमिपुत्री हूँ मैं!”

“तो, राम?” शूर्पणखा असमंजस में पड़ गयी।

“श्रीराम ने मेरा परित्याग किया। वस्तुतः महर्षि वाल्मीकि के आश्रम में मेरा निवास है।”

शूर्पणखा अवाक् रह गयी। श्रीराम ने सीता को त्याग दिया? सीता-राम के प्रेम को उससे अधिक कोई नहीं जानता था। उस प्रेम के लिए उसे बहुत बड़ा मूल्य भी चुकाना पड़ा था।

सीता के चेहरे पर शांत और गंभीर भाव था। शूर्पणखा को उसमें वेदना की छाया नहीं दिखी। सीता में परिपक्वता आ गयी, शूर्पणखा ने सोचा।

“कल मेरे पुत्र तुम्हारा उद्यान देख गये थे और आज वे ही मुझे यहां लाये हैं। तुम्हारा उद्यान बड़ा ही सुंदर और सुहावना है!” सीता ने मुस्कुराते हुए कहा।

“तो वे बालक तुम्हारे पुत्र हैं? बहुत ही प्यारे हैं!”

यह सुनते ही क्षण भर को सीता का चेहरा गर्व से दमक उठा, परंतु तुरंत वह दर्प लुप्त भी हो गया। शूर्पणखा ने उसे देख लिया।

“इस उद्यान में जितने भी पौधे हैं, लताएं हैं, वृक्ष हैं, सब मेरी ही संतान हैं,” शूर्पणखा ने कहा।

“हाँ! इसीलिए तो इतने मनमोहक हैं,” सीता ने कहा। शूर्पणखा की आँखों में गर्व दिखायी दिया जो वहीं स्थिर हो गया।

“कहो, शूर्पणखा, तुम्हारा जीवन अब कैसा है?”

“इस वन जैसा सुंदर और आनंदमय है!”

“मुझे संतोष हो रहा है, शूर्पणखा! मुझे डर था कि तुम्हारे साथ किये गये अत्याचार और अपमान के कारण तुम कहीं अपने आपको मिटा न दो! तुम्हारे मन में सौंदर्य के प्रति जो प्रेम था वह मैं जानती थी। स्वयं को कुरूप देखकर तुम उसे सहन कर सकोगी या आत्महत्या कर लोगी, यही बात मेरे मन में बार-बार वेदना जगा देती थी।”

सीता की आँखों में दया और प्रेम के भाव देखकर शूर्पणखा का मन पिघल गया। दोनों के मन स्नेह से भर गये और शरीर पुलकित हो गये।

“तुम धीरा हो!” सीता ने कहा।

सीता की यह बात हृदय से निकली थी। इसीलिए शूर्पणखा का हृदय उद्वेलित हो गया और अपने जीवन की बीती बातों को सीता के साथ बांटने की इच्छा हुई।

“अब मुझे खुश देखकर यह मत समझ लेना कि यहां तक मैं आसानी से पहुँच पायी। जीवन तो संघर्षों से ही भरा है। स्वाभाविक रूप से मैं कोमल थी, पर जीवन के अनुभवों ने कठोर बना दिया। सौंदर्य का सच्चा अर्थ जानने के पश्चात् ही मुझे सच्चा आनंद मिला।

“विरूप होने के पश्चात् पहले जीवन बहुत कठिन लगा। अपना रूप स्वयं को असहनीय लगता था। मुझे अपने आप से घृणा होती थी। कभी-कभी मृत्यु का आलिंगन करने की भी इच्छा होती थी।

“मुझे सौंदर्य चाहिये था...प्रेम चाहिए था। उन दोनों के अभाव में मैं जीवित नहीं रह सकती थी। ऐसी स्थिति में मैं कुरूप हो गयी।

“जिन पुरुषों से मुझे प्रेम था, वे मेरा रूप देखकर मुझसे घृणा करने लगे। तब सोचा, इस जीवन का क्या लाभ? तब जीवन नरक बन गया था। मन सदा दुःख और क्रोध से जलता रहता था। राम को, उसके भाई को और तुम को न जाने कितने सारे शाप दे दिये थे मैंने! तुम तीनों पर विष घोलती रही। मन से सारा प्रेम न जाने कहाँ लुप्त

हो गया, केवल द्वेष ने आसन जमा लिया था। सौंदर्य से प्रेम करने वाली मैं प्रत्येक सुंदर वस्तु से घृणा करने लगी। सुंदर स्त्रियों से मुझे ईर्ष्या होने लगी।

“मैं एक गतिमान ज्वालामुखी बन गयी!”

शूर्पणखा के अतीत के अनुभव सुनकर जहां सीता का मन भारी हो गया, वहीं उनके स्मरण से शूर्पणखा का घाव भी हरा हो गया।

“उस कठोर वेदना से तुम कैसे उबर सकी शूर्पणखा?” सीता ने सहानुभूति प्रकट की।

“बहुत कठिन था... सौंदर्य का सच्चा अर्थ जानने के लिए कठिन प्रयास करना पड़ा। अपनी सुंदरता पर बहुत गर्व था मुझे। विशेषकर अपनी नाक मुझे बहुत प्यारी लगती थी। तुम कल्पना भी नहीं कर सकती! तुम आयीं की लंबी नाक मुझे विचित्र लगती है। मेरी नाक न लंबी थी न चपटी। ईश्वर ने नाक की जो प्रथम बार कल्पना की होगी, वह मेरी नाक जैसी ही रही होगी, यह सोचकर मैं गर्वान्वित हो जाती थी। पीले, सफेद घास के फूलों को नाक में आभूषणों की तरह पहनती थी। वे नक्षत्रों की तरह नाक दोनों ओर चमकते थे। मेरे प्रेमी जब मेरी नाक का हलका चुंबन लेते तो मैं रोमांचित हो जाती थी।

“कोई नहीं समझ सकता कि नाक से वंचित होना कितनी बड़ी व्यथा का कारण बन सकता है। उस व्यथा को मैंने सहन किया। विरूपता के कारण मन में जितने भी विकृत विचार उठे, उनका भार भी वहन किया। कभी-कभी तीव्र इच्छा होती कि सबको... मनुष्यों और वस्तुओं को... नष्ट भ्रष्ट करके उनका रूप मिटा दूँ!

“उस प्रतिकार की ज्वाला से बाहर निकलकर, पुनः सौंदर्य से प्रेम करने के लिए, रूप और अरूप के सार को समझने के लिए, मुझे अपने आप से एक बड़ा ही युद्ध करना पड़ा था और उस युद्ध में मेरा साथ दिया था इस अनंत प्रकृति ने।

“यह जानने के लिए बहुत प्रयत्न करने पड़े कि प्रकृति सुंदर और कुरूप का भेदभाव नहीं करती। अनेक प्राणियों को ध्यान से देखा। जड़ और चेतन में एकरूपता को देखा। रंगों का रहस्य समझ गयी। यह सब करने के लिए मैं किसी गुरु के पास नहीं गयी। स्वयं साधना की, प्रकृति के

प्रत्येक अणु का शोध किया। उसके पश्चात् मेरी दृष्टि परिवर्तित हो गयी। मेरी आँखों को प्रत्येक वस्तु सुंदर दिखने लगी। स्वयं से और प्रत्येक वस्तु से घृणा करने वाली मैं अब स्वयं से और प्रत्येक वस्तु से प्रेम करने लगी।

“एक साथ रहने वाले पक्षी हठात् किसी एक पर वार करके, पंख नोच लेते हैं, वह घायल पक्षी मेरे मन में जो स्पंदन जगाता है, वह जितना प्रेम भरा है, उतना ही सौंदर्य से भी भरा होता है, यह समझने और उस स्पंदन के आधार पर विषय को समझने के लिए मैंने जो साधना की वह असामान्य है।

“धीरे-धीरे मैंने अपने हाथों से प्यार करना सीखा। यह सब साधने में दस वर्ष लगे। दस वर्ष की कठोर दीक्षा और श्रम का फल मिला तो यह उद्धान लगाने का विचार आया। पौधे, लताएँ और पेड़ उगाने लगी।”

अपने जीवन की यात्रा के सत्य और सुंदर को शूर्पणखा ने सीता को बताया।

“तुम कितनी सुंदर हो, शूर्पणखा! शायद तुम्हारे सौंदर्य को कोई भी पुरुष नहीं समझ सकेगा!” सीता का कंठ रुंध गया।

“मेरी अग्निपरीक्षा से कम नहीं है शूर्पणखा का यह अनुभव!” यह सोचते ही सीता की आँखें छलछला आयीं।

शूर्पणखा हंस पड़ी... खुशी से... उसकी हंसी बड़ी सुंदर थी। उसने कहा, “क्या पुरुषों के आँखें नहीं होती, मन नहीं होता? मैं उन पुरुषों की बात कर रही हूँ जो केवल स्त्रियों को कुरूप बनाना और उनसे घृणा करना जानते हैं।”

“तो...” सीता ने वाक्य पूरा नहीं किया, परंतु उसका आशय शूर्पणखा की समझ में गया।

“तुम्हारा विचार ठीक है, सीता। मुझे एक पुरुष का साथ मिल गया है। मेरे हाथों से प्रकृति में प्रवाहित सौंदर्य को कुछ समय तक अपना बनाकर, स्वयं को समर्पित कर देने वाला भाग्यवान मुझे मिला है,” कहकर उसने ऊंचे स्वर में पुकारा, “सुधीर!”

एक दृढ़काय युवक वहां उपस्थित हुआ, सुधीर नाम उसके उपयुक्त ही था।

“ये सीता हैं!”

सुधीर ने विनम्र होकर प्रणाम किया।

“मैं चाहती थी सीता तुम्हें देखे, इसीलिए बुलाया।”
यह सुनते ही सुधीर वहां से चला गया। उस छोटी-सी बेंट में सीता को उन दोनों के बीच ऐसे किसी संबंध का आभास हुआ था, जिसे उसने किसी भी अन्य स्त्री-पुरुष के बीच नहीं देखा था।

“लगता है, तुमने अपने जीवन को सफल बना लिया!”

“मैं जान गयी कि सफलता पुरुष के साहचर्य में नहीं होती। यह जानने के पश्चात् ही मुझे पुरुष का साथ मिला।”

सीता, शूर्पणखा की बातें ध्यान से सुन रही थी। उन बातों में विवेक था, गंभीरता थी। इसी तरह सुनते रहने की इच्छा होने लगी।

“सीता... तुम...?”

“पुत्रों की देखभाल करते हुए जीवन को सार्थक बना रही हूँ!”

“क्या यहीं तुम्हारे जीवन का लक्ष्य है?”

“हाँ, मैं राम की पत्नी हूँ। पटरानी के रूप में मैं अपना कर्तव्य नहीं निभा सकी। रामराज्य के लिए उत्तराधिकारी तो तैयार करूँ!”

“तुम कभी राज्य में नहीं रही, फिर भी तुम्हारा जीवन राज्य के साथ किस प्रकार जुड़ गया है, देखो!”

“राजा की पत्नी हूँ तो यह अनिवार्य हो जाता है।” सीता मुस्करायी।

“मुझे आरंभ से ही राज्य से डर लगता था। भाई के बार-बार कहने पर भी मैं लंका नगर में नहीं रहती थी। वन विचरण में जो सुख मिलता है, वह अन्यत्र कहाँ मिलेगा?”

“मुझे भी वनवास ही भाता है। राम ने मुझे त्याग दिया, इस क्लेश को वनवास ने कम कर दिया।”

बातों-बातों में उन दोनों को समय का ध्यान ही नहीं रहा।

“मेरे पुत्र यह नहीं जानते कि वे श्रीराम के पुत्र हैं। मैंने बताया नहीं... समय आने पर स्वयं जान जायेंगे।”

“जानने के बाद वे एक क्षण के लिए भी वन में नहीं

रुकेंगे।” शूर्पणखा ने सहानुभूति से सीता को देखा।

“उनको वनवास प्रिय है!” सीता का कंठ दृढ़ नहीं था।

“उन्हें प्रिय हो सकता है। परंतु राज्य को वन से प्रेम कहाँ होता है? नगर के विकास के लिए, नागरिकों की सुरक्षा के लिए अरण्यपुत्रों को प्रस्थान करना ही पड़ेगा।”

सीता भी जानती थी कि यह अनिवार्य है।

“तब क्या करोगी? वाल्मीकि के आश्रम में ही रहोगी?”

“नहीं शूर्पणखा। मेरी माता भूदेवी की शरण में जाऊँगी!”

“तुम्हारी माता कहाँ नहीं है, सीता? परंतु तुम्हारी माता का इससे सुंदर रूप कहीं नहीं होगा!” शूर्पणखा ने कहा और गर्व से उद्यान को देखने लगी।

सीता मुस्करायी, मानो शूर्पणखा का आशय समझ गयी हो। शूर्पणखा के आह्वान से उसका मन भाव-विभोर हो गया। शूर्पणखा उसे अपनी बहन जैसी लगी।

“अवश्य आऊँगी, शूर्पणखा! जब मेरे पुत्र मुझे छोड़कर नगर चले जायेंगे, तब मैं केवल भूपुत्री रह जाऊँगी। इन वृक्षों की टंडी छाया में विश्राम करते हुए जीवन का नया अर्थ खोजूँगी।”

इतने में दोनों बालक आये तो उनका वार्तालाप रुक गया।

शूर्पणखा ने उन दोनों को मीठे फल दिये। उन दोनों ने बड़े प्यार से उन्हें खा लिया।

वापस जाते हुए रास्ते में दोनों ने सीता से पूछा, “माँ, वो कौन थीं?”

“मेरी बड़ी ही प्रिय मित्र हैं। आत्मीय व्यक्ति हैं।”

“परंतु तुमने कभी उनके बारे में हमें नहीं बताया।”

“समय आने पर सब कुछ अवगत हो जायेगा। परंतु इस वन में इस उद्यान तक जाने वाला मार्ग तुम कभी न भूलना। तुम कहीं भी जाओ, रहो, कुछ भी करो, पर इस उद्यान को स्मरण रखना। रखोगे ना?”

“रखेंगे माँ! नहीं भूलेंगे!” दोनों बालक ने सीता को वचन दिया।

संपर्क :

506, वेस्ट इंड अपार्टमेंट

मस्जिद बांडा कोंडापुर, हैदराबाद- 500084, मो. 09440745709

‘पीड़ा जनित दलित चेतना का मुखरित दस्तावेज : ‘अल्लाखोह मची’

शिवशरण दुबे

कवि रामकिशोर दाहिया कोई नवोदित नवगीतकार नहीं है। ‘अल्लाखोह मची’ नवगीत संग्रह के पूर्व ‘अल्पना अंगार पर’ उनका एक नवगीत संग्रह प्रकाशित हो चुका है। विगत कई वर्षों से वे रचना-धर्मिता के साथ जुड़े हैं। मैं इन्हें दो दशकों से अधिक वर्षों से व्यक्तिगत संपर्क के आधार पर भलीभाँति जानता हूँ। कई वर्षों तक हम साथ-साथ रहे और साहित्यिक सांस्कृतिक तथा सामाजिक सरोकार के कार्यक्रमों से जुड़े रहे। दाहिया जी धुन के पक्के हैं, जिस काम में जुड़ जाते हैं उसे पूरी लगन तत्परता और निष्ठा के साथ पूर्णतः की स्थिति तक पहुँचाते हैं। नवगीत-रचना उनका शौक नहीं, उसे वे एक तपस्या और साधना के रूप में मानते हैं। एक ही रचना को वे तब-तक सुधारते-सँवारते और निखारते रहते हैं जब तक कि पूर्णतः संतुष्ट नहीं हो जाते। उनके इस अध्यवसाय में मुझे महाप्राण कवि निराला की प्रवृत्ति और श्रमसाध्य ‘काव्य-साधना’ की परछाई दिखाई देती है। कुशल शिल्पकार की भाँति शब्दों की इमारत खड़ी करके उसे मजबूती और ऊँचाई प्रदान करने की कला दाहिया जी से प्रेरणा के रूप में प्राप्त होती है। इनके नवगीत कम से कम और सटीक शब्दों में गढ़ी गई प्रौढ़ और सारगर्भित रचना होती है।

यह समीक्ष्य कृति ‘अल्लाखोह मची’ कवि का प्रौढ़ और परिपक्व नवगीत-संग्रह है। मैंने इसे आद्योपांत कई बार पढ़ा और हर बार मुझे कोई न कोई नया तथ्य मिला। इस संग्रह का शीर्षक ही ऐसा है, जिस पर ठहरकर विचार करने को जी चाहता है। ‘अल्लाखोह’ शब्द इस अंचल में ‘अल्लाखाह’ भी बोला जाता है। ‘अल्लाखाह मचना’ एक ग्रामीण मुहावरा है। दाहिया जी ने शब्द को किंचित सुधार कर ‘अल्लाखोह’ कर दिया है, जो हिंदी के शुद्ध वर्तनी के समीप पहुँच गया है। इस शब्द में दो शब्दों का मेल है। हिंदी खड़ी बोली में ‘अललाना-या अल्लाना अकर्मक क्रिया शब्द है। इसका अर्थ होता है- गला फाड़कर कारुणिक आवाज में चिल्लाना या गुहार मचाना। ‘अल्लाखोह युग्म शब्द का दूसरा अंश है ‘खोह’ है,

खोह का प्रचलित अर्थ कन्दरा या अंधकार पूर्ण गुफा है। 'अल्ला' (अल्लाना) के साथ 'खोह' का अर्थ समीचीन नहीं बैठता। संग्रह के नवगीतों में जो 'अल्लाखोह' मची है वह किसी अंधेरी गुफा के भीतर की चीख नहीं है। वह तो नितांत उजाले की चीख है। खुलेआम शोषण और अभावग्रस्त जीवन की चीख है। समाज में व्याप्त भेदभाव, अस्पृश्यता, जातियाँतिगत विडम्बनाओं, रिश्वतखोरी, कालाबाजारी, महँगाई, गरीबी और भूखमरी की चीख है। इसलिए यह 'खोह' शब्द 'कोह' या 'कूह' है। 'कोह' का अर्थ 'क्रोध' होता है। अतः 'अललाने' के साथ क्रोध का प्रदर्शन भी संभव है। किंतु मेरे विचार से 'कूह' शब्द अधिक अभीष्ट है। भाषा-विज्ञान के अनुसार शब्द-निर्माण के नियमों के अन्तर्गत स्वर और वर्ण-विपर्यय द्वारा बोलचाल की भाषा में 'अल्लाकूह' की 'अल्लाखोह' में रूपांतरित हो गया है। कवि ने 'अल्लाखोह' का अर्थ पुस्तक के अंतिम पृष्ठ 143 की पाद-टिप्पणी में 'हाहाकार' दिया है। 'हाहाकार' भरी चिल्लाहट, युद्ध अथवा किसी विनाश या भारी क्षति से उत्पन्न चिंता और असुरक्षा भरी चीख पुकार। जैसे- "हाय-हाय सर्वनाश हो गया, हम लुट गये, हम मर गये, बचाओ-बचाओ, रक्षा करो" आदि सामूहिक कोलाहल। भाषा के प्रवाह में शब्द स्वरूप और शब्दार्थ में परिवर्तन होता रहता है।

'अल्लाखोह मची' कृति दो भागों में विभक्त है। (1) धधकी आग तबाही और (2) पागल हुआ रमोली। प्रत्येक खंड में 35-35 गीत हैं। प्रथम खंड सुप्रसिद्ध नवगीतकार रामसंगर जी के लिए और दूसरा खंड गुलाबसिंह जी के लिये समर्पित है। मेरी आकांक्षा है कि दोनों विद्वान कवि अपने-अपने खंड के नवगीतों पर आधारित समीक्षापरक बृहद् भाष्य प्रस्तुत कर नवगीतकार दाहिया की कृति, की उपादेयता को और अधिक स्पष्ट तथा मुखर कर समाज के सामने रखें। ताकि अधिकाधिक रसग्राही पाठक लाभान्वित हो सकें। कवि की उपर्युक्त समीक्ष्य कृति का रसास्वादन करते हुए, मैंने अनुभव किया है कि सम्पूर्ण कृति के कतिपय रचनाओं में 'अल्लाखोह मची' शीर्षक शब्द के अर्थ की व्याप्ति है। दलित और दीन-हीन कमजोर वर्ग,

ऋणग्रस्त किसान, मजदूर, घर परिवार की भूख, भूख और रोग तथा निर्धनता, कवि की भोगी हुई पीड़ा, निजी विवशता, समाज के दबंग लोगों की कारगुजारी, ठेकेदारों की मनमानी, पूँजीवादी बाजार-व्यवस्था और झोपड़पट्टी की तबाही आदि विषयों पर आधारित कवि की संपूर्ण अभिव्यक्ति तीव्र संवेदनापरक है। रामकिशोर दाहिया और मैं लगभग एक ही भौगोलिक अंचल एवं सामाजिक परिवेश से जुड़े हैं, इसलिए भाषागत, संस्कृति तथा समाजगत समझ में भिन्नता नहीं है। वैचारिक धरातल पर अनुभूतिजन्य तीव्रता या मन्दता न्यूनाधिक हो सकती है। कवि का बचपन जिस ग्राम्य परिवेश में बीता, उसकी स्मृति कवि के मानस पटल पर अमिट रूप से रच-बस गई है। घर-परिवार की दैन्य परिस्थिति एवं समाज से प्राप्त भोगी गई पीड़ा, जिसमें 'जात-पाँत' और वर्ण-भेद संबंधी विषमता पूर्ण व्यवहार के साथ उपेक्षित रहने की पीड़ा तथा कृत संघर्ष की व्यथा-कथा, कवि के आहत मन को नवगीतों की ओर ले जाती है।

दाहिया जी के नवगीतों में आहत मन की चीत्कार है कहीं बिना आँसू बहाये कराह है। कहीं कसमसाता हुआ विरोध तो कहीं विद्रोह है। इन नवगीतों में कवि की विवशता और विक्षोभ का भी पुट मिलता है। 'पीड़ा नहीं बाँटता' 'बोलता जूता नहीं है' 'पूरने को खाइयाँ' 'दहके अवा' और 'संस्कारों की थाती' आदि रचनाओं में इन तथ्यों को समझा जा सकता है।

कवि के नवगीतों में कार्यालयों में व्याप्त रिश्वतखोरी, बाबूगिरी का रौब और शोषण, अफसरशाही आदि के चित्र भी उपस्थित हैं। ठेकेदारों द्वारा, श्रमिकों का शोषण और मजदूरों की विवशता का भी कवि ने जीवंत और मार्मिक चित्रण किया है। इसके अतिरिक्त कवि की रचनाओं में छुट-पुट प्राकृतिक दृश्यों का भी समायोजन है।

कवि की अधिकांश रचनाओं में व्यक्तिगत दैन्य, कुंठा, विवशता और पीड़ा तथा पश्चाताप का आवेग है। जो व्यष्टि से समष्टि की ओर ले जाता हुआ परिलक्षित होता है। इन रचनाओं में दलित पीड़ा और पश्चाताप की मुखर अभिव्यक्ति कहीं-कहीं सम्भ्रांत वर्ग के प्रति विष-वमन हेतु आतुर दिखाई देती है। इसे स्वाभाविक होते हुए भी

श्लाघ्य नहीं माना जा सकत। 'बोलता जूता नहीं है' बम्हनौटी एवं चन्दन खौरना जैसे शब्दों में व्याप्त व्यंग्यात्मक तिरस्कृत ध्वनि, कवि की विद्रोहातुर अन्तर्ध्वनि प्रतीत होती है। कवि को आत्म-व्यथा की अभिव्यक्ति का पूरा अधिकार है। किंतु समाज में समरसता की स्थापना उसका नैतिक दायित्व भी है। इसे नहीं भूलना चाहिए।

कवि ने अपने नवगीतों में स्थानीय (देशज) बोली के शब्दों का जो प्रयोग किया है, वह हिंदी भाषा को धनाढ्य तो बनाता है, किंतु वर्तमान में साहित्य उन्हें कैसे स्वीकारेगा ? यह एक विचारणीय प्रश्न है। अन्यान्य प्रदेशों के पाठक जो इन शब्दों से पूरी तरह अपरिचित हैं। उनके लिए इन रचनाओं में निहित भाव हृदयंगम किये बिना छूट सकता है। जैसे- पोटना, हरैया, फदके, मुखारी, खून में चर्चा, तरोगा, डहडक, ठोढ़ा, पुलुर, मिड़वइया, लदरा, धमग्वाजर, उरयार, प्यांदर, बिजगाहिंद, दहपट, भुरकुन, मरथल, हुलकी, अधमाधूह, फरगदलाली, खुआ इत्यादि। अच्छा यह होता कि, कवि पुस्तक में यथास्थान अथवा अंत में ऐसे शब्दों के अभिप्राय संबंधी टिप्पणी की व्यवस्था कर देता। कवि ने अपनी कविताओं में प्रचलित उर्दू और अंग्रेजी के शब्दों का भी धड़ल्ले से प्रयोग किया है। कृति के सभी नवगीत

तुकांत और गेय हैं। जिसके कारण वे प्रभावोत्पादक हैं। सहज अभिधा शब्द शक्ति नवगीतों के भाव को हृदयंगम बनाती है। कवि ने पारंपरिक अलंकारों अथवा किन्हीं नवीन काव्यात्मक विशेषताओं को बल पूर्वक अपने नवगीतों में स्थान नहीं दिया है। प्रायः सर्वत्र सरल सपाट बयानी में विचरित रचनाएँ कवि की एक अलग पहचान प्रस्तुत करती हैं। नवगीतकार दाहिया किसी दूसरे के समान नहीं केवल अपने समान और अद्वितीय हैं।

संक्षेप में, यहीं कहना उपयुक्त होगा कि 'अल्लाखोह मची' कृति पठनीय एवं संग्रहणीय है। भाव और भाषा की दृष्टि से अनूठी है। पीढ़ाजनित दलित चेतनाओं का यह एक मुखरित दस्तावेज है। इस सशक्त प्रस्तुति के लिए नवगीतकार रामकिशोर दाहिया बधाई के पात्र हैं। स्वस्थ एवं सुदीर्घ जीवन की मंगल कामनाओं के साथ.....।

समीक्ष्य कृति : अल्लाखोह मची (नवगीत संग्रह)

कवि : रामकिशोर दाहिया

समीक्षक : शिवशरण दुबे

प्रकाशक : उद्भावना प्रकाशन गाजियाबाद

संस्करण : 2014, पृष्ठ संख्या : 144

सजिल्द मूल्य : 300/- रुपये मात्र

संपर्क :

संदीप कॉलोनी, कटनी मार्ग,

बरही- 483 770 (म.प्र.), मो. 09301901487

आजाद भारत का प्रामाणिक और जीवंत दस्तावेज: एक जिंदगी काफी नहीं

गीता दूबे

कुलदीप नैयर की आत्मकथा 'एक जिंदगी काफी नहीं' कई मायने में अन्य आत्मकथाओं से भिन्न है। जहाँ कई आत्मकथाएँ इसलिये लिखी जाती हैं कि लेखक अपनी व्यक्तिगत उपलब्धियों और कटु मृदु स्मृतियों को पाठकों के सामने रख सके या दिल खोल कर अपने पाठकों से बतियाता हुआ मन पर पड़े बोझ को हल्का कर सके वहीं इस किताब में लेखक अपने 'स्व' को देश और समाज पर 'वारता' हुआ अपनी आपबीती के माध्यम से अपने समय की एक ऐसी जीवंत और विश्वसनीय तस्वीर पेश करता है कि पाठक सहजता से उस कथा से बँध जाता है। लेखक अपनी आत्मकथा को देशकथा में इस तरह लय कर देता है कि उसकी कहानी एक ऐतिहासिक दस्तावेज में बदल जाती है। आलोच्य किताब के हिंदी संस्करण की भूमिका में लेखक ने यह स्पष्ट कर दिया है कि— "वास्तव में यह तीन देशों भारत, पाकिस्तान और बांग्लादेश की यादों की एक स्मरणीय यात्रा करें।" आलोच्य आत्मकथा साहित्य और इतिहास के गंभीर पाठकों के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है और गंभीरतापूर्वक बार-बार पढ़े जाने की मांग करती है।

वरिष्ठ पत्रकार कुलदीप नैयर भारतीय इतिहास की बहुत सी घटनाओं के साक्षी रहे हैं। उनके अनुभवों का दायरा भी काफी विस्तृत और गहरा है। उन्होंने देश विभाजन की त्रासदी को देखा, भोगा तथा बंटवारे के कारण देशबंदर होने को विवश हुए। पलायन के इस दर्द ने उनके जीवन को इतनी शिद्दत से छुआ कि वे गंभीरता से देश विभाजन के कारणों और परिणामों पर विचार करते हुए उन राजनीतिक परिस्थितियों और चरित्रों को कटघरे में खड़ा करते हैं जिनकी वजह से इतिहास का यह काला अध्याय लिखा गया। सांप्रदायिक दंगों की भयानक आग में झुलसते भारत में गांधी जी के ये शब्द उनके जीवन को दिशा देते हैं— "यह बात याद रखो कि हिंदू और मुसलमान मेरी दो आँखों की तरह है" और नैयर लिखते हैं— "मैं आज भी उनके इन शब्दों पर अमल कर रहा हूँ।" बचपन में ही विभाजन की त्रासदी भोगने वाले कुलदीप इस बात को शिद्दत से महसूस करते थे कि किस तरह हिंदू और मुसलमानों के बीच नफरत की फसल बोयी गई जिसने पूरे देश को दर्द और नफरत से भर दिया। इसी नफरत ने देश के टुकड़े किए जिसमें तत्कालीन राजनेताओं की भी सहमति थी। नैयर ने लिखा है, "नेहरू और पटेल को एक कटा हुआ भारत मंजूर था और जिन्ना को एक कटा हुआ पाकिस्तान।" और इसी कारण आजादी अपने साथ ऐसी तल्लियां लेकर आई जिनसे हम आज भी उबर नहीं पाए हैं। इस

स्थिति पर नैयर लिखते हैं- “देश का बंटवारा धर्म के नाम पर हुआ था, इसलिए इसके दुष्परिणामों को टाला नहीं जा सकता था।”

इस किताब में लेखक ने अपने पत्रकारिता जीवन के अनुभवों के आधार पर भारत और पाकिस्तान की महत्वपूर्ण घटनाओं और राजनीतिक उठापटक का अत्यंत जीवंत वर्णन किया है। आजादी के बाद की सबसे बड़ी दुर्घटना या साजिश थी, गांधी जी की हत्या जिसने पूरे देश को झकझोर दिया। स्तब्ध नेहरू ने शोक प्रकट करते हुए कहा था, “हमारी जिंदगी से रोशनी गायब हो गई है। बापू नहीं रहे। एक आभा लुप्त हो गई है।..... अब देश किसका मुँह ताकेगा?” स्वयं नैयर के मन में ये सवाल उठते हैं- “क्या भारत इस आवाज पर ध्यान देगा, जिसे एक उन्मादी हत्यारे ने खामोश कर दिया था? क्या उनके बलिदान के बाद धर्मनिरपेक्षता का मिशन पूरा हो सकेगा।”

इसके बाद देश के तमाम राजनीतिक आंदोलनों और परिवर्तनों का उल्लेख नैयर सिलसिले वार करते हैं और अपनी बातों की पुष्टि के लिए तत्कालीन राजनेताओं और इतिहासकारों के कथन उद्धृत करते चलते हैं। नेहरू और पटेल के वैचारिक टकराव और उनकी भूमिकाओं के बारे में वे हुमायूँ कबीर के हवाले से मौलाना आजाद के विचारों को वाणी देते हैं- “पटेल को देश का प्रधानमंत्री होना चाहिए था और नेहरू को राष्ट्रपति।”

भारतीय राजनीति के तमाम उतार-चढ़ाव को अपनी बारी नजर से देखने वाले नैयर की दृष्टि से कोई भी महत्वपूर्ण घटना या दुर्घटना ओझल नहीं हुई है चाहे वह चीन की गद्दारी हो, लालबहादुर शास्त्री का औचक प्रधानमंत्री बनना या उनकी आकस्मिक मृत्यु। इमरजेंसी के काले अध्याय के साथ-साथ आपरेशन ब्लू स्टार और उसके परिणाम स्वरूप इंदिरा गांधी की हत्या हिंदू सिख दंगों का भयावह चित्रण भी वे करते हैं। लालबहादुर शास्त्री की मृत्यु की अनसुलझी गुत्थी वह पाठकों के सामने ज्यों का त्यों रख देते हैं तो संजय की विमान दुर्घटना के पीछे की साजिश की ओर भी मेनका गांधी की मां के हवाले से संकेत करना नहीं भूलते। इंदिरा गांधी पर उनकी यह टिप्पणी उल्लेखनीय है- “इंदिरा गांधी की निर्णय क्षमता

उनकी बहुत बड़ी खूबी थी, लेकिन धीरे-धीरे उनके काम काज के तौर तरीकों में अधिकारवाद की झलक दिखाई देने लगी थी।” इंदिरा गांधी की हार के बाद भारतीय जनता पार्टी की अभूतपूर्व विजय के चित्रण के साथ-साथ दूसरी आजादी और उससे जनता के मोहभंग के कारणों और परिस्थितियों का भी वे बड़ी बारीकी से आंकलन करते हुए देश के तत्कालीन हालत पर टिप्पणी करते हैं- “देश भयंकर मोहभंग की स्थिति में था। लोगों ने कल्पना भी नहीं की थी कि सत्ता परिवर्तन का मतलब सिर्फ स्वामियों का बदल जाना, खाली की गई कुर्सियों पर नए व्यक्तियों का बैठ जाना होगा; परिवर्तन के नाम पर कुछ भी नहीं होगा न तो राजनीतिक आचरण में न नीतियों में।” 1980 में एक बार फिर इंदिरा गांधी को सत्ता मिलती है और कुलदीप नैयर को इंडियन एक्सप्रेस छोड़ना पड़ता है। सत्ता से विरोध किसी को भी महंगा पड़ता है।

भारतीय राजनीति के बदलावों को रेखांकित करते हुए मनमोहन सरकार के शासनकाल तक के समय को अपनी किताब का विषय बनाते हैं। हालांकि वे मनमोहन सरकार की समीक्षा करने से बचते हैं लेकिन भारतीय राजनीति में नैतिकता लाने पर जोर जरूर देते हैं। बाबरी मस्जिद विध्वंस और गुजरात दंगों की भयावहता का उल्लेख करते हुए वे मुस्लिम कट्टरपंथ और हिंदू आतंकवाद दोनों को देश के भविष्य के लिए अशुभ संकेत मानते हैं। गुजरात सरकार में राज्यसभा के सांसद के रूप में मनोनित होकर वे सफलतापूर्वक संसद का कार्याकाल पूरा करते हैं और इस दौरान के अपने अनुभवों को बड़ी रोचकता से उन्होंने किताब में उकेरा है। इसमें वह भयावह अनुभव भी शामिल है जब 2001 में संसद पर आतंकी हमला हुआ था और लाहौर यात्रा का जिक्र भी है।

भारत के साथ-साथ पाकिस्तान और बांग्लादेश की महत्वपूर्ण घटनाओं का भी वे जायजा लेते चलते हैं। बांग्लादेश युद्ध, शिमला समझौता आदि के बारे में बताते हुए वे उस घटना का उल्लेख भी बड़ी रोचकता से करते हैं जब अचानक उन्हें पाकिस्तान द्वारा परमाणु बम बना लेने का पता चलता है।

उपसंहार में वे अन्याय के प्रति विरक्ति प्रकट करते

हुए मानवीय मूल्यों से जुड़ाव पर बल देते हैं। वे स्वीकारते हैं कि पत्रकारिता के पेशे को अपनाना उनकी नियति थी और संभवतः इसी कारण तत्कालीन भारत के संकटों को वे गहराई से महसूस करते हुए, राजनीतिक पार्टियों को इसके लिए जिम्मेदार मानते हुए देश की युवा पीढ़ी को संदेश देते हैं- “सैद्धांतिक प्रतिबद्धता के बिना कोई भी संघर्ष बिना तेल के दीयों की तरह है।” आत्मकथा के अंत में तीन परिशिष्टों को शामिल किया गया है जो उनके अनुभवों का ही विस्तार है। ‘भारतीय मीडिया’ में वे पत्रकारिता की चुनौतियों के साथ प्रेस की स्वतंत्रता का मुद्दा उठाते हुए पेड न्यूज के खतरों से सावधान करते हुए पत्रकारों के लिए पारदर्शिता और ईमानदारी को एक आवश्यक गुण मानते हैं। पत्रकारिता में आते मूल्यगत ह्रास की ओर संकेत करते हुए वे भारतीय प्रेस के लिए मर्यादा पालन को जरूरी समझते हैं। ‘मानवाधिकार और पर्यावरण’ में वे इस क्षेत्र के कार्यकर्ताओं और आंदोलनकारियों के योगदान पर विचार करते हुए अपने कार्यों और रुझान का भी उल्लेख करते हैं। ‘भारत पाक संबंध’ में वे बंटवारे की भयावहता को याद करते हुए अमरीकी कवि लैंग्सटन हजेस की कविता की इन पंक्तियों के माध्यम से दोनों देशों के संबंधों को व्याख्यायित करते हैं-

“मेरी जिंदगी कोई आसान सीढ़ी न थी

इसमें टूटे हुए पायदान थे

उखड़े हुए कील कब्जे थे

हिलते हुए बांस-डंडे थे

और नीचे फर्श पर कालीन भी नहीं बिछा था।”

इन तमाम तल्लिखियों, कश्मीर समस्या, राजनीतिज्ञों और

अधिकारियों की कठोर नीतियों और विदेशी ताकतों द्वारा इस समस्या को बद से बदतर बनाकर अपना उल्लू सीधा करने की चालों का जिक्र करने के बावजूद लेखक उम्मीद का दामन नहीं छोड़ता और पूरे विश्वास से लिखता है- “मुझे भरोसा है कि एक न एक दिन दोनों राष्ट्रों के बीच खड़ी अविश्वास और भय की दीवारें ढह जाएंगी, और अपनी अपनी पहचान को गंवाए बिना दोनों मिलजुल कर साझे हितों के लिए काम कर सकेंगे।.... विश्वास की इसी लौ के सहारे मैं नफरत की उन आंधियों और हिंसा के उन तूफानों का सामना करता रहा हूँ जो उपमहाद्वीप को बरसों से अपनी चपेट में लिए रहे हैं।”

वस्तुतः लेखक का यह विश्वास पाठकों को भी अनुप्राणित करता है कि वे अपने इतिहास को पढ़, समझकर, उससे सीख लेकर पुरानी गलतियों को न दोहराकर इंसान की इंसानियत के प्रति अपना भरोसा कायम रखे और मूल्यों, आदर्शों का दामन थाम कर इस देश और समाज का नया इतिहास गढ़ सके। यह पुस्तक हमें अपने इतिहास से परीचित ही नहीं कराती नया इतिहास रचने का हौसला भी देती है।

समीक्ष्य कृति : एक जिंदगी काफी नहीं (आत्मकथा)

लेखक : कुलदीप नैयर

समीक्षक : गीता दूबे

प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन प्रा.लि.

1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली- 110 002

संस्करण : 2012,

मूल्य : 600/- रुपये मात्र

भारतीय जन लेखक संघ का प्रथम राष्ट्रीय सम्मेलन

दिनांक 10.01.2016 को गांधी शांति प्रतिष्ठान, नई दिल्ली में डॉ. सोहनपाल सुमनाक्षर की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ। सम्मेलन में भारतीय जन लेखक संघ के राष्ट्रीय संयोजक महेन्द्र नारायण पंकज ने दिवंगत साहित्यकारों, समाजसेवियों, राजनेताओं, रंगकर्मियों के प्रति शोक प्रस्ताव प्रस्तुत करते हुए कहा कि आज देश में लेखकों, समाजसेवियों की हत्या होना चिंता की बात है। लेखकों पर सांप्रदायिक हमले को रोकने के लिए साहित्य में सवर्णवादी वर्चस्व को तोड़ना होगा।

सम्मेलन में 35 सदस्यीय राष्ट्रीय कार्य समिति का गठन किया गया। इसमें सर्वसम्मति से उत्तराखंड के प्रो. डॉ. राजेश पाल को राष्ट्रीय अध्यक्ष एवं त्रिपुरा के कृष्ण कुसुमपाल, लखनऊ के विष्णुदेव बौद्ध, डॉ. लालती देवी, उत्तर प्रदेश, राजस्थान के कन्हैया लाल परिहार, दालाभाई राव, नई दिल्ली की डॉ. अनुराधा गुप्ता, बिहार के डॉ. ध्रुव कुमार को उपाध्यक्ष, बिहार के राष्ट्रपति पुरस्कार से पुरस्कृत कथाकार महेन्द्र नारायण पंकज को राष्ट्रीय महासचिव निर्वाचित किया गया। राष्ट्रीय सचिव पद के लिए उमेश पंडित उत्पल, बिहार, डॉ. शमा खान, राजस्थान, तीर्थराम तोनगरिया, पंजाब, अमित मनोज, हरियाणा, मांगेराम मोरथला, हरियाणा का चयन किया गया। कोषाध्यक्ष के पद पर डॉ. गजेन्द्र कुमार, बिहार उपकोषाध्यक्ष के पद पर सुभाषचन्द्र प्रभाकर, बिहार का निर्वाचन किया गया।

राष्ट्रीय कार्य समिति पद के लिए प्रो. जोनटी दुबरा, डॉ. सुशीला पाल, (उत्तराखंड) डॉ. अशोक कुमार (हरियाणा), डॉ. घनश्याम सिंह (उत्तराखंड), प्रो. रवि कुमार (पंजाब), डॉ. सुनील पारीट, कर्नाटक के शक्तिराज तेलंगाना, राकेश कुमार वर्मा, राजस्थान, गोपाल चंद्र घोष मंगलम्, मिथिलेश कुमार, राकेश कुमार द्विजराज, बिहार, डॉ. प्रतिभा माही गुड़गाव हरियाणा, ए.के. नाद, गोण्डा, उत्तर प्रदेश, राजेन्द्र खाट्टी चंडीगढ़, डी.आर. धवन, राधेश्याम मालचा, दिल्ली पंकज चौधरी के नाम का चयन किया गया।

सम्मेलन के प्रतिनिधियों ने निम्नलिखित संरक्षण मंडल का चुनाव किया—

प्रो. इन्द्र नारायण यादव (बिहार), डॉ. फूलचंद गुप्ता (गुजरात), डॉ. सेराज खान बातिश (पश्चिम बंगाल), डॉ. जसवीर चावला (पंजाब), कर्मवीर बौद्ध (चंडीगढ़) पंजाब, बुद्धराज पवार (राजस्थान), नन्दकिशोर सिद्धार्थ (उत्तर प्रदेश), डॉ. बी. राम कोटी (हैदराबाद), डॉ. गोविन्द बुरसे (महाराष्ट्र), अरुण कुमार मंडल (बिहार)।

प्रस्तुति- महेन्द्र नारायण पंकज, राष्ट्रीय महासचिव, भारतीय जन लेखक संघ

अन्तर्राष्ट्रीय अंगोष्ठी एवं भारतीय लेखक-शिषि (वाराणसी, 13-15 जनवरी, 2016)

साहित्य अकादमी, नई दिल्ली और केन्द्रीय हिंदी संस्थान, आगरा के सहयोग से विद्याश्री न्यास और हिंदी विभाग, श्री बलदेव पीजी कॉलेज, बड़ागाँव, वाराणसी के संयुक्त तत्त्वाधान में 'हिंदी साहित्य में सांस्कृतिक संवेदना और मूल्यबोध' विषय पर केन्द्रित अंतर्राष्ट्रीय संगोष्ठी को संबोधित करते हुए मुख्य अतिथि माननीय श्री केशरी नाथ त्रिपाठी, राज्यपाल, पश्चिम बंगाल ने बताया कि साहित्य और संस्कृति

दोनों समाज की उपज हैं, जीवन के संस्कारों और सरोकारों से जुड़े हैं। साहित्य के संस्कार पैदा करने होते हैं, जबकि संस्कारों का जीवन में संतरण ही संस्कृति है, दोनों समाज को दिशा देते हैं। विशिष्ट अतिथि प्रो. नंद किशोर पाण्डेय, निदेशक, केन्द्रीय हिंदी संस्थान, आगरा ने हिंदी साहित्य के संदर्भ को लोक और श्रम की संस्कृति से जोड़कर देखने पर बल दिया। अपने अध्यक्षीय वक्तव्य में प्रो. गिरीश चंद्र त्रिपाठी, कुलपति काशी हिंदू विश्वविद्यालय ने सनातन साहित्य के उदात्त जीवन-मूल्यों पर आधारित होने की बात कही, साहित्य समाज का स्वच्छ दर्पण बना रहे इसके लिए साहित्यकारों से अपसंस्कृति और मूल्यहीनता के गर्दों-गुबार से उसे बचाए रखने की आशा और आश्वस्ति जाहिर की।

संगोष्ठी में पधारे प्रवासी हिंदी साहित्यकारों श्री तेजेन्द्र शर्मा (इंग्लैण्ड), श्रीमती जया वर्मा (इंग्लैण्ड), श्रीमती शैल अग्रवाल (इंग्लैण्ड), श्रीमती सुषम वेदी (अमेरिका) और श्रीमती स्नेह ठाकुर (कनाडा) का मुख्य अतिथि ने माल्यार्पण, अंगवस्त्र, नारिकेल, स्मृति-चिह्न, पुस्तक आदि प्रदान कर सम्मानित किया। सत्र का संयोजन-संचालन प्रसिद्ध कवि-कथाकार श्रीमती नीरजा माधव ने तथा कृतज्ञता-ज्ञापन प्रो. महेश्वर मिश्र, संस्थापक, विद्याश्री न्यास ने किया।

प्रस्तुति- दयानिधि मिश्र, सचिव, विद्याश्री न्यास, वाराणसी

राष्ट्रीय संगोष्ठी: इक्कीसवीं सदी में हिंदी कहानी: विचार, चेतना और विमर्श

हिंदी-विभाग, महर्षि दयानंद कॉलेज एवं महाराष्ट्र राज्य हिंदी साहित्य अकादमी के संयुक्त तत्त्वाधान में 22 एवं 23 फरवरी को 'इक्कीसवीं सदी में हिंदी कहानी: विचार, चेतना और विमर्श' विषय पर राष्ट्रीय संगोष्ठी आयोजित की गई, जिसमें मुख्य अतिथि प्रो. चौथीराम यादव ने दलित विमर्श को संदर्भित करते हुए कहा कि "दलित विमर्श का सही मूल्यांकन जातिवाद से ऊपर उठकर ही किया जा सकता है। दलित के हित चिंतन में ब्राह्मणों का भी योग है। दलित साहित्य आम्बेडकर के सिद्धांतों पर आधारित है।" डॉ. सुधाकर मिश्र ने स्त्री विमर्श पर लिखने वालों से निवेदन किया कि वे ऐसा साहित्य रचें जो पुरुषों के विरोध में न जाकर पुरुषों को इस बात के लिए प्रेरणा दे कि उनमें नारियों के प्रति आदर भाव पैदा हो और प्रो. रतन कुमार पाण्डेय ने कहानियों के संदर्भ देते हुए धर्म और संप्रदाय पर बोलते हुए सांप्रदायिकता के कारकों को चिह्नित किया साथ ही प्रोफेसर गंगा प्रसाद मीणा ने आदिवासी विमर्श एवं हाशिए का समाज के संदर्भ में आदिवासी साहित्य के दर्शन, भाषा एवं सिद्धांतों पर अपना विचार व्यक्त किया।

उक्त संगोष्ठी में विभिन्न कॉलेजों से आए विद्वानों एवं शोधार्थियों ने अपने आलेख प्रस्तुत किए। परिसंवाद का संचालन डॉ. उषा दुबे तथा धन्यवाद ज्ञापन डॉ. विनीता जैन ने दिया।

प्रस्तुति- डॉ. उमेश चंद्र शुक्ल, मुंबई

स्मृति-शेष

हिंदी के सुप्रसिद्ध कथाकार एवं व्यंग्यकार रवीन्द्र कालिया,
कवि पंकज सिंह, गज़लकार निदा फ़ाज़ली एवं नृत्य शिल्पी
मृणालिनी साराभाई के पुण्य-प्रयाण पर...

श्रद्धावनत्
'मुक्तांचल परिवार'

कोलकाता के हिंदी पत्रिका-जगत में साहित्यिक पद्धति

कभी हिंदी पत्रकारिता के क्षेत्र में कलकत्ता अग्रणी माना जाता था। ढेरों पत्रिकाएँ लेखकों ने प्रकाशित कीं। लेकिन असमय ही उनका, आकस्मिक प्रकाशन बंद हो जाने से अधिकतर लेखकों की कलम रुक गयी। ये लेखक अपनी रचनाधर्मिता बंद कमरों में रहकर निबाहते रहे, बाहर छपने की कोशिश नहीं की। हुआ यह कि यहाँ अहिंदी प्रदेश होने के कारण भी बाहर हिंदी प्रदेशों में इनकी चर्चा खत्म होती गयी। फिर भी कुछ लेखक, कवि और आलोचक तो थे ही, साहित्य में अपनी पहचान राष्ट्रीय स्तर की पत्रिकाओं में छपकर बनाये रखने की कोशिश करते रहे। बाद में ये पत्रिकाएँ भी बंद हो गयीं। अब तो यहाँ से वैचारिक स्तर पर निकलने वाली पत्रिकाएँ 'वागर्थ', 'लहक', 'मुक्तांचल' रह गयीं। इनका प्रकाशन निरंतर हो रहा है।

'लहक' ने लेखकों के बीच में जहाँ पक्ष-विपक्ष के लिए संवाद की स्थिति पैदा की है, वहीं 'मुक्तांचल' में साहित्य के विभिन्न पक्षों का सार्थक पर्यवेक्षण, निरूपण हो रहा है। इसका श्रेय संपादक मंडली में शामिल लेखिकाओं को जाता है। सिद्धेश, कोलकाता

'मुक्तांचल' के 6वें अंक के लिये अजस्र धन्यवाद! प्रूफ की कोई गलती नहीं। एक पत्रिका आपकी है और साथ ही पड़ी है 'नव-तरंग'। 'दुनिया भर की गलतियाँ! कारण साफ है आपने मेहनत की है! उत्कृष्ट सामग्री भी है पुरानी हिंदी से लेकर उत्तर-आधुनिक काल की हिंदी का आस्वाद है। और धूमिल जी की याद! आपने मेरे विश्वविद्यालय के दिनों को फिर स्मृति पर ताजा कर दिया। अनेकशः धन्यवाद! जसबीर चावला, कोलकाता

'मुक्तांचल' का अक्टूबर-दिसम्बर अंक भी अपने पूर्ववर्ती प्रकाशनों की परंपरा का उत्कृष्टतम विकास है। भाषा, शब्द और उसकी सांस्कृतिक अवधारणाओं को अतीत से वर्तमान तक विश्लेषित करने वाले आलेख, समीक्षा समालोचना के क्षेत्र में मानक स्थापित करने वाले हैं। शोधार्थियों के लिए अछूते संदर्भ प्रदान करने वाले हैं। विद्वान प्रोफेसर डॉ. सूर्य प्रसाद दीक्षित ने 'अपभ्रंश' को परवर्ती हिंदी तक पहुँचने का भाषा वैज्ञानिक तथ्यों से युक्त तात्त्विक और प्रामाणिक आलेख दिया है। मैं अपभ्रंश को एक स्वतंत्र और पूर्ण वैज्ञानिक ऐतिहासिक भाषा मानता हूँ जिसका अपना व्याकरण था, अपना समृद्ध साहित्य था। वह उसी प्रकार मौलिक और स्वतंत्र भाषा थी जिस प्रकार संस्कृत और अन्य प्राचीन भाषाएँ। किंतु जन अभिरुचि से अलग होकर किन्हीं विशेष संप्रदायों की प्रवक्ता होकर उसका ह्रास हो गया। अनुशीलन और विमर्श स्तंभों में प्रस्तुत आलेख साहित्येतिहासिक संदर्भ प्रस्तुत करने वाले हैं। अतीत और वर्तमान के सेतु बने लेख, कहानियाँ, कविताएँ और अनुवाद उत्तम हैं। डॉ. सूर्यप्रसाद शुक्ल, कानपुर

‘मुक्तांचल’ अक्टूबर-दिसम्बर 2015, अंक-6 को आद्योपांत पढ़ गया। अंक अच्छा बन पड़ा है। धन्यवाद! प्रो. सूर्य प्रसाद दीक्षित का आलेख- ‘परवर्ती अपभ्रंश और पुरानी हिंदी’, डॉ. पाण्डेय शशिभूषण ‘शीतांशु’ का आलेख ‘बीसलदेव रासः आदिकाल का लोक काव्योद्भास’, डॉ. सरजू प्रसाद मिश्र का आलेख ‘आदिकाल और रासोकाव्य’ और प्रो. रवि श्रीवास्तव का आलेख ‘उत्तर आधुनिकता क्या है?’ आदि शोधपरक एवं संग्रहणीय हैं। वहीं, डॉ. अमीरचंद वैश्य का अनुशीलन आलेख ‘विजेन्द्र के काव्य नाटकों में प्रतिरोध-सौंदर्य’ और सुलेखा कुमारी का ‘अमीर खुसरो : आदिकाल के सामंजस्यवादी कवि’ खोजपूर्ण आलेख है। विमर्श में रमेश कुंतल मेघ का ‘मध्यकालः रिनांसाओं और विषमताओं का संकुल’ पठनीय और विचारणीय है। वहीं, गवेषणा में वीरेन्द्र सिंह का आलेख ‘हिंदी की जातीय साहित्य-परंपरा और भारतेंदु युग’ एवं अरुण प्रसाद रजक का ‘सिद्ध और नाथ साहित्य लोक सत्य है, शास्त्र सत्य नहीं’- शोधपरक एवं ज्ञानवर्धक है। अमरकांत की कहानी ‘डिप्टी कलकटरी’ कहानी पर डॉ. रामकिंकर पांडेय का विचार विचारणीय है।

कहानियों में सिद्धेश, डॉ. जसवीर चावला और सेराज खान ‘बातिश’ जीवन की सच्चाईयों से मुठभेड़ करते रहें। महेन्द्र गगन, श्री हर्ष, ओमप्रकाश अडिग, डॉ. सुवंश ठाकुर अकेला, और सुसंस्कृति परिहार की कविताएँ अच्छी हैं। सरगम के सुर साधे में रामदरश मिश्र की ‘नदी’ कविता प्रभावित करती है।

“हाँ, आज मैं नदी के साथ नहीं हूँ

लेकिन वह मेरा साथ है- भीतर, गहरे भीतर

मुझे भिगोती हुई।”

कुल मिलाकर अंक पठनीय एवं संग्रहणीय है। **कलाधर, पूर्णिया (बिहार)**

मैं भी कई लोगों की तरह ‘मुक्तांचल’ लगभग शुरू से ही देखता रहा हूँ और इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि इसमें हिंदी के आलोचना-संपृक्त-विद्वत्-समाज की लगातार उपस्थिति आलोचना या Criticality (आपको नहीं लगता कि ‘आलोचना’ शब्द बहुत घिस-घिसा दिया गया है?) के लिए एक सार्थक संकेत है क्योंकि घुमा फिराकर अब तो यह माना ही जाने लगा है कि हिंदी का ‘आलोचक’ नामक जीव एक संदेहास्पद प्राणी की तरह देखा जाने लगा है और साहित्य की लगभग सभी विधाओं के लेखकों की तुलना में ‘आलोचक’ कम विश्वसनीय होता गया है। कारणों की पड़ताल शुरू हो गयी है, यह एक शुभ संकेत है। अच्छा यह है कि आपकी पत्रिका में ‘पार्टनरों की पॉलिटिक्स’ नहीं है; कलकत्ते के बावजूद!

इस अंक में डॉ. रमेश कुंतल मेघ, धनंजय वर्मा, सूर्य प्रसाद दीक्षित, अमीर चंद वैश्य आदि का एक साथ उपस्थिति कम से कम यह अहसास कराती है। लेकिन चंद बातें मैं डॉ. मेघ में बारी में कहना चाहता हूँ!!

‘अथातो सौन्दर्य जिज्ञासा’ या ‘साक्षी है सौन्दर्य प्राश्निक’ जैसी हिंदी की सीमारेखा के बाहर की प्रतिभा वाले किताबों के इस लेखक का सबसे बड़ा योगदान यह माना जाना चाहिए कि उन्होंने ऐसे विषय चुने जिन पर हिंदी के कम आदमियों का ध्यान गया, या नहीं गया, या गया भी तो उस गंभीरता या तैयारी के साथ नहीं गया जिस तैयारी की माँग Criticality या रचना-विमर्श करता है। बहुत लोगों को तो उनकी किताबों के नामों से ही पसीना आने लगता है- और फिर सौन्दर्यशास्त्र जैसा विषय जिसकी सामग्री की जड़ें या तो हमेशा संस्कृत साहित्य की परंपराओं की उदात्तता या Sublimation में रही है, या फिर यूनान के प्राचीन साहित्य में। तो इस तरह की सामग्री का यानि Aesthetics का चयन करने वाला आदमी अगर उसे भुद्ध भारतीय-संदर्भों में समझबूझ रहा है और उसके अनुरूप भाषा में उसे साहित्य जगत् को दे रहा है तो उसकी भाषा पर टिप्पणी

ससम्मान होनी चाहिए! क्योंकि कई बार विषय अपनी भाषा अपने आप चुन लेता है; इसलिए आलोचकों में भी भाषा के स्तर अलग-अलग हैं, लेखकों में भी। एक ही समय में लिखने वाले दो लोगों की भाषा की निहायत अलग-प्रकृति से हम परिचित हैं। डॉ. मेघ की भाषा की गंभीरता को उनके विषय की गंभीरता से जोड़कर देखने से वह कुहरा साफ होगा जो उनकी भाषा को लेकर हिंदी के एक वर्ग पर छाया रहा है। फिर विषय की गंभीरता अपने आप उसे दार्शनिकता दे देती है। तो सौन्दर्यशास्त्र पर बात करते समय डॉ. मेघ अगर 'भीषण भाषा में दार्शनिकता' की बात करते हैं तो इसे अनायास नहीं मानना चाहिए।

मेरा यह निष्कर्ष उन पर काम करने के दौरान निकला है और आपकी पत्रिका के ताजा अंक (अक्टूबर-दिसम्बर 2015) में उनका लेख 'मध्यकाल: रिनांसाओं और विषमताओं का संकुल' पढ़कर मजबूत हुआ है। इसीलिए मैंने ये बातें आपसे बांटी और share किया।

प्रो. शशिभूषण द्विवेदी, सिलीगुड़ी, पश्चिम बंगाल

'मुक्तांचल' के संपादकीय परिवार एवं पाठकों के लिए मुझे यह सूचित करते हुए अत्यंत दुःख हो रहा है कि- "काव्यालोचक के लिए यह आवश्यक है कि वह सहृदय हो। सहृदय के लिए सिर्फ देखने वाली आँखें चाहिए, तटस्थ, निर्भय और निश्चल। साहित्य में स्मृति का बड़ा महत्त्व है और स्मृति के दो मान होते हैं। व्यक्ति-स्मृति और जातीय स्मृति। जैसे कि आप देखें भारतीय विश्वास के अनुसार मनुष्य तीन प्रकार के महत्त्वों को लेकर पैदा होता है। ये तीन महत्त्व हैं- देवऋण, ऋषिऋण और पितृऋण।" (पंचधारा: विमर्श- डॉ. ब्रह्मदेव मिश्र, पृ. 169)

ऐसा लिखने वाला प्रज्ञा पुरुष स्वनाम धन्य डॉ. ब्रह्मदेव मिश्र अब हमारे लिए स्मृति शेष हो गए। विगत वर्ष के 27 नवम्बर 2015 को हृयगति अवरुद्ध हो जाने के कारण 81 वर्ष की आयु में वे हमसे बिछड़ गए।

देवनाथ सिंह आनंद गौतम, मिर्जामुराद, वाराणसी

निश्चित रूप से ऐसी पत्रिका को ऊंचाई छूने में देर नहीं लगती, जहाँ उसकी उम्र कोई मायने नहीं रखती और वे सारी बातें जो एक पत्रिका के लिए जरूरी हैं, वे तमाम बातें इस नवोदित पत्रिका 'मुक्तांचल' में परिलक्षित होती हैं। अपनी प्रौढ़ रचनाशीलता के फलस्वरूप यह पत्रिका उस स्तर पर स्थापित हो चुकी है, जहाँ कुछ राष्ट्रीय स्तर की पत्रिकाएँ अपने आपको स्थापित मानती हैं। अपने अल्प वय में ही मुक्तांचल ने राष्ट्रीय स्तर पर अपनी धमक जमाई है; और अपनी शोहरत की डंका बजाई है। कोलकाता जैसी महानगरी से निकलकर देश के अन्य शहरों, कस्बों और जनपदों के सुधी पाठकों, रचनाकारों तथा विद्वतजनों से सीधे बात कर रही है। मुझे ऐसा कहने में कोई गुरेज नहीं कि मुक्तांचल अपने पाठकों की चहेती हो गयी है। जो अपनी लीक से हटकर कुछ कहने का साहस रखती है। आज की अन्य पत्रिकाओं से कुछ अलग उसकी दशा-दिशा है, जो पाठकीयता की दुनिया में एक अभिनव मुकाम पर स्थापित है।

पूर्णिया जनपद में जब से 'मुक्तांचल' ने दस्तक दी है, इसके चाहने वाले बहुत हो गये हैं और हाथों हाथ इसकी प्रतियाँ पाठक-वर्ग हुलस कर ले लेते हैं। मुक्तांचल के लिए प्यास और तीव्रतर हो जाती है, जब इससे हम लोग रू-ब-रू होते हैं। हमारे पूर्णिया जनपद के कुछेक रचनाकारों को आपने इसमें जगह भी दी है। निश्चित रूप से आप बधाई के पात्र हैं। पत्रिका की प्रति आपने मुझे भी प्रेषित की है, पर क्यों? मुझे मालूम नहीं। आपके लिए आभार के कुछ शब्द बड़ी विनम्रता के साथ प्रेषित करना चाहूँगा कि आपने साहित्यिक गतिविधियाँ स्तंभ में पूर्णिया पाठक मंच, पूर्णिया के तत्त्वाधान में आयोजित एक पुस्तक लोकार्पण के रपट को यथा स्थान दिया है। इसके लिए मैं आपका तहेदिल से शुक्रिया अदा करता हूँ। लगता है पत्र काफी लंबा हो गया है, जिसकी अपनी बाध्यता है। इसी तरह बेहतरीन अंक आप अपने पाठकों के बीच परोसते रहें। नववर्ष की अशेष शुभकामनाओं के साथ!

शिव नारायण शर्मा 'व्यथित', पूर्णिया, बिहार

पत्रिका बहुत प्रभावशाली रूप ले रही है और हिंदी की केंद्रीय पत्रिकाओं में अपनी उपस्थिति दर्ज करा रही है। बधाई!

डॉ. रामदरश मिश्र, दिल्ली

‘मुक्तांचल’ का अंक अक्टूबर-दिसम्बर 2015 मुझे मिल गया है। पत्र लिखने में विलंब हो गया है। क्षमा करेंगे। पत्रिका का बड़ा हिस्सा शोधार्थियों के लिए विशेष लगता है। आलेख में प्रो. श्रीवास्तव उत्तर आधुनिकता क्या है? अलग तरह का विशेष आलेख है। उन्हें बधाई। विमल जी की समीक्षा से बहुत कुछ सीखने को मिलता है लेकिन उनकी भाषा स्वरूप अभी पुराना है। अमरकांत पर डॉ. पाण्डेय का आलेख पठनीय है। ‘बच्चे की गेंद ने नाम लिये धरती आकाश’ सुसंस्कृति परिहार को बधाई। पेज 36-37 खाली, 40-41 खाली, 48-49 खाली इनके आलेख पढ़ना संभव नहीं हुआ। अधूरापन प्रेस की गड़बड़ी है। कुल मिलाकर अंक पठनीय है।

श्री हर्ष, बिकानेर

‘मुक्तांचल’ प्राप्ति स्थान

आनंद प्रकाशन : 176/178, रवीन्द्र सारणी, कोलकाता- 700007

मानव प्रकाशन : 131, चितरंजन एवेन्यू, कोलकाता- 700073

मोहन बुक एजेंसी : 2, डेकर्स लेन, कोलकाता-700069

ओम न्यूज एजेंसी : रंगमहल टाकीज के सामने, न्यू मार्केट भोपाल

श्री सुमन कुमार : प्रगतिशील पुस्तक भंडार, इलाहाबाद बैंक के सामने,
अशोक राजपथ, पटना-800004

पुस्तकालय : सेठ सूरजमल जालान पुस्तकालय (राम मंदिर), कोलकाता

हेम बुक सेंटर : जे.एन.यू. दिल्ली

मौर्या बुक स्टाल : लंका, वाराणसी

परिदृश्य प्रकाशन : 1, अनमोल बिल्डिंग, शोहराबजी, सांतुक लेन,
धोबी तालाब, मरीन लाइन, ईस्ट मुंबई- 400002

प्रभात बुक सेंटर : सी/207, शीतल स्टार, शीतल नगर, एम.टी.एन.एल के पीछे,
मीरा रोड (ईस्ट), मुंबई- 401107

ज्ञानदीप : नियर फिरालाल, एच.बी. रोड, राँची-834001

लालमणि साव बुक स्टॉल : आर. एन. साव चौक, पूर्णिया-854301

गोविंद न्यूज पेपर मार्केट : कैंट साइट, रेल बाजार, कानपुर-208004

श्याम सुंदर गुप्ता न्यूज पेपर मार्केट : कैंट साइट, (नियर रेलवे स्टेशन) कानपुर-208004

केंद्रीय हिंदी संस्थान
मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार

संपर्क: हिंदी संस्थान मार्ग, आगरा-282005, फोन: 0562-2530684, वेबसाइट: www.hindisansthan.org, www.khsindia.org

संक्षिप्त परिचय

केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार के शिक्षा विभाग द्वारा 1961 ई. में स्थापित एक स्वायत्त शैक्षिक संस्था है। इसका संचालन स्वायत्त संगठन केंद्रीय हिंदी शिक्षण मंडल द्वारा किया जाता है। संस्थान का मुख्यालय आगरा में स्थित है और इसके आठ क्षेत्रीय केंद्र: दिल्ली, हैदराबाद, गुवाहाटी, शिलांग, मैसूर, दीमापुर, भुवनेश्वर तथा अहमदाबाद में हैं।

संस्था के प्रमुख उद्देश्य-

■ भारतीय संविधान के अनुच्छेद 351 के अनुपालन में अखिल भारतीय भाषा के रूप में हिंदी का विकास करते हुए इसके विकास और प्रसार की दृष्टि से उपयोगी शैक्षणिक पाठ्यक्रमों की प्रस्तुति एवं संचालन ■ विभिन्न स्तरों पर गुणवत्तापूर्ण हिंदी शिक्षण का प्रसार, हिंदी शिक्षकों का प्रशिक्षण, हिंदी भाषा और साहित्य के उच्चतर अध्ययन का प्रबंधन, हिंदी के साथ विभिन्न भारतीय भाषाओं के तुलनात्मक भाषा वैज्ञानिक अध्ययन को प्रोत्साहन और हिंदी भाषा एवं शिक्षण से जुड़े विविध अनुसंधान कार्यों का आयोजन अपने विभिन्न पाठ्यक्रमों में अध्ययनरत विद्यार्थियों के लिए परीक्षा आयोजन तथा उपाधि वितरण ■ संस्थान की प्रकृति एवं उद्देश्यों के अनुरूप उन अन्य संस्थाओं के साथ जुड़ना या सदस्यता ग्रहण करना या सहयोग करना या सम्मिलित होना, जिनके उद्देश्य संस्थान के उद्देश्यों से मिलते-जुलते हों और इन समान उद्देश्यों वाले संस्थानों को संबद्धता प्रदान करना ■ समय-समय पर नियमानुसार अध्येतावृत्ति (फैलोशिप), छात्रवृत्ति और पुरस्कार, सम्मान पदक की स्थापना कर हिंदी से संबंधित कार्यों को प्रोत्साहन आदि।

संस्थान के कार्य-

● **शिक्षणपरक कार्यक्रम :** (i) विदेशी विद्यार्थियों के लिए हिंदी शिक्षण, (ii) हिंदीतर राज्यों के विद्यार्थियों के लिए अध्यापक प्रशिक्षण पाठ्यक्रम, (iii) नवीकरण एवं संवर्द्धनात्मक कार्यक्रम (iv) दूरस्थ शिक्षण कार्यक्रम (स्ववित्तपोषित), (v) जनसंचार एवं पत्रकारिता, अनुवाद अध्ययन और अनुप्रयुक्त हिंदी भाषाविज्ञान के सांध्यकालीन पाठ्यक्रम (स्ववित्तपोषित)

● **अनुसंधानपरक कार्यक्रम :** (i) हिंदी शिक्षण की अधुनातन प्रविधियों के विकास के लिए शोध, (ii) हिंदी भाषा और अन्य भाषाओं का तुलनात्मक व्यतिरेकी अध्ययन, (iii) हिंदी भाषा और साहित्य के क्षेत्र में आधारभूत एवं अनुप्रयुक्त अनुसंधान, (iv) हिंदी भाषा के आधुनिकीकरण और भाषा प्रौद्योगिकी के विकास के उद्देश्य से अनुसंधान, (v) हिंदी का समाज भाषा वैज्ञानिक सर्वेक्षण और अध्ययन, (vi) प्रयोजनमूलक हिंदी से संबंधित शोधकार्य। अनुसंधानपरक कार्यों के दौरान द्वितीय भाषा एवं विदेशी भाषा के रूप में हिंदी शिक्षण के लिए उपयोगी शिक्षण सामग्री का निर्माण।

● **शिक्षण सामग्री निर्माण और भाषा विकास :** (i) हिंदीतर राज्यों और जनजाति क्षेत्र के विद्यालयों के लिए हिंदी शिक्षण सामग्री निर्माण, (ii) हिंदीतर राज्यों के लिए हिंदी का व्यतिरेकी व्याकरण एवं द्विभाषी अध्येता कोशों का निर्माण, (iii) विदेशी भाषा के रूप में हिंदी शिक्षण पाठ्यपुस्तकों का निर्माण, (iv) कंप्यूटर साधित हिंदी भाषा शिक्षण सामग्री का निर्माण, (v) दृश्य-श्रव्य माध्यमों से हिंदी शिक्षण संबंधी पाठ्यसामग्री का निर्माण, (vi) हिंदी तथा हिंदीतर भारतीय भाषाओं में द्विभाषी/त्रिभाषी शब्दकोशों का निर्माण।

संस्थान के प्रकाशन : हिंदी भाषा एवं साहित्य, भाषाविज्ञान, अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान, तुलनात्मक एवं व्यतिरेकी अध्ययन, भाषा एवं साहित्य शिक्षण, कोश विज्ञान आदि से संबद्ध विभिन्न विषयों पर उपयोगी पुस्तकों का प्रकाशन। अब तक 150 से अधिक पुस्तकें प्रकाशित। विभिन्न स्तरों एवं अनेक प्रयोजनों की पाठ्यपुस्तकों, सहायक सामग्री तथा अध्यापक निर्देशिकाओं का प्रकाशन। त्रैमासिक पत्रिका- 'गवेषणा', 'मीडिया' और 'समन्वय पूर्वोत्तर' का प्रकाशन।

पुस्तकालय : भाषाविज्ञान, अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान, भाषा शिक्षण और हिंदी साहित्य के विभिन्न विषयों की पुस्तकों के विशेषीकृत संग्रह की दृष्टि से हिंदी के सर्वश्रेष्ठ पुस्तकालयों में से एक। लगभग एक लाख पुस्तकें। लगभग 75 पत्र-पत्रिकाएँ (शोधपरक एवं अन्य)।

संस्थान से संबद्ध प्रशिक्षण महाविद्यालय : हिंदी शिक्षण-प्रशिक्षण के स्तर को समुन्नत करने तथा पाठ्यक्रम में एकरूपता लाने के उद्देश्य से उत्तर गुवाहाटी (असम), आइजोल (मिजोरम), मैसूर (कर्नाटक), दीमापुर (नागालैंड) के राजकीय हिंदी शिक्षक-प्रशिक्षण महाविद्यालयों को संस्थान से संबद्ध किया गया है।

योजनाएँ : ■ भारतीय सांस्कृतिक केंद्र, कोलंबो में सिंहली विद्यार्थियों के लिए केंद्रीय हिंदी संस्थान के पाठ्यक्रम की 2007-08 से शुरुआत ■ अफगानिस्तान के नान्गरहर विश्वविद्यालय (जलालाबाद) में संस्थान द्वारा निर्मित बी.ए. का पाठ्यक्रम 2007-08 से प्रारंभ ■ विश्व के कई अन्य देशों (चेक, स्लोवानिया, यू.एस.ए., यू.के., मॉरिशस, बेल्जियम, रूस आदि) के साथ शैक्षणिक सहयोग और हिंदी पाठ्यक्रम संचालन के संबंध में संवाद जारी ■ हिंदी के बहुआयामी संवर्धन के लिए हिंदी कॉर्पोरा परियोजना, हिंदी लोक शब्दकोश परियोजना, भाषा-साहित्य सीडी निर्माण परियोजना, पूर्वोत्तर लोक साहित्य परियोजना तथा लघु हिंदी विश्वकोश परियोजना पर कार्य।

-डॉ. कमल किशोर गोयनका

उपाध्यक्ष, के.हि.शि.म.

ई-मेल : kkgoynanka@gmail.com

-प्रो. नन्द किशोर पाण्डेय

निदेशक

ई-मेल : nkpandey65@gmail.com

directorofkhs@yahoo.co.in

इस पार तक...

अनामिका



कूड़े में पन्नियाँ

इच्छाओं के ट्रैफिक जाम में फँसे-फँसे
जब पूरा जीवन ही बीत गया,
मैं बस कूद गई
और जनसमुद्र में गोते लगाती
निकल गई दूसरी सड़क पर!
हड़बड़ में बस के ही पायदान पर छूटी गठरी
मेरे वजूद की!
डँगलियों से मैंने बालों की गाँठें निकालीं
और बाँध लिया
इखरी-बिखरी यादों का जूड़ा
नाई की दुकान में लटका चाँद देखकर!
फिर कस लिया फेंटा!
कोई सामान नहीं था लेकिन काम बहुत था-
परसों ही कोई विस्फोट हुआ था यहाँ!
मलबा-ही-मलबा फैला था

भीतर-बाहर, बाहर-भीतर, सफ़ाई ज़रूरी
थी!
अच्छा है, छूट गई पीछे ही बोरी
मेरे वजूद की!
दुनिया की हर बोरी की तरह
छोटी पड़ जाती यह भी!
कहाँ-कहाँ से चुनूँ!
संसद-कचहरी-मन्दिर का ओसारा,
मस्जिद या गुरुद्वारा-
कहाँ से करूँ मैं शुरू!
हर तरफ चिनगियाँ हैं, चिरायें ध हैं,
पर हौसला है अनंत!
पुच्छल तारे से झाड़ू माँग ली है
और बुहार कायनात
रख लिया है
इसी टोकरी में दिगन्त!

(टोकरी में दिगन्त, 2015)

